उपर्युक्त असाक्षात् या आनुषङ्गिक कारणों और साक्षात् कारणों के परस्पर संबन्ध को समझना एक भाषा-विज्ञानी के लिये बड़ा आवश्यक है। सब भाषायें परिवर्तन-शील हैं; परन्तु किस भाषा का किस समय तथा देश में कैसा परिवर्तन होगा इसका नियन्त्रण या नियमन इन्हीं कारणों से होता है। यही कारण है कि एक भाषा के इतिहास में एक काल में पाया जानेवाला एक वर्ण-विकार-संबन्धी नियम दूसरे काल में नहीं काम करता। यही कारण है कि एक प्रकार का परिवर्तन-संबन्धी नियम एक जाति की भाषा में पाया जाता है, दूसरी जाति की भाषा में नहीं। इन्हीं कारणों से ऐसा देखा जाता है कि संस्कृत में शब्दों के अन्त में विराम में 'क्', 'ट्', 'त्' (जैसे—'ऊर्ज्' (= बल) शब्द से प्रथमा एकवचन में 'ऊर्क्'; 'मृज्' धातु से लङ् प्रथमपुरुष एकवचन में 'अमार्ट्'; तथा 'सुहार्द्' शब्द से प्रथमा एकवचन में 'सुहार्त्') को छोड़कर दो व्यञ्जन नहीं आ सकते; प्राचीन ग्रीक भाषा में n, s, r को और दो उपसर्गों के अन्त में आने वाले k को छोड़कर कोई और व्यञ्जन शब्दों के अन्त में नहीं आ सकता। इटैलियन भाषा के शब्दों के अन्त में व्यञ्जन आ ही नहीं सकता।

उपर्युक्त कारणों से भाषा-परिवर्तन-संबन्धी किसी भी नियम के साथ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि वह नियम किस देश तथा काल की किस विशिष्ट भाषा के लिये है।

(२) भाषा के अन्तरणीय या बाह्य रूप में परिवर्तन के साक्षात् कारण मुख्यतया दो हैं :—(क) प्रयत्न की शिथिलता या उच्चारण के लिये अपेक्षित प्रयत्न की परिमितता, और (ख) शब्दों की रचना में सादृश्य (या मिथ्या-सादृश्य)। इन दोनों कारणों की कुछ विशेष व्याख्या की आवश्यकता है।

(क) **प्रयत्न की शिथिलता।** यह स्पष्ट है कि किसी भी शब्द के उच्चारण करने में कुछ न कुछ श्रम या प्रयत्न करना पड़ता है। आगे दिखलाई हुई वर्णों के उच्चारण की प्रक्रिया को ध्यान में लाने से यह स्पष्ट हो जायगा कि एक एक वर्ण के उच्चारण के लिये जिह्वा आदि को कितनी कुशलता से काम करना पड़ता है। इस कुश-लता की और भी अधिक आवश्यकता होती है जब भिन्न भिन्न प्रकार से उच्चरित, विशेषकर भिन्न भिन्न स्थानों वाले, वर्णों से बने हुए किसी शब्द का उच्चारण करना होता है। साथ ही, मनुष्य ही क्या, प्राणिमात्र के स्वभाव में यह है कि वह सदा अपने श्रम का परिमित व्यय करना चाहता है। तो भी भाषा का मुख्य प्रयोजन विचारों का परस्पर परिवर्तन है। इसलिये श्रम या प्रयत्न के परिमित व्यय के कारण भाषा में जो परिवर्तन होते हैं वे इतनी अधिक मात्रा में नहीं होने पाते कि उपर्युक्त प्रयोजन की पूर्ति में बाधा पड़ सके। भिन्न भिन्न भाषाओं में जो वर्ण-विकार-संबन्धी नियम पाये जाते हैं उनका मूल-कारण वस्तुतः यही है।

तुलनात्मक भाषा-शास्त्र

अथवा

भाषा-विज्ञान

अर्थात्

तुलनात्मक भाषा-शास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन तथा संसार की भिन्न भिन्न भाषाओं के परस्पर सम्बन्ध की सरल और सुबोध व्याख्या

लेखक—

डाक्टर मङ्गलदेव शास्त्री

एम. ए., एम. ओ. एल. (पंजाब), डी. फ़िल.(ऑक्सफ़र्ड);

प्रिंसिपल, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस;

सुपरिन्टेन्डेन्ट ऑफ़ संस्कृत स्टडीज़, संयुक्तप्रान्त;

तथा

रजिस्ट्रार, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज

ऍग्ज़ामिनेशन्स, संयुक्तप्रान्त, बनारस

द्वितीय बार १,००० | सन् १९४० | मूल्य २॥।=)

(ख) सादृश्य या मिथ्या-सादृश्य। प्रयत्न की शिथिलता या उच्चारण के लिये अपेक्षित प्रयत्न की परिमितता के कारण शब्दों में जो परिवर्तन होते हैं वे वर्ण-विज्ञान के द्वारा समझाये जा सकते हैं। किसी शब्द से, उपर्युक्त कारण से, परिवर्तित होकर दूसरा शब्द कैसे बन गया—यह वर्ण-विज्ञान-मूलक वर्ण-विकार-संबन्धी नियमों के द्वारा समझाया जा सकता है। ऐसी जगह परिवर्तित रूप का अपरिवर्तित रूप के साथ उच्चारण-मूलक संबन्ध थोड़ा-बहुत स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। उदाहरणार्थ, 'मेघ','शोभन', 'काक', 'सौभाग्य' इन शब्दों के साथ इनसे बने हुए क्रम से 'मेह', 'सोहन', 'काग', 'सोहाग' इन शब्दों का संबन्ध वर्ण-विज्ञान के द्वारा सहज में ही समझा जा सकता है। परन्तु शब्दों में कुछ ऐसे परिवर्तन भी होते हैं जो उपर्युक्त प्रकार से नहीं समझे जा सकते, न वे किसी वर्ण-विकार-संबन्धी नियम के अन्दर ही आ सकते हैं। उदाहरणार्थ, 'करिन्' शब्द से तृतीया के एकवचन में 'करिणा' (=करिन्+ा) बनना, या 'कर्मन्' शब्द से प्रथमा या द्वितीया के बहुवचन में 'कर्माणि' बनना समझ में आ सकता है; परन्तु 'हरि' तथा 'गृह' शब्द से, जिनमें 'न्' है ही नहीं, 'हरिणा' और 'गृहाणि' का बनना उस प्रकार समझ में नहीं आता। 'हरिणा' और 'गृहाणि' जैसे शब्दों के विषय में यही कहा जा सकता है कि 'करिणा' और 'कर्माणि' जैसे शब्दों के साथ

सादृश्य ही इन रूपों का कारण है। बच्चों की भाषा में इस प्रकार सादृश्य से बने हुए अनेक शब्द देखे जाते हैं। 'सादृश्य' को कोई कोई 'मिथ्या-सादृश्य' भी कहते हैं। परन्तु यहाँ पर स्मरण रखना चाहिये कि सादृश्य या मिथ्या-सादृश्य से प्रायः शब्दों के वर्ण-संबन्धी परिवर्तनों पर इतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना विभक्ति आदि की रचना पर पड़ता है।

समर्पण

हिन्दी को

संसार की सर्वोन्नत भाषाओं की

श्रेणि में लाने का

प्रयत्न करने वालों की

सेवा में

लेखक

छठा परिच्छेद

भाषा-विज्ञान की प्रक्रिया

१—तुलनात्मक और ऐतिहासिक प्रक्रिया

विशेष ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। सामान्य ज्ञान से विज्ञान को भिन्न करने वाला मुख्य गुण उसका तुलनात्मक होना है, यह हम ऊपर कह चुके हैं। वस्तुतः तुलनात्मक प्रक्रिया ही किसी विज्ञान की प्राण हो सकती है। किसी पदार्थ की तत्संबन्धी दूसरे पदार्थों के साथ तुलना किये विना हम उसके स्वरूप को ठीक ठीक नहीं समझ सकते। किसी विषय से संबन्ध रखने वाले सिद्धान्तों या नियमों की खोज तो तुलना के विना हो ही नहीं सकती। उन सिद्धान्तों या नियमों की सचाई की परीक्षा भी तुलना के द्वारा ही हो सकती है।

तुलना सम-कालीन पदार्थों के साथ तो होती ही है, परन्तु अनेक विषयों में उसकी गति अतीत या ऐतिहासिक पदार्थों तक भी हो सकती है। ऐतिहासिक पदार्थों के साथ तुलना करने को ही किसी विज्ञान में ऐतिहासिक

प्राक्कथन

चिरकाल से मेरी यह धारणा रही है कि अपनी मातृ-भाषा की उन्नति किये विना जातीय दुरवस्था का सुधार नहीं हो सकता। मातृभाषा को अपनाये विना साधारण जनता और शिक्षितों के बीच में जो बड़ी खाई पाई जाती है वह दूर नहीं हो सकती, और इसके विना समता और जातीयता के भावों का संचार असंभव है। इंग्लैण्ड आदि उन्नतिशील देशों के निवास और भ्रमण से मेरी उक्त धारणा में और भी दृढ़ता आ गई। अपनी अपनी मातृभाषा के अपनाने से ही उन उन देशों में पुरोहिताई, ज़मीन्दारी, वाणिज्य आदि से आजीविका करने वाले समाज के स्व-स्व-अर्थ-निष्ठ तथा संकीर्णचित्त भिन्न भिन्न वर्गों में एकजातीयता तथा समता के भावों का संचार हो सकने से, आधुनिक जातीय अभ्यु-त्थान का मनोरम दृश्य दिखलाई दे रहा है।

मातृभाषा की उन्नति का एक मुख्य उपाय यह है कि उसके भण्डार की, दूसरी भाषाओं के ग्रन्थरत्नों के अनुवाद से तथा दूसरे देशों से सीखी हुई विद्याओं के ऊपर स्वतन्त्र ग्रन्थों को लिखकर, पूर्त्ति तथा वृद्धि की जावे। जापान आदि देशों के शिक्षित लोग ऐसा करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

प्रक्रिया कहते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वास्तव में ऐतिहासिक प्रक्रिया तुलनात्मक प्रक्रिया का ही एक विशेष रूप है।

भाषा-विज्ञान के एक विज्ञान होने से उसकी प्रक्रिया भी तुलनात्मक होनी चाहिये। भाषा के परिवर्तन-शील होने से भाषा का इतिहास हो सकता है; इसलिये यहाँ तुलनात्मक प्रक्रिया में ऐतिहासिक प्रक्रिया भी अवश्य सम्मिलित समझनी चाहिये।

ऐतिहासिक प्रक्रिया। भाषा-विज्ञान में ऐतिहासिक प्रक्रिया की बड़ी आवश्यकता है। भाषा-विज्ञानी का उद्देश्य केवल यही नहीं होता कि वह भाषा-विज्ञानी के प्रमेयभूत शब्दों के रूपों को तथा उनके नियमों और प्रयोग को ऊपरी दृष्टि से समझे और समझावे। यह काम तो एक वैयाकरण या कुछ अंश तक एक शब्द-कोश-कार का होता है। भाषा-विज्ञानी शब्दों के रूप आदि के 'क्यों' या कारण की खोज करना चाहता है। भाषा परिवर्तन-शील है, यह ऊपर दिखलाया जा चुका है। कोई भाषा—आधुनिक या प्राचीन—और उसके शब्द सदा से एक रूप में नहीं हैं। रूप और अर्थ में भेद होकर किसी पूर्ववर्ती अवस्था से ही ये आधुनिक अवस्था को प्राप्त हुए हैं। सभ्यता के साथ साथ उन्नति करने वाली मनुष्य-जाति की दूसरी संस्थाओं या कृतियों की तरह प्रत्येक भाषा भी बदलती हुई आधुनिक स्वरूप को प्राप्त हुई है। इसलिये तद्विषयक परीक्षा और खोज में ऐतिहासिक

परन्तु दुःख की बात है कि हम भारतीयों में इस बात की अभी बहुत कमी है। भारत की राष्ट्रभाषा होने का स्वप्न देखने वाली हिन्दी के बोलने वाले तो इसमें बहुत ही पीछे हैं।

ऐसे ही विचारों से प्रेरित होकर १६२२ ई० के अन्त में विदेश से लौटने पर हिन्दी में एक ऐसी ग्रन्थमाला के निकालने का मेरा विचार था जिसके लिये अपने अपने विषय में परिनिष्ठित विद्वानों के द्वारा ग्रन्थों को लिखवाया जावे। इंग्लैएड, जर्मनी आदि से लौटे हुए तथा और भी अनेक विद्वान् मित्रों ने ग्रन्थ लिखने का वचन भी दिया था। अनेक कारणों से यह विचार अभी तक फलीभूत न हो सका। तो भी इस पुस्तक का आरम्भ उपर्युक्त विचारों को ही सम्मुख रखकर किया गया था। पुस्तक १६२४ के आरम्भ में ही लगभग समाप्त हो चुकी थी तो भी अनेक कारणों से इसके प्रकाशित होने में इतनी देर लगी।

जहाँ तक मुझको मालूम है, हिन्दी में इस नये विषय पर यही पहिली पुस्तक है। हिन्दी आदि भाषाओं के ऊपर पुस्तकें अवश्य हैं; परन्तु इसका विषय उनसे अधिक विस्तृत है। इसके लिखने में मुझे कहाँ तक सफलता हुई है, इसका निर्णय मैं विचारशील साधुस्वभाव पाठकों पर ही छोड़ता हूँ। उनसे आशा है कि वे पुस्तक-विषयक अपने अपने प्रस्तावों से समय समय पर सूचित कर मुझको अनुगृहीत करते रहेंगे, जिससे भविष्य में उनसे लाभ उठाया जा सके।

प्रक्रिया का आश्रय आवश्यक है। भाषा-विज्ञानी की चेष्टा यही होती है कि वह भाषा के स्वरूप और स्वभाव को समझने के लिये उसके पिछले इतिहास की खोज करे। ऐतिहासिक अवस्थाओं की खोज द्वारा वह भाषा के आधुनिक स्वरूप को तथा उसके प्रारम्भ होने के प्रकार को भी समझने का यत्न करता है।

भाषा के सामान्य और विशेष रूप दोनों को समझने के लिये ऐतिहासिक प्रक्रिया अपरिहार्य है। सामान्य रूप से भाषा के स्वभाव और स्वरूप को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम उसकी भिन्न भिन्न ऐतिहासिक अवस्थाओं को जानें; उसके आधुनिक और अतीत परिवर्तनों को देखकर उसके परिवर्त्तन में कौन कौन से नियम काम करते हैं उनको समझें; और इस प्रकार ऐतिहासिक अवस्थाओं की खोज द्वारा उसके आधुनिक स्वरूप को तथा यथा-संभव उसके प्रारम्भ के प्रकार को समझ सकें। इसी तरह किसी भाषा के स्वरूप को विशेष प्रकार से समझने के लिये भी ऐतिहासिक खोज की बड़ी आवश्यकता है। उदाहरणार्थ, शब्दों की रचना को समझने के लिये उनकी व्युत्पत्ति को जानना भाषा-विज्ञान का एक मुख्य भाग है। और शब्दों की व्युत्पत्ति को जानना दूसरे शब्दों में उनके इतिहास और वंशावली का जानना ही है। इसी प्रकार भाषा-विज्ञान के दूसरे भागों में भी ऐतिहासिक प्रक्रिया के अवलम्बन के विना हमारा काम नहीं चल सकता।

पुस्तक की भाषा में कठिन संस्कृत शब्दों का यथासंभव कम प्रयोग किया गया है। तो भी पारिभाषिक शब्दों के लिये संस्कृत का आश्रय अवश्य ही लिया है। हिन्दी में अभी तक इस विषय के नये होने से उचित समझकर पुस्तक के अन्त में पारिभाषिक तथा अन्य उपयोगी हिन्दी शब्दों के अंग्रेज़ी पर्याय भी दे दिये गये हैं।

अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में जो पुस्तकें इस विषय पर हैं उनमें प्रायः उदाहरण ग्रीक, लैटिन आदि यूरोपीय भाषाओं से ही दिये जाते हैं, जिनको समझना सामान्यतः भारतीय विद्यार्थियों के लिये कठिन होता है। परन्तु इस पुस्तक में भाषा-विज्ञान-विषयक सिद्धान्तों को यथा-संभव भारतीय भाषाओं के उदाहरणों के द्वारा ही समझाने की चेष्टा की है। इसलिये आशा है यह पुस्तक इस विषय के अंग्रेज़ी जानने वाले विद्यार्थियों के लिये भी उपयोगी होगी।

इसके लिखने में मैंने जो सहायता इस विषय के अनेक नवीन तथा प्राचीन लेखकों से ली है उसके लिये मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। परन्तु सबसे बड़ी सहायता इस विषय के अपने आदरणीय गुरु प्रोफ़ेसर A. C. Woolner, M. A., प्रिंसिपल, ओरिएण्टल कालेज, लाहौर, तथा ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी में भाषा-विज्ञान के अध्यापक प्रोफ़ेसर J. Wright, PH. D., D. C. L., LL. D., etc. के व्याख्यानों तथा नोटों से ली गई है। उनको जितना भी धन्यवाद दिया जावे थोड़ा है।

तुलनात्मक प्रक्रिया । ऐतिहासिक प्रक्रिया के समान ही साधारण तुलनात्मक प्रक्रिया का अवलम्बन भी भाषा-विज्ञान में कम आवश्यक नहीं है। सामान्यतया भाषा के स्वरूप को समझने के लिये तथा भाषा-विषयक सामान्य सिद्धान्तों के निश्चय करने के लिये तो यह आवश्यक ही है कि हम भिन्न भिन्न परिवारों की भाषाओं की तुलना करें। परन्तु किसी भाषा के विशेष स्वरूप को समझने के लिये और उसके नियमों का पता लगाने के लिये भी तुलनात्मक प्रक्रिया की परम आवश्यकता है। उदाहरणार्थ, शब्दों की व्युत्पत्ति के विषय में ही उसका ठीक ठीक अनुसन्धान करने के लिये आज-कल स्व-संबन्धी भाषाओं में एक शब्द के भिन्न भिन्न रूपों की तुलना का ही बड़ा सहारा लिया जाता है। और यह युक्ति-युक्त भी है। परस्पर संबन्ध रखने वाली भाषाओं में यह प्रायः देखा जाता है कि वस्तुतः एक ही शब्द भिन्न भिन्न रूपों में पाया जाता है। एक ही मूल-शब्द का कुछ भाग एक भाषा में, कुछ दूसरी में, और कुछ दोनों में समान रीति से पाया जाता है। कुछ भाग दोनों में बहुत कुछ परिवर्तित रूप में मिलता है। किसी भाषा में उसी शब्द का कुछ भाग, जो दूसरी भाषा में या तो बिलकुल दूर हो चुका है या अत्यन्त बदल गया है, बिल्कुल अपरिवर्तित रूप में जैसे का तैसा सुरक्षित होता है। इस प्रकार भिन्न भिन्न भाषाओं की सहायता से किसी आधुनिक शब्द की व्युत्पत्ति के पता

अन्त में इतना और कहना है कि इस पुस्तक में भाषा-विज्ञान-विषयक प्रचलित सिद्धान्तों के दिखलाने की ही चेष्टा की है। इसलिये भिन्न भिन्न प्रसङ्गों में जो समालोचना आदि दिखलाई है वह उन्हीं सिद्धान्तों की दृष्टि से की गई समझनी चाहिये। ग्रन्थकार का अपना मत भी वैसा ही हो यह सर्वत्र आवश्यक नहीं है।

सरस्वती भवन,
बनारस
४।१२।१९२५

मङ्गलदेव शास्त्री

लगाने में बड़ी सहायता मिल सकती है। प्रत्येक भाषा में ऐसे अनेक शब्द हैं जिनकी ठीक ठीक व्युत्पत्ति करना बड़ा कठिन है; और इसके लिये जितनी भी सहायता मिल सके अच्छी है। तुलनात्मक प्रक्रिया के अवलम्बन से जो कुछ अस्पष्टता किसी भाषा-परिवार की एक भाषा के शब्दों के व्युत्पत्ति-विषयक अनुसन्धान में हो सकती है वह स्वसंबन्धी दूसरी भाषाओं की तुलना से थोड़ी-बहुत दूर हो जाती है। भाषा-विज्ञान के दूसरे अङ्गों के विषय में अनुसंधान में भी इसी प्रकार तुलनात्मक प्रक्रिया की उपयोगिता हो सकती है।

२—भाषा-विज्ञान के भिन्न भिन्न अङ्गों का अध्ययन

संसार की भाषायें अपने स्थानीय और प्रान्तीय भेदों को मिलाकर असंख्य हैं। साथ ही मनुष्य की शक्ति भी परिमित है। उसके लिये एक भाषा को भी उसके समस्त भेदों के सहित ठीक ठीक जानना लगभग असंभव है। ऐसी दशा में भाषा-विज्ञान के भिन्न भिन्न अङ्गों के अध्ययन के लिये यदि यथोचित प्रक्रिया का अवलम्बन न किया जाय तो किसी का भाषा-विज्ञानी बनना असंभव ही है। इसलिये भाषा-विज्ञान के भिन्न भिन्न अङ्गों का अध्ययन किस तरह से करना चाहिये इसपर थोड़ा-सा विचार आवश्यक है।

द्वितीय संस्करण की भूमिका

पुस्तक का प्रथम संस्करण कई वर्षों से पूर्व ही समाप्त हो चुका था। पर कार्यान्तरों से अवकाश न मिलने से, अनेक मित्रों की अत्यधिक प्रेरणा होने पर भी, द्वितीय संस्करण के निकलने में इतनी देर हो गई। इस संस्करण में, कहीं कहीं नये उपयोगी विषयों के सन्निवेश के कारण, पुस्तक का परिमाण कुछ बढ़ गया है; परन्तु इस की मुख्य विशेषता संस्कृत के प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर तुलनात्मक दृष्टि से दी गई अनेक उपयोगी पादटिप्पणियों में है।

पुस्तक के यथासंभव शुद्ध छापने में जो विशेष सहयोग इंडियन प्रेस लिमिटेड, बनारस-ब्रांच, के मैनेजर श्री अपूर्वकृष्ण वसु से प्राप्त हुआ है उसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं।

सरस्वती भवन,
बनारस
३०।८।१९४०

मङ्गलदेव शास्त्री

भाषा के संबन्ध में सबसे पहिले हमें वे बातें जाननी चाहियें जो उसको अव्यक्त तथा अवर्णात्मक ध्वनियों से भिन्न करती हैं। इस उद्देश्य से यह जानना आवश्यक है कि वर्णात्मक शब्दों का उच्चारण कैसे होता है? ऐसे शब्दों को दूसरा मनुष्य ग्रहण या श्रवण कैसे कर लेता है? भाषा के उच्चारण और श्रवण में शारीरिक यत्न के साथ साथ वक्ता और श्रोता के मानसिक व्यापार क्या क्या होते हैं? इन बातों को ठीक ठीक समझने की सबसे अच्छी और सरल रीति यही है कि विद्यार्थी इन बातों को उस भाषा के आधार पर जानने का यत्न करे जिससे वह बहुत अच्छी तरह परिचित है।

भाषा-संबन्धी साधारण सिद्धान्तों के समझने का सबसे अच्छा प्रकार यह है कि हम, भिन्न भिन्न भाषा-परिवारों से संबन्ध रखने वाली भिन्न भिन्न भाषाओं के स्थान में, कुछ थोड़ी सी एक ही भाषा-परिवार से संबन्ध रखने वाली भाषाओं को आदर्श मानकर उनके प्रमेयों (शब्दों आदि) का विश्लेषण और परस्पर तुलना के द्वारा अध्ययन करें। इस प्रकार मालूम किये गये साधारण सिद्धान्त, संभव है, पीछे से अन्य परिवारों से संबंध रखने वाली भाषाओं के अध्ययन से कुछ अंशों में बदलने पड़ें। क्योंकि संभव है किसी एक ही भाषा-परिवार की कुछ भाषाओं के अध्ययन से जाने गये सिद्धान्त उसी भाषा-परिवार की विशेषता हों और दूसरे परिवारों की भाषाओं में वे सिद्धान्त या नियम न पाये

जावें। इस प्रकार की भूलों का संशोधन दूसरे भाषा-परिवारों के विद्वानों के द्वारा ही हो सकता है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान में शब्दों आदि की तुलना का क्षेत्र प्रारम्भ में संकुचित होने पर भी अन्त में अति विस्तृत हो जाता है। केवल संकुचित तुलना से जो हानि हो सकती है उसका विचार हम आगे (अधि० ४) चलकर इसी परिच्छेद में करेंगे।

भाषा की रचना के अध्ययन की सबसे अच्छी रीति यही है कि पहिले-पहिल किन्हीं परिचित और परस्पर संबन्धी भाषाओं के वर्ग की रचना के नियमों को समझा जावे। इस प्रकार जो सिद्धान्त स्थिर किये जावें उनकी पीछे से अन्य भाषाओं की रचना के नियमों के साथ तुलना करनी चाहिये।

किसी भाषा या भाषा-वर्ग के इतिहास की खोज का यही उपाय है कि (१) उस भाषा या भाषा-वर्ग के भिन्न भिन्न समयों के प्राचीन लेखों की परस्पर तथा उसके वर्तमान स्वरूप से तुलना की जावे; (२) उसके स्थानीय और प्रान्तीय सारे वर्तमान भेदों की परस्पर तुलना की जावे; (३) और अन्त में, उसकी तुलना अपने से घनिष्ठ संबन्ध रखने वाली दूसरी भाषाओं के साथ की जावे।

भाषाओं के वर्गीकरण के लिये हमें तुलना-पूर्वक उनकी समानताओं और विशेषताओं का पता लगाना होता है। इसके लिये हमें उनके ऐतिहासिक संबन्ध पर भी ध्यान देना चाहिये। इसमें यथा-संभव उपर्युक्त प्राचीन लेखों की सहा-

विषय-सूची

पहिला परिच्छेद

'विषयावतरण'

दूसरा परिच्छेद

'भाषा' शब्द के अनेक अर्थ

यता के साथ साथ इतिहास का साक्ष्य भी बड़ा साधक होता है।

३—भाषाओं की तुलना की रीति

ऊपर भाषाओं की तुलना करने का कई जगह उल्लेख आया है। इसलिये तुलना करने के विशेष नियमों को जानना आवश्यक है। उलटी रीति से तुलना करने से हम सत्य परिणाम तक कभी नहीं पहुँच सकते। विशेष नियम नीचे दिये जाते हैं :—

(१) भाषाओं की तुलना करने में हमें सबसे प्रथम उनके व्याकरण की तुलना करनी चाहिये; इकेले शब्दों की नहीं। इसका कारण स्पष्ट है। भाषाओं की समानता और विशेषता का मुख्य आधार, स्वतन्त्र शब्द नहीं, किन्तु वाक्य होता है। व्याकरण का काम भी वाक्यान्तर्गत शब्दों के परस्पर संबन्ध से होता है। वाक्यरचना आदि की चर्चा भी व्याकरण में ही सम्मिलित समझनी चाहिये। इस नियम को न पालकर, इकेले शब्दों की तुलना करने से प्राय: धोखा होता है। ऐसी भाषाओं में भी जिनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं दो चार शब्द ऐसे पाये जाते हैं जो सुनने में और अर्थ में भी समानता रखते हैं। उदाहरणार्थ, हम्बोल्ट (Humboldt)[१] नामक

---

१ देखो Humboldt's "Travels", अंग्रेज़ी अनु०, १, पृ० ३२१

तीसरा परिच्छेद

भाषा का स्वरूप

विद्वान् ने अपनी यात्रा के वर्णन में लिखा है कि क्विचुआ (Quichua or dialect of the Incas) नामक भाषा में, जिसका भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार से कोई संबन्ध नहीं, inti (इन्ति = सूर्य), munay (मुनय् = प्रेम), और veypul (वेपुल् = बड़ा) ये तीन शब्द ऐसे पाये जाते हैं जो संस्कृत, 'इन्द्र', 'मन्यु', और 'विपुल' इन शब्दों से मिलते-जुलते हैं। इसी नियम को ध्यान में न रखने का यह फल था कि अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में ग्रीक और लैटिन भाषाओं की तुलना हिब्रू भाषा से करते हुए व्युत्पत्तियों को दिखलाने वाले अनेक शब्द-कोश तैयार किये गये थे जिनको आज-कल केवल कूड़ा ही समझना चाहिये।

(२) भाषाओं के व्याकरण और रचना की तुलना करते हुए हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि प्रत्येक भाषा की रचना और व्याकरण में कुछ अंश ऐसा भी हो सकता है जो केवल उसी की विशेषता हो और उसका संबन्ध दूसरी भाषाओं से कुछ न हो। तुलना उन अंशों की न करनी चाहिये। परन्तु किस भाषा का कौन अंश ऐसा है इसको जानने के लिये यह आवश्यक है कि उसके इतिहास की भिन्न भिन्न अवस्थाओं को दिखाने वाले प्राचीन लेख वर्तमान हों। प्राचीन लेखों के न होने पर हमें उसके वर्तमान स्थानीय और प्रान्तीय भेदों की तुलना से प्राचीन ऐतिहासिक स्वरूप को जानने का यथाशक्य प्रयत्न करना चाहिये।

चौथा परिच्छेद

भाषा की रचना

(३) व्याकरण और रचना की तुलना के द्वारा भाषाओं के संबन्ध के निर्धारित हो जाने पर हम उनके शब्दों की तुलना कर सकते हैं। शब्दों की तुलना करने में सबसे पहिले उन शब्दों की तुलना करनी चाहिये जो या तो संख्या-वाचक शब्दों की तरह स्थिर अर्थ रखने वाले हों, या संबन्ध-वाचक ('पिता', 'माता' आदि) और प्रतिदिन व्यवहार में आने वाले हों। संख्या-वाचक शब्दों में यह देखा जाता है कि वे अपने अर्थों को नहीं बदलते। उनके उच्चारण में वर्ण-विकार के कारण भेद भले ही हो जावे, उनका अर्थ ज्यों का त्यों स्थिर रहता है। साथ ही जैसे भिन्न २ पदार्थों और विचारों के लिये पुराने शब्दों के स्थान में नये शब्द व्यवहार में आने लगते हैं, वैसा संख्या-वाचक शब्दों में प्रायः नहीं होता; नये संख्यावाचक शब्दों की कल्पना बहुत कम देखी जाती है। यही दशा उपर्युक्त दूसरे प्रकार के शब्दों की है। संबन्ध-वाचक शब्द और प्रतिदिन व्यवहार की चीज़ों के नाम भी प्रयोग के बल के कारण अपने को स्थिर रखते हैं। इसलिये यदि दो भाषायें संख्या-वाचक शब्दों में और प्रतिदिन के साधारण विचार और वस्तुओं को प्रकट करने वाले शब्दों में समानता रखती हैं तो यह अनुमान किया जा सकता है कि वे दोनों आपस में संबन्ध रखने वाली हैं।

साधारणतया सर्वनामों की तुलना से काम नहीं चलता। प्रथम तो, सतत प्रयोग के कारण वे घटते घटते प्रायः

पाँचवाँ परिच्छेद

भाषा की परिवर्तन-शीलता

एकाक्षरात्मक हो जाते हैं; द्वितीय, भाषाओं के इतिहास में उनकी उत्पत्ति का इतिहास इतना पुराना है कि उसके विषय में ठीक ठीक अनुसंधान नहीं हो सकता। तो भी, कुछ भाषाओं में उत्तमपुरुष और मध्यमपुरुष के वाचक सर्वनामों की तुलना की जा सकती है।

(४) शब्दों की तुलना करते हुए हमें इस नियम को स्मरण रखना चाहिये कि यथासंभव तुलना शब्दों की प्रकृति की करनी चाहिये। तुलना करने से पूर्व हमें शब्दों के इतिहास का पता लगाना चाहिये; पीछे से बढ़ाये गये अंशों (प्रत्यय आदि) को छोड़कर उनके मूल-स्वरूप की परस्पर तुलना करनी चाहिये। इसकी आवश्यकता इसलिये है कि प्रायः देखा जाता है कि एक ही मूल-शब्द से निकले हुए शब्द भिन्न भिन्न भाषाओं में या एक ही भाषा में अनेक रूपों में पाये जाते हैं; जैसे हिन्दी में 'कारज', 'काज' ये दोनों शब्द 'कार्य' शब्द से निकले हैं; इसी प्रकार अंग्रेज़ी captive (= क़ैदी, बन्दी) और caitiff (= नीच, घृणास्पद) दोनों लैटिन captivus से निकले हैं।

इसके विपरीत, ऐसा भी देखा जाता है कि भिन्न भिन्न मूलशब्दों से निकले हुए शब्द भिन्न भिन्न भाषाओं में या एक ही भाषा में एक ही रूप में पाये जाते हैं; जैसे हिन्दी 'काम' (= इच्छा) और 'काम' (= काज) यथा-क्रम 'काम' और 'कर्मन्' इन दो शब्दों के रूप हैं। इसी प्रकार हिन्दी

छठा परिच्छेद

भाषा-विज्ञान की प्रक्रिया

सातवाँ परिच्छेद

भाषा की उत्पत्ति

'आम' (=एक फल), 'कुल' (=वंश), 'हाल' (हिलना, पहिये की हाल) और अरबी 'आम' (=साधारण), 'कुल' (=सब), 'हाल' (=अवस्था) इन शब्दों को देखना चाहिये। इसलिये तुलना करने से पहिले शब्दों के इतिहास का पता लगाना आवश्यक है। परन्तु कभी कभी तुलना करने से ही शब्दों के मूलस्वरूप का पता लगता है।

(५) मूल-शब्दों की तुलना करते हुए भी हमें उनके अर्थ की समानता पर भी ध्यान देना चाहिये। शब्दों के इतिहास के अनुसन्धान में—शब्द और अर्थ का घनिष्ठ संबन्ध है—इस बात को न भूलना चाहिये। शब्द और अर्थ भाषा के बाह्य और आभ्यन्तर रूप हैं यह ऊपर कहा जा चुका है। समान अर्थ रखते हुए भी जैसे हम दो बिल्कुल भिन्न-रूप शब्दों का मिलान नहीं कर सकते, इसी तरह भिन्नार्थक शब्दों की, उनके शाब्दिक रूप के समान होने पर भी, तुलना नहीं की जा सकती। भिन्नार्थक से आशय हमारा ऐसे शब्दों से है जिनके अर्थों में परस्पर कोई संबन्ध न दिखलाया जा सके। यह आवश्यक नहीं है कि दोनों शब्दों का बिल्कुल एकसा ही अर्थ हो। शब्दों के शाब्दिक रूप में जैसे वर्ण-विकार के कारण बहुत कुछ भेद हो सकता है, इसी तरह अर्थ भी प्रायः बदलता रहता है। आवश्यकता इस बात की है कि अर्थों के भिन्न होने पर हम यह दिखला सकें कि उनमें से एक अर्थ दूसरे से निकला है या दोनों अर्थों का मूल एक तीसरा अर्थ है।

आठवाँ परिच्छेद

वर्ण-विज्ञान

(६) वर्तमान शब्दों के मूल-शब्दों की खोज के लिये उनका किसी प्राचीन साहित्यिक भाषा में या साधारण प्राचीन लेखों में पाया जाना आवश्यक है। ऐसा न होने पर मूल-शब्दों का वास्तव में क्या रूप था यह कहना कठिन या असंभव-सा होता है। जिन भाषाओं में प्राचीन लेख नहीं मिलते उनमें आधुनिक स्थानीय और प्रान्तीय बोलियों की तुलना से हमें उन भाषाओं के अधिक प्राचीन स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता; केवल साधारण इतिहास का अनुमान किया जा सकता है।

(७) प्रत्येक भाषा में वर्ण-विकार-संबन्धी नियम विशेष विशेष हो सकते हैं। यदि एक भाषा में एक वर्ण के स्थान में दूसरा वर्ण देखा जाता है तो उसका उसी तरह दूसरी भाषा में भी देखा जाना आवश्यक नहीं। इसलिये मूलशब्दों के अनुसन्धान में हमें प्रत्येक भाषा के अपने अपने वर्ण-विकार-संबन्धी नियमों को पहिले जानना चाहिये। कुछ वर्ण-विकार-संबन्धी नियमों का वर्णन हम आगे इसी परिच्छेद में करेंगे। एक भाषा के वर्ण-विकार-संबन्धी नियमों को दूसरी भाषा के शब्दों में लगाने से हमारी तुलना ठीक नहीं हो सकती।

४—संकुचित तुलना का दोष

ऊपर दिखलाया गया है कि भाषा-विज्ञान में शब्दों आदि की तुलना का क्षेत्र प्रारम्भ में संकुचित होने पर भी अन्त में

नवाँ परिच्छेद

भाषाओं के परिवार

अति विस्तृत हो जाता है। किसी विषय की खोज में जैसे उसका निरीक्षण जितना ही विस्तृत होगा उतना ही अच्छा है, इसी प्रकार किसी प्रकार के नियमों या सिद्धान्तों की खोज के लिये तुलना का क्षेत्र जितना ही बड़ा होगा उतना अच्छा है। तुलना के क्षेत्र के विस्तृत होने से ही हम निश्चयपूर्वक यह कह सकते हैं कि किस नियम का विस्तार कितना है। कोई सिद्धान्त या नियम किसी विशेष भाषा या भाषा-परिवार पर लागू है या समस्त भाषाओं में पाया जाता है, इसके निर्धारण का उपाय यही हो सकता है। जैसा आगे चलकर स्पष्ट होगा, भाषा-विज्ञान का प्रारम्भ भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार के तुलनात्मक अध्ययन से हुआ है। भाषा-विषयक अनेक सिद्धान्त इसी भाषा-परिवार के अध्ययन से स्थिर किये गये हैं। परन्तु इसी भाषा परिवार के आधार पर स्थिर किये गये सिद्धान्त इसी भाषा-परिवार की विशेषता हैं या और भाषाओं पर भी लागू हैं, इसके लिये और भाषा-परिवारों के साथ इस परिवार की तुलना करना आवश्यक है। इसी प्रकार की तुलना से, उदाहरणार्थ, हमें यह निश्चय होता है कि प्रत्येक भाषा विभक्ति-युक्त नहीं होती।

संकुचित तुलना के कारण ही कई सिद्धान्तों के विषय में जो कुछ भाषाओं पर लागू हो सकते हैं यह भूल से प्रायः समझा जाता है कि वे प्रत्येक भाषा में पाये जाने चाहियें। उदाहरणार्थ, यह समझा जाता है कि प्रत्येक भाषा की धातुयें

एकाक्षरात्मक होनी चाहियें। परन्तु वस्तु-स्थिति में इस सिद्धान्त का आधार भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार की भाषायें ही हैं। यद्यपि चीनी जैसी भाषाओं से भी इस सिद्धान्त की पुष्टि हो सकती है, तो भी इन भाषाओं के अधिक प्राचीन स्वरूप से परिचय न होने से निश्चयपूर्वक हम ऐसा नहीं कह सकते। संभव है वर्ण-विकार-संबन्धी नियमों के अनुसार शब्दों के आकार में ह्रास होते होते उनमें एकाक्षरात्मकता, सदा से न रहने पर भी, अब दीख पड़ती है। कुछ विद्वानों का तो कहना है कि चीनी भाषा में अब भी ऐसी धातुओं का पता मिलता है जो एकाक्षरात्मक नहीं हैं। दक्षिण मेसोपोटामिया की प्राचीन अकैडियन भाषा में भी, जिसका कीलकाक्षरों में लिखित प्राचीन लेखों की सहायता से गत शताब्दी में पुनरुद्धार हुआ है, एकाक्षरात्मक धातुओं के साथ साथ द्व्यक्षरात्मक धातुयें भी पाई जाती हैं। दक्षिण अफ़्रीका की बन्तू भाषा में तो धातुयें सामान्यरूप से अनेकाक्षरात्मक ही पाई जाती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि धातु-संबन्धी उपर्युक्त सिद्धान्त समस्त भाषाओं के लिये न समझना चाहिये।

सेमिटिक भाषाओं में प्रवेश करते ही यह प्रतीत हो जाता है कि उनकी रचना कम से कम त्रिवर्णात्मक धातुओं से हुई है। उदाहरणार्थ, 'ह्-स्-ब्' इस माद्दा (=धातु) से 'हिसाब', 'हासिब' (=हिसाब करने वाला), 'हसब'

दसवाँ परिच्छेद

भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार

(=उसने हिसाब किया), 'महसूब' (=हिसाब की हुई चीज़) इत्यादि शब्द निकले हैं। इसी प्रकार 'क्-त्-ल्' इन तीन वर्णों से 'क़त्ल' (=वध), 'क़िल्ल' (= वध्य या शत्रु), 'क़ातिल' (=वध करने वाला) इत्यादि शब्द बने हैं। इत्यादि उदाहरणों से अरबी आदि सेमिटिक भाषाओं की धातुओं की त्रिवर्णात्मकता स्पष्ट होने पर भी, उपर्युक्त सिद्धान्त को समस्त भाषाओं पर लागू मानकर कई विद्वानों ने अरबी आदि भाषाओं के धातुओं को वस्तुतः एकाक्षरात्मक सिद्ध करने का व्यर्थ यत्न किया है। इससे संकुचित तुलना के कारण कुछ भाषाओं के ही आधार पर स्थिर किये गये सिद्धान्त को प्रत्येक भाषा पर लागू मानने से कितनी भूल हो सकती है यह स्पष्ट है।

५—शब्दों की व्युत्पत्ति

भाषा-विज्ञान का एक बड़ा भाग शब्दों की व्युत्पत्ति या निर्वचन करना है, यह ऊपर कहा गया है। भाषा-विज्ञान के ऊपर दिखलाये हुए विषय और उद्देश्य से यह स्पष्ट है कि शब्दों की व्युत्पत्ति करने से ही भाषा-विज्ञान का विषय समाप्त नहीं हो जाता। तो भी शब्द-व्युत्पत्ति भाषा-विज्ञान के विषयों में से सबसे अधिक रुचिकर और मनो-रञ्जक है, यह कहा जा सकता है। जो भाषा-विज्ञानी नहीं हैं वे भी शब्दों की व्युत्पत्ति करने में बड़ी रुचि दिखलाते हैं। वस्तुतः भाषा-

विज्ञान का प्रारम्भ शब्दों की व्युत्पत्ति करने के प्रयत्न से ही हुआ है। इसी लिये प्रारम्भ में कुछ समय तक भाषा-विज्ञान और शब्द-व्युत्पत्ति-विचार को समानार्थक समझा जाता था।

शब्दों की व्युत्पत्ति या निर्वचन से आशय यह है कि हम एक अस्पष्ट रचना वाले शब्द के इतिहास के जानने की इच्छा से उन मूल-शब्दों या अंशों का पता लगाते हैं जिनसे वह शब्द बना है, या उपर्युक्त इच्छा से ही हम एक शब्द के प्राचीन स्वरूप का उसी भाषा में, और यदि वह शब्द किसी दूसरी भाषा से साक्षात् या परम्परया लिया गया है तो उस दूसरी भाषा में पता लगाते हैं। दूसरे शब्दों में, शब्द-व्युत्पत्ति से आशय शब्दों की वंश-परंपरा का निर्णय करना है।

ऐसा प्रायः होता है कि एक शब्द के असली पूर्वजों या प्राचीन स्वरूपों का पता नहीं लगता, किन्तु स्व-संबन्धी दूसरी भाषा-परम्परा में मिलने वाले एक प्राचीन शब्द को देखकर उनके विषय में सामान्यतः अनुमान किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, आधुनिक फ़ारसी भाषा यद्यपि ज़िन्द[1] भाषा से

१ 'ज़िन्द' (= Zend) का अर्थ वास्तव में 'टीका' है और विशेष-कर पारसियों की मूल-धर्म-पुस्तक अवस्ता की मध्य-कालीन टीका के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। पर कुछ समय पहिले तक भाषा-विज्ञानियों में इस शब्द का प्रयोग अवस्ता की ही भाषा के लिये किया जाता था। इस पुस्तक में भी इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया

ग्यारहवाँ परिच्छेद

ईरानी भाषा-वर्ग

नहीं निकली है तो भी उसके शब्दों के इतिहास के जानने में ज़िन्द भाषा में पाये जाने वाले शब्दों से बड़ी सहायता मिलती है। आधुनिक फ़ारसी भाषा की वंश-परम्परा ज़िन्द भाषा से नहीं, किन्तु उसकी सम-कालीन और उससे संबन्ध रखने वाली प्राचीन फ़ारसी से है। प्राचीन फ़ारसी का जो थोड़ा-सा अंश प्राचीन लेखों में शेष है उसकी ज़िन्द भाषा के साथ तुलना करने से प्रतीत होता है कि ये दोनों भाषायें परस्पर भिन्न भिन्न होती हुई भी बहुत अंशों में विशेष समानता रखती थीं। ऐसी अवस्था में ऐसे आधुनिक फ़ारसी शब्दों के प्राचीन स्वरूपों का पता लगाने के लिये जिनका प्राचीन फ़ारसी के उपलब्ध लेखों में पता नहीं चलता हमारे पास केवल यही उपाय है कि हम ज़िन्द भाषा को देखकर उनका सामान्यतः अनुमान करें। इसी दृष्टि से साधारण लेखों में एक फ़ारसी शब्द ज़िन्द भाषा से निकला है ऐसा कहा जाता है। यह ऐसा ही है जैसे किसी मनुष्य को, उसके पितामह का नाम न मालूम होने पर, उसके पितामह के छोटे भाई का पौत्र कहा जाय।

इस प्रकार शब्दों के स्वरूप और अर्थ का कारण खोजते

गया है। पर आज-कल 'अवस्ता' (Avesta) या 'अवस्तन' (Avestan) शब्दों का ही प्रयोग इस अर्थ में किया जाने लगा है।

परिशिष्ट

हुए उनके प्राचीन स्वरूपों और अर्थों के साथ उनके संबन्ध को जोड़कर उनके इतिहास और वंशावली का पता लगाना ही शब्द-व्युत्पत्ति का मुख्य प्रयोजन है।

शब्दों के इतिहास का पता लगाना बड़ा मनोरञ्जक होता है। एक एक शब्द के इतिहास में बड़ी विचित्र कहानियाँ भरी हुई हैं; अनेक शब्दों का इतिहास बड़ा विचित्र है। उदाहरणार्थ, यह जानकर कितना आश्चर्य और मनोरञ्जन होता है कि आजकल 'अनुसंधान' अर्थ में प्रयुक्त 'गवेषणा' शब्द प्रारम्भ में 'गौ को ढूँढ़ना' इस अर्थ को रखता था, या 'घृणा' या 'निन्दा' अर्थ में 'जुगुप्सा' शब्द में आने वाला 'गुप्' धातु किस प्रकार क्रम से (१) 'गौ को पालना', (२) 'पालना' (३) 'छिपाना'—क्योंकि रक्षा प्राय: छिपाकर की जाती है—और अन्त में (४) 'घृणा करना'—क्योंकि छिपाई हुई वस्तु प्राय: घृणित होती है—इन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार 'अभ्यास' शब्द प्रारम्भ में शर आदि के बार बार फेंकने[1] के अर्थ में प्रयुक्त होता होगा। इसी प्रकार 'धन', 'आत्मादि गुणवान् पदार्थ' आदि अर्थों में प्रयुक्त 'द्रव्य' शब्द प्रारम्भ में 'द्रु (=वृक्ष) से बनी हुई वस्तु' के ही अर्थ को रखता होगा।

---

१ तु०—"विष्वञ्चो अस्मच्छरव: पतन्तु ये अस्ता ये चास्य:।" (अथर्ववेद १।१६।२)। "शूरो अस्तेव शत्रून् बाधते" (ऋग्वेद ६।६४।३)। यहाँ 'अस्ता' का अर्थ 'बाण फेंकनेवाला' ही है।

भाषा-विज्ञान

पहिला परिच्छेद

विषयावतरण

१—भाषा-विज्ञान का स्वरूप

उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य देशों ने जो विद्या की उन्नति की है वह किसी से छिपी नहीं है। वैज्ञानिक प्रक्रिया के काम में लाने से भिन्न-भिन्न-विषयक सामान्य ज्ञान को विज्ञान का स्वरूप देने का गौरव इसी शताब्दी को प्राप्त है। इस नई प्रक्रिया के अनुसरण से जिन अनेक विज्ञानों ने जन्म लिया है उनमें भाषा-विज्ञान का भी एक ऊँचा स्थान है।

भाषा-विज्ञान का अर्थ है भाषा-संबन्धी या भाषा-विषयक विज्ञान। भाषा का मनुष्यों के साथ जाति-तथा व्यक्ति-रूप से कितना गहरा संबन्ध है—इसको सब कोई जानते हैं। भाषा ही मनुष्य-जाति के दूसरे प्राणियों से ऊँचे स्थान का एक

इस प्रकार शब्दों की व्युत्पत्ति करना बड़ा रुचिकर और मनोरञ्जक होता हुआ भी सरल काम नहीं है। भाषा सदा परिवर्तित होती रहती है; शब्दों के स्वरूप के साथ साथ उनके अर्थों में भी कालान्तर में परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन कहाँ तक किस किस प्रकार का हो सकता है, इसका कोई निश्चित नियम नहीं है। भाषा के विकास में अनेक सहकारी कारण हो सकते हैं; और वे कारण सदा एक ही रूप में रहेंगे यह कोई नहीं कह सकता। इसी से एक ही मूल-भाषा से निकली हुई भिन्न भिन्न प्रान्तीय भाषाओं का विकास भिन्न भिन्न रूप में होता है। इन्हीं परिवर्तनों के कारण एक ही मूल-शब्द परस्पर अत्यन्त भिन्न अनेक रूपों को धारण कर सकता है; और अनेक भिन्न भिन्न रूपों के शब्द कालान्तर में समान रूप धारण कर सकते हैं। इन कारणों से शब्द-व्युत्पत्ति के कोई निश्चित विशेष नियम नहीं दिये जा सकते।

शब्दों के व्युत्पत्ति-विषयक अनुसंधान में बहुत सोच समझकर आगे पैर बढ़ाना चाहिये। अनुसन्धान करने वाले को हर समय इस बात का खटका लगा रहता है कि कहीं उसकी व्युत्पत्ति अशुद्ध न हो। इस खटके के दो परस्पर विरुद्ध कारण हो सकते हैं। प्रथम तो, अनेक ऐसे शब्द जो देखने में परस्पर कोई संबन्ध नहीं रखते वस्तुतः एक ही मूल-शब्द से निकले हुए हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी

प्रधान चिह्न है। यही उसकी सारी उन्नति का मुख्य साधन है। ठीक अर्थों में समाज का संगठन भाषा के बिना असंभव है। और सामाजिक संगठन पर ही मनुष्य जाति की सारी उन्नति निर्भर है।[1] इसी से इसका हमारे वैयक्तिक जीवन से भी घनिष्ठ संबन्ध है। इन कारणों से भाषा-विज्ञान का हमारे लिये रुचिकर होना स्वाभाविक ही है।

यहाँ यह उचित प्रतीत होता है कि **विज्ञान शब्द का अर्थ** स्पष्ट कर दिया जावे। किसी विषय के 'ज्ञान' और 'विज्ञान' में बड़ा भारी भेद है। 'ज्ञान' या 'सामान्य ज्ञान' से आशय किसी विषय के स्वरूप से परिचयमात्र का होता है। किसी उपयोग को संमुख रखकर हम उस पदार्थ या विषय के स्वरूपमात्र से परिचय प्राप्त कर संतुष्ट हो जाते हैं। परन्तु किसी विषय के युक्तिसहित ज्ञान को 'विज्ञान' कहते हैं। यहाँ हम किसी पदार्थ या विषय के केवल स्वरूप के परिचय से सन्तुष्ट न होकर उसके स्वरूप के कारण की खोज में प्रवृत्त होते हैं। दूसरे शब्दों में, उस पदार्थ या विषय के स्वरूप के परिचयमात्र से सन्तुष्ट न होकर हम उसके वास्तविक ज्ञान के लिये चेष्टा करते हैं। विज्ञान में हमारी दृष्टि उपयोग की

---

१ तुलना करोः—वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ॥ इद-मन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्। यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥ काव्यादर्श १।३–४

bishop और .फ्रेंच évêque, जिनमें एक वर्ण की भी समानता नहीं है, दोनों वस्तुतः episkopos इस एक ही ग्रीक शब्द से निकले हैं। इसी प्रकार संस्कृत 'स्वसृ' और फ़ारसी 'ख़ाहर' वस्तुतः एक ही शब्द से निकले हैं। दूसरी ओर, यह हो सकता है कि देखने में समानता रखने वाले शब्द वस्तुतः परस्पर कोई संबन्ध न रखते हों; उनकी समानता केवल आकस्मिक हो; और उनमें परस्पर अत्यन्त भेद हो। भिन्न भिन्न मूल-शब्दों से निकले हुए शब्द किस प्रकार अन्त में देखने में समान-रूप हो सकते हैं, यह प्रत्येक भाषा में पाये जाने वाले समान-श्रुति पर भिन्नार्थक शब्दों की परीक्षा से स्पष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ, हिन्दी के नीचे लिखे शब्दों को लीजिये:—

अंस = भाग, अंस = कंधा
संकर = शंकर, संकर = गड़बड़
सर = तीर, सर = तालाब
सूर = सूर्य, सूर = शूर
काम = इच्छा, काम = धंधा

इसी प्रकार अंग्रेज़ी sound = स्वस्थ, sound = ध्वनि और sound = तंग समुद्र तीन भिन्न भिन्न शब्दों से निकले हैं; अंग्रेज़ी page = पृष्ठ और page = बाल अनुचर दो भिन्न भिन्न शब्दों से निकले हैं।

इस प्रकार की आकस्मिक समान-रूपता (जिसके साथ

ओर इतनी नहीं होती जितनी स्वाभाविक ज्ञानपिपासा की तृप्ति की ओर होती है।

सामान्य ज्ञान से विज्ञान को भिन्न करने वाला मुख्य गुण उसका तुलनात्मक होना है। स्वसम्बन्धी पदार्थों या प्रमेयों की तुलना में जितनी ही अधिक सावधानता दिखलाई जावेगी उतनी ही अधिक निश्चयात्मकता तद्विषयक ज्ञान में होगी। और इसी से उसको विज्ञान की पदवी मिलने में सहायता मिलेगी। भाषा-विज्ञान के एक विज्ञान होने से उसका तुलना-त्मक होना आवश्यक है। वस्तुतः भाषाओं के विषय में इसी तुलनात्मक प्रक्रिया के अवलम्बन से ही भाषा-विज्ञान का विकास हुआ है। किसी एक ही भाषा के आधार पर, और भिन्न भिन्न भाषाओं की तुलना के विना, भाषा-विज्ञान को खड़ा करना असम्भव है। यह सम्भव है कि इस प्रकार से उस भाषा ही से सम्बन्ध रखने वाले कुछ मोटे मोटे नियमों का पता लग जावे; परन्तु इन मोटे मोटे नियमों के कारणों का तथा उस और अन्य भाषाओं में भी पाये जाने वाले अधिक व्यापक नियमों का पता दूसरी भाषाओं के साथ उचित तुलनात्मक प्रक्रिया के अवलम्बन से ही मिल सकता है। इसलिये यह कहना अनुचित न होगा कि किसी भाषा का स्वरूप दूसरी भाषाओं के साथ तुलना के विना ठीक ठीक नहीं जाना जा सकता।

भाषा-विज्ञान के स्वरूप को अधिक स्पष्ट इस प्रकार

कभी कभी अर्थ की समानता भी पाई जाती है) एक ही भाषा के शब्दों में नहीं किन्तु भिन्न भिन्न भाषाओं में भी देखी जाती है[1]। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी cover = ढाँपना और हिब्रू kophar = ढाँपना, अर्थ और रूप में समानता रखते हुए भी परस्पर कोई संबन्ध नहीं रखते। इसी प्रकार—

हिन्दी	अरबी
कन्द	क़न्द = मिस्री
कफ = कफ़	कफ़ = हथेली
कुल = वंश	कुल = समस्त

इत्यादि शब्दों में वस्तुतः कोई संबन्ध नहीं।

ऊपर के लेख से यह स्पष्ट है कि दूसरे विद्वानों द्वारा निश्चित शब्द-व्युत्पत्तियों को समझने ही के लिये कितनी विद्या और विचार की आवश्यकता है। स्वयं शब्दों की व्युत्पत्ति का निर्धारण करना तो और भी कठिन है।

६—शब्द-व्युत्पत्ति के साधारण नियम

शब्दों की व्युत्पत्ति के निर्धारण और अनुसंधान के लिये विशेष नियमों का देना असंभव होते हुए भी कुछ साधारण नियम दिये जा सकते हैं।

(१) सबसे पहिली बात जो स्मरण रखनी चाहिये यह है कि

---

१ देखो छठा परिच्छेद, अधि० ३ (१)

किया जा सकता है। भाषा-विज्ञान उस विज्ञान को कहते हैं जिसमें

(१) सामान्य रूप से मानवी भाषा का,

(२) किसी विशेष भाषा की रचना और इतिहास का, और अन्ततः

(३) भाषाओं या प्रादेशिक भाषाओं के वर्गों की पारस्परिक समानताओं और विशेषताओं का तुलनात्मक विचार किया जाता है।

भाषा-विज्ञान की अवस्था अभी बहुत छोटी है। पिछली शताब्दी के आरम्भ से ही इसको एक विज्ञान कहने का साहस विद्वानों को हुआ है। यद्यपि इसकी गणना विज्ञानों में होने लगी है तो भी अभी तक यह न समझना चाहिये कि यह ज्योतिष की तरह एक निश्चयात्मक विज्ञान है। ज्योतिष के एक निश्चयात्मक विज्ञान होने का कारण उसके प्रमेयों का कम जटिल होना तथा उनका चिरकाल से अध्ययन ही है। परन्तु समाजशास्त्र आदि विज्ञानों की तरह भाषा-विज्ञान में भी, इसके प्रमेयों के अति विस्तृत तथा जटिल होने से और इसकी अवस्था थोड़ी होने से, वैसी निश्चयात्मकता अभी तक नहीं आई है। अभी तक इस विज्ञान में प्रायः इसके प्रमेयों का केवल संग्रह, तुलना और वर्गीकरण ही किया गया है। भिन्न-भिन्न काल और देश में बिखरी हुई भाषाओं को कुछ सामान्य भाषावर्गों में बाँटने की चेष्टा की गई है। इस पर भी

शब्दों की व्युत्पत्ति का करना ठीक ठीक अनुसंधान पर निर्भर होता है; इसलिये शब्दों की व्युत्पत्ति मनमानी कल्पित नहीं की जा सकती। जैसे कल्पित उपन्यास की तरह सच्चे इतिहास की मनमानी कल्पना नहीं हो सकती, जैसे एक मनुष्य की वंशावली के अनुसरण में मनमानी कल्पना का ज़रा-सा भी अवकाश नहीं होता, इसी तरह शब्दों की व्युत्पत्ति करने में भी हमें मनमानी कल्पना करने का ज़रा भी अधिकार न होना चाहिये। जैसे दूसरे ऐतिहासिक अनुसंधान में प्रमाणों के साक्ष्य की आवश्यकता समझी जाती है, इसी प्रकार शब्दों के इतिहास के पता लगाने में भी हमें प्रमाणों की आवश्यकता है। इसलिये किसी शब्द को दूसरे शब्द से निकला हुआ या उसका संबन्धी कहने से पहिले यह देख लेना चाहिये कि उनकी ऐतिहासिक परम्परा या संबन्ध का निश्चय या कम से कम संभावना भी हो सकती है या नहीं।

(२) दूसरी बात यह है। प्रत्येक भाषा का परिवर्तन कुछ वर्ण-विकार-संबन्धी विशेष नियमों के अनुसार हुआ करता है। एक शब्द को दूसरे शब्द से निकालने के पहिले हमें देखना चाहिये कि उसका निकास कहाँ तक उन नियमों के अनुसार हो सकता है, और यदि उन नियमों का व्यतिक्रम या उल्लंघन उस शब्द में पाया जाता है तो उसका कोई विशेष कारण भी है या नहीं। साथ ही एक भाषा के नियम दूसरी भाषा में न लगाने चाहियें, जब तक कि हम अनेक

भाषा का क्षेत्र इतना विस्तृत और जटिल है कि अभी तक उसके एक अंश पर ही कुछ ध्यान दिया गया है। इसलिये इस परिमित आधार पर जो सिद्धान्त भाषा-विज्ञान में अभी तक स्थिर किये गये हैं उनकी दृष्टि में, भाषा-क्षेत्र के अधिक अधिक ज्ञान होने पर, परिवर्तन होने की संभावना है।

२—भाषा-विज्ञान का विषय

भाषा-विज्ञान का विषय इतना विस्तृत है जितनी कि मनुष्यजाति। क्योंकि इसका संबन्ध मनुष्यमात्र की भाषा से है। किसी भी स्वरूप में, किसी भी देश में पाई जाने वाली मानवी भाषा इस विज्ञान का विषय है। आज कल की जीवित भाषाओं के साथ साथ भाषा-विज्ञान में उन प्राचीनकालीन मृत भाषाओं पर भी विचार किया जाता है जो किसी प्रकार लेख आदि के द्वारा सुरक्षित हैं। इतना ही नहीं, परस्पर संबन्ध रखने वाली आधुनिक तथा प्राचीन भाषाओं के निश्चित स्वरूप के आधार पर उनके शब्दों आदि की दोषशून्य तुलना के द्वारा कल्पना की गई उनकी मूलभूत भाषा का भी विचार भाषा-विज्ञान में हो सकता है। परन्तु इस अवस्था में मूल-भाषा के काल्पनिक होने से उसके आधार पर कोई दृढ़ और निश्चित सिद्धान्त स्थिर नहीं किये जा सकते। इस प्रकार की भाषा का एक उदाहरण भारत से यूरोप तक फैली हुई भारत-यूरोपीय भाषाओं की मूलभूत

उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध न कर दें कि वे नियम उस दूसरी भाषा में भी पाये जाते हैं।

(३) तीसरी बात यह है कि शब्दों की व्युत्पत्ति करने में जिस प्रकार हमारा ध्यान शब्दों के शाब्दिक रूप पर रहता है इसी तरह हमें उनके अर्थ की भी उपेक्षा न करनी चाहिये[1]। इसी लिये यह कहा जाता ह कि ठीक ठीक व्युत्पत्ति करने के लिये शब्दों के शाब्दिक रूप को ही न देखना चाहिये। जिस प्रकार वर्ण-विकार-संबन्धी नियमों के द्वारा एक शब्द को उसके मूल-शब्द से निकला हुआ सिद्ध किया जाता है, इसी प्रकार हमें यह भी दिखलाना चाहिये कि उन दोनों के अर्थों में भी संबन्ध है।

इन नियमों का ध्यान न रखने से अनेक देशों में चिरकाल तक शब्द-व्युत्पत्ति को बुद्धि का एक मनमाना खेल समझा जाता रहा; और कहीं कहीं अब भी समझा जाता है। भाषाओं के ऐतिहासिक संबन्ध पर बिल्कुल ध्यान न देकर, एक भाषा के शब्दों की दूसरी भाषा के शब्दों से व्युत्पत्ति की जाती रही। किसी प्रमाण की अपेक्षा न करके केवल शाब्दिक समानता के आधार पर शब्दों की मनमानी व्युत्पत्ति भिन्न भिन्न देशों के विद्वान् भी करते रहे। भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार से

---

१ तु०—"रूपसामान्यादर्थसामान्यं नेदीयः" (गोपथब्राह्मण १।१।२६)। "अर्थनित्यः परीक्षेत" (निरुक्त २।१)।

भाषा है जिसकी विद्वानों ने आधुनिक तथा प्राचीनकालीन भारतयूरोपीय भाषाओं के आधार पर कल्पना की है। इस काल्पनिक भाषा से संबन्ध रखने वाले शब्दों के पहिले भाषा-विज्ञान की पुस्तकों में, उनकी काल्पनिकता दिखलाने के लिये, * जैसा तारा का चिह्न लगा दिया जाता है।

इस प्रकार भाषा-विज्ञान का क्षेत्र किसी देशविशेष, जाति-विशेष, या कालविशेष की भाषा के लिये परिमित नहीं है। असभ्य से असभ्य जातियों की ऐसी बोलियाँ जिनको कोई नहीं जानता, तथा सभ्य जातियों की साहित्य-सम्पन्न भाषायें— दोनों का विचार यहाँ आवश्यक है। भाषाविज्ञानी की दृष्टि में कोई भी भाषा, जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार प्रकट करते हैं, एक मूल्य की वस्तु है। परन्तु भाषाविज्ञान-संबन्धी सिद्धान्तों या नियमों का पता लगाने के लिये वे बोलियाँ जिनका साहित्य से कुछ भी संपर्क नहीं हुआ है भाषा-विज्ञान की दृष्टि में सब से अधिक मूल्य रखती हैं। साहित्य के प्रभाव से भाषा की स्वाभाविक परिवर्तन-शीलता में बहुत कुछ रुकावट पैदा हो जाती है। अतएव शिक्षित मनुष्यों की भाषा की अपेक्षा केवल ग्रामीण अपठित मनुष्यों की भाषा में बहुत कुछ स्वाभाविकता होती है। परन्तु सभ्य जातियों के अशिक्षित मनुष्यों की भाषा पर भी, कुछ न कुछ, शिक्षितों की भाषा का प्रभाव पड़ ही जाता है। उनकी भाषा की अपेक्षा असभ्य जातियों की भाषा में और भी अधिक

संबन्ध रखने वाली लैटिन और ग्रीक भाषाओं के शब्दों की सेमिटिक परिवार की हिब्रू भाषा के शब्दों से व्युत्पत्ति का ज़िक्र हम ऊपर कर चुके हैं। भाषाओं के भिन्न भिन्न परिवारों में वर्गीकरण के पूर्व तो ऐसा करना कोई आश्चर्य की बात न थी; परन्तु आज-कल भी जब कि भाषाओं का वर्गीकरण बहुत अंश तक हो चुका है ऐसी व्युत्पत्तियों की कमी नहीं है। इस समय हमारे सामने संस्कृत के एक धुरंधर विद्वान् की एक छोटीसी पुस्तक है। उसमें अरबी आदि भाषाओं के उन शब्दों की जो हिन्दी में प्रसिद्ध हैं संस्कृत के अनुसार व्युत्पत्ति दिखलाई है। पाठकों के विनोदार्थ उसमें से कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं :—

"अदबः (आदाब)—'सत्कारे' दव उपतापोऽसत्कार इति
न दवोऽसत्कारः = अदवः सत्कारः।

अजायब—अजातपूर्वः।

हाजिर—इहाजिरः। इह इहैवाजिरं निवासो यस्य सः।
उपस्थिते।

विलायतः—(पुं०) एतन्नाम्ना प्रसिद्धे देशे। लातीति लायः
आदाता तस्य भावो लायता विशिष्टा लायता
गुणग्राहिता यत्र।"

इसके अतिरिक्त, किसी प्रकार के प्रमाण के न होने पर भी अनेक शब्दों का मनमाना संबन्ध स्थापित करना भारतवर्ष

स्वाभाविकता होती है। इसलिये भाषा के विकास- तथा परिवर्तन-संबन्धी सिद्धान्तों को उनकी भाषाओं में अच्छी तरह देखा जा सकता है। जिस प्रकार लकड़ी के परीक्षक को एक बिना-छीला-छाला अपने स्वाभाविक रूप में स्थित काष्ठ का टुकड़ा उससे अधिक उपयोगी होता है जब कि वह छील-छाल कर किसी संस्कृत रूप में कर लिया जाता है, इसी प्रकार भाषा-विज्ञानी के लिये भाषा का अपने स्वाभाविक रूप में रहना अधिक उपयोगी है।

इस तरह समस्त मानवी भाषा को इस विज्ञान का क्षेत्र मानकर भाषा-विज्ञानी भाषा के भिन्न भिन्न स्वरूपों का संग्रह और तुलना करके भिन्न-भिन्न वर्गों में बाँटने का प्रयत्न करता है, जिससे कि वह उनके ठीक ठीक स्वरूप को और परस्पर संबन्ध को मालूम कर सके। इस प्रकार से भाषा के स्वभाव, जीवन, उत्पत्ति, विकास और इन सबके नियमों का समझना ही उसका उद्देश्य होता है। भाषा के स्वभाव आदि को समझने के लिये भाषा-विज्ञानी को वर्णों की उत्पत्ति और उच्चारण, उनके मेल से अक्षरों की तथा अक्षरों के मेल से शब्दों की उत्पत्ति, और शब्दों द्वारा वाक्य-रचना का विचार करना पड़ता है।

शब्दों के लिये, जिनकी तुलना आदि के द्वारा भाषा-संबन्धी सामान्य नियमों का निश्चय किया जाता है, यह आवश्यक है कि वे हमारे विचारों के संकेतरूप

के पढ़े-लिखों में आज-कल प्रायः देखा जाता है। उदाहरणार्थ :—

जापान = जयप्राण
स्वीडन = सुयोधन
अरब = आर्यवाह
स्कैण्डिनेविया = स्कन्धनिवासी
इन्तक़ाल = अन्तकाल
वालिद = पालक
mister = मित्र

दूसरी भाषा के असम्बद्ध शब्दों को अपनी भाषा का रूप-रंग दे देना और बात है—यह भी सब जगह अच्छा नहीं—परन्तु उन शब्दों का अपनी भाषा से व्युत्पत्ति-कृत संबन्ध स्थापित करना दूसरी बात है और किसी अवस्था में न्याय्य नहीं।

शब्द-व्युत्पत्ति के विषय में इस प्रकार की मनमानी प्रवृत्ति भारतवर्ष में बहुत अंश तक प्राचीन समय से देखी जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसी अनेकानेक व्युत्पत्तियाँ पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ, शतपथब्राह्मण ७।५।१।२२ में 'उलूखल' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है :—

उरु मे करदिति तदुरुकरमुरुकरं ह वै
तदुलूखलमित्याचक्षते......

हों[1]। इसी लिये ये सामान्य नियम, जो अपने अन्तर्गत अनेक उपनियमों के आधार पर स्थित होते हैं, कुछ अंशों में मानस-शास्त्र या मनोविज्ञान से, और कुछ अंशों में वर्ण-संबन्धी विज्ञान से संबन्ध रखते हैं। मानस-शास्त्र से उन नियमों का पता लगता है जिनके अनुसार धीरे-धीरे उन्नति और विकास करता हुआ मन (या बुद्धि) पदार्थों और उनके परस्पर संबन्धों को ग्रहण करता है। वर्ण-विज्ञान से किन-किन शारीरिक कारणों के होने पर किस-किस वर्ण का मनुष्य कैसे उच्चारण करता है यह प्रतीत होता है।

भाषा-विज्ञान में वर्ण-विषयक विचार की बड़ी आवश्यकता है, क्योंकि इसी से वर्णों के स्वरूप तथा परस्पर संबन्ध के निश्चय के द्वारा शब्दों में परिवर्तन और परस्पर संबन्ध का रहस्य स्पष्ट होता है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि भाषा-विज्ञान और वर्ण-विषयक विचार दोनों समानार्थक हैं। यह ठीक है कि शब्दों का बाह्य स्वरूप जो वर्णात्मक होता है बड़ी सरलता से अनुभव किया जा सकता है; और इसी लिये उसकी एक दूसरे से तुलना करना भी बड़ा सरल है। परन्तु किसी शब्द का सच्चा स्वरूप

---

१ तुलना करो—"अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः।" (महाभाष्य ३।१।७), "सर्वो हि शब्दोऽर्थप्रत्ययनार्थं प्रयुज्यते" (तन्त्रवार्त्तिक १।३।८)।

मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में भी इनकी कमी नहीं है। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति ५।५५ में 'मांस' शब्द की व्युत्पत्ति देखिये:-

मां स भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥

निरुक्त १।१३ में इस प्रकार की व्युत्पत्तियों की हँसी करते हुए शाकटायन के विषय में लिखा है :—

अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्धान् संचस्कार शाकटायनः। एतेः कारितं च यकारादिं चान्तकरणमस्तेः शुद्धं च सकारादिं च।

शाकटायन ने 'सत्य' शब्द को 'अस्' धातु के 'सत्' शब्द और 'इण्' धातु से बने हुए 'आय' शब्द के अन्तिम '-य' के मेल से बनाया था।

अन्दाज़ से दी हुई व्युत्पत्तियों में कोई कोई ठीक भी हो सकती हैं। हमारा अभिप्राय यहाँ केवल ऐसी व्युत्पत्तियों के उदाहरण देने से है। व्युत्पत्ति के विषय में संस्कृत-वैयाकरणों का कहना है :—

संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु॥

(सिद्धान्तकौमुदी, उत्तर-कृदन्त)

अर्थात्, संज्ञाओं में (व्युत्पत्ति का अनुसंधान करते हुए) पहिले धातु या प्रकृति का और पीछे से प्रत्यय का विचार करे। प्रत्ययों में ककारादि अनुबन्धों की कल्पना गुण-प्रति-

उसके अर्थ के विना नहीं जाना जा सकता[1]। शब्दों का अबाह्य या आन्तरिक स्वरूप हमारे विचार ही होते हैं जिनके लिये शब्द संकेतरूप से काम में लाये जाते हैं। इच्छा के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले 'काम' शब्द के और कार्य के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले 'काम' शब्द के उच्चारण में सदृश होने पर भी भिन्न भिन्न शब्द माने जाने का एक कारण उनका अर्थ-भेद ही है।

३—भाषा-विज्ञान का उद्देश्य और उपयोग

ऊपर कहा गया है कि विज्ञान में, सामान्य ज्ञान की तरह, उपयोग को दृष्टि में कम रक्खा जाता है। विज्ञान का प्रथम और मुख्य उद्देश्य मनुष्य की स्वाभाविक ज्ञान-पिपासा की तृप्ति होती है। व्याकरण-महाभाष्य में पतञ्जलि मुनि व्याकरणशास्त्र के प्रयोजनों को बतलाते हुए कहते हैं:—

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।[2]

अर्थात् षडङ्ग वेद के पढ़ने में ब्राह्मण की दृष्टि केवल ज्ञान की प्राप्ति होना चाहिये। आगे कहा है :—

असंदेहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्।[3]

अर्थात् अज्ञान-सुलभ संदेह के निवारणार्थ भी व्याकरण

---

१ देखो:—"रूपसामान्यादर्थसामान्यं नेदीयः" (गोपथब्राह्मण १।१।२६)। "अर्थनित्यः परीक्षेत" (निरुक्त २ अ० १ ख०)।

२ देखो—पस्पशाह्निक।

३ देखो—महाभाष्य, पस्पशाह्निक।

षेध आदि कार्यों को देखकर कर लेनी चाहिये। उणादिकों[1] में यही विधि जाननी चाहिये।

यह आवश्यक नहीं कि ऐसे वाक्यों को इसी आशय में लिया जावे कि हम प्रत्येक शब्द की मनमानी व्युत्पत्ति कर सकते हैं; परन्तु आजकल प्राय: यही आशय समझा जाता है। संस्कृत-वैयाकरण आज-कल प्रायः इस बात में अपना अपमान समझते हैं कि वे किसी शब्द की व्युत्पत्ति न कर सकें।

शब्द-व्युत्पत्ति की प्राचीन मनमानी प्रक्रिया और आधुनिक वैज्ञानिक प्रक्रिया में मुख्य भेद यह है कि इसमें स्वेच्छाचारिता बिल्कुल नहीं है। यद्यपि साज-कल भी यह माना जाता है कि शब्दों और उनके अर्थों में जो परिवर्तन हो सकते हैं उनको पक्के निश्चित नियमों में नहीं बाँधा जा सकता, तो भी आज-कल की प्रक्रिया की विशेषता यह है कि किसी शब्द की व्युत्पत्ति करने में अनेक प्रमाणों की, विस्तृत तुलना की और अत्यन्त सावधानता की आवश्यकता समझी जाती है।

७—वर्ण-विकार-संबन्धी नियम

शब्दों को व्युत्पत्ति करने में या दो सम्बन्धी शब्दों की तुलना करने में सबसे पहिले वर्ण-विकार-संबन्धी नियमों का जानना आवश्यक है। भाषा के परिवर्तन में एक बड़ा कारण शब्दों के उच्चारण में परिवर्तन है। इसी के कारण

१ देखो अष्टाध्यायी ३।३।१

को पढ़ना चाहिये। इन उद्धृत वाक्यों से यह स्पष्ट है कि अज्ञानसुलभ संदेहों का वारण और स्वाभाविक ज्ञानपिपासा की तृप्ति ही किसी विज्ञान का मुख्य उद्देश्य होना चाहिये। इसलिये भाषा के विषय में, जो कि मनुष्यों को पशुओं से बड़ी विशेषता है, स्वाभाविक ज्ञान की पिपासा को बुझाना ही भाषा-विज्ञान का मुख्य उद्देश्य है।

भाषा-विज्ञान के द्वारा ही शब्दों और उनके अर्थों के विषय में, उनके इतिहास के पता लगने से, अनेक रहस्य स्पष्ट होते हैं। उदाहरणार्थ, बहुत से शब्द ऐसे हैं जिनका आधुनिक स्वरूप एक होने पर भी अर्थ भिन्न भिन्न है। भाषा-विज्ञान के द्वारा हमें इस अर्थ-भेद का कारण ज्ञात होता है। जैसे ऊपर उल्लेख किये गये 'काम' शब्द के अर्थ हिन्दी में (१) धन्धा, और (२) इच्छा के हैं। शब्द के स्वरूप को देखने से इस अर्थ-भेद का कारण ज्ञात नहीं होता; परन्तु भाषा-विज्ञान के द्वारा यह जानकर, कि धन्धा के अर्थ में प्रयुक्त 'काम' संस्कृत 'कर्मन्', प्राकृत 'कम्म' से निकला है और इच्छार्थक 'काम' संस्कृत 'काम' शब्द ही है, अर्थ-भेद का कारण स्पष्ट हो जाता है। शब्द और अर्थ के रहस्यों का इस प्रकार स्पष्टीकरण विद्वानों की दृष्टि में कुछ कम महत्त्व नहीं रखता। व्याकरण-महाभाष्य के टीकाकार कैयट ने कहा है :—
एक: शब्द: सम्यग्ज्ञात: सुष्ठु प्रयुक्त: स्वर्गे लोके कामधुग्भवति।[१]

---

१ देखो 'यस्तु प्रयुङ्क्ते' (महाभा०,पस्पशाह्निक) इत्यादि पर कैयट का प्रदीप।

एक मूल-शब्द कालान्तर में दूसरे रूप को धारण कर लेता है, और भिन्न भिन्न सम्बन्धी भाषाओं में भिन्न भिन्न रूपों में दिखलाई देता है। शब्दों में उच्चारण का परिवर्तन और वर्ण-विकार एक ही बात है। प्रश्न यह है कि ये वर्ण-विकार किन्हीं नियमों के अनुसार होते हैं या मनुष्यों की स्वेच्छा-चारिता पर निर्भर हैं।

ऊपरी दृष्टि से कुछ थोड़ी-सी शब्द-व्युत्पत्तियों को देखने से यह प्रतीत हो सकता है कि भाषाओं में उच्चारण-संबन्धी परिवर्तन नियम-रहित और आकस्मिक होते हैं। उदाहरणार्थ, नीचे दिये हुए सम्बन्धी शब्दों को लीजिये :—

संस्कृत	फ़ारसी	ग्रीक	लैटिन	गाथिक
अश्वः	अस्प	hippos (प्रान्तीय íkkos)	equus	aihva-

संस्कृत	अंग्रेज़ी	जर्मन	ग्रीक	लैटिन	प्राचीन-आइरिश
हंसः	goose	Gans	chēn	anser	gēis

साधारण दृष्टि से देखने से, सम्भव है, इन शब्द-वर्गों में परस्पर कोई सम्बन्ध न प्रतीत हो। ऐसी दशा में यदि किसी से यह कहा जावे कि 'अश्व' आदि या 'हंस' आदि सारे शब्द किसी एक ही मूल-शब्द से निकले हैं तो बहुत सम्भव है वह यही समझे कि शब्दों में किसी वर्ण के स्थान में कोई भी वर्ण

अर्थात् ठीक प्रकार से जाना हुआ और ठीक प्रयुक्त हुआ एक शब्द स्वर्ग और लोक में मनोरथ को पूर्ण करने वाला होता है।

इस उद्देश्य के अतिरिक्त भी भाषा-विज्ञान के कई उद्देश्य हैं जो बड़े उपयोग के हैं। अब इस बात को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि मनुष्य-जातियों के उस अति प्राचीन समय की दशा के--जिसका कोई लेख-बद्ध इतिहास नहीं मिलता--ज्ञान का एक मुख्य साधन भाषा ही है। मनुष्य-जाति और भाषा का अटूट संबन्ध है। सभ्यता की उन्नति के साथ साथ भाषा की उन्नति चलती है, जैसे सम्पत्ति की वृद्धि के साथ सिक्कों और नोटों की वृद्धि होती है। सम्पत्ति की वृद्धि होने पर व्यवहार के सौकर्यार्थ अधिक सिक्कों के ढालने की और नोटों के छापने की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार सभ्यता की उन्नति के साथ भिन्न भिन्न विचारों की वृद्धि होने से परस्पर विचारों के परिवर्तन के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि नये नये शब्दों की सृष्टि हो। दूसरे, भाषा केवल हमारे विचारों का संकेतमात्र है। इसलिये भाषा का अर्थ या विचारों के साथ एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा-विज्ञान के द्वारा भाषा के इतिहास की खोज होती है। इसलिये शब्दों के इतिहास से विचारों का इतिहास, और उसके द्वारा किसी जाति की सभ्यता का इतिहास निष्पन्न होता है। जिस प्रकार एक भूगर्भ-विद्या का जानने वाला भूमि की तह के

हो सकता है। यदि वस्तुत: ऐसा ही होता तो किसी भी शब्द को किसी शब्द से निकला हुआ कहा जा सकता था; और भाषा-विज्ञान विज्ञान न होकर एक मनमाना खेल हो जाता।

परन्तु एक ही भाषा में या परस्पर सम्बन्धी भाषाओं के एक वर्ग में वर्ण-विकारों को दिखलाने वाले कुछ अधिक उदाहरणों की यथाविधि तुलना और अध्ययन से यह शीघ्र ही स्पष्ट हो जावेगा कि वर्णों के विकार बहुत अंशों तक कुछ निश्चित नियमों का अनुसरण करते हैं। इन्हीं नियमों के लिये हमने ऊपर वर्ण-विकार-सम्बन्धी नियम कहा है। इन नियमों के विषय में यह अच्छा होगा कि किसी विशेष नियम का वर्णन करके उदाहरण द्वारा इनको स्पष्ट कर दिया जावे।

८—ग्रिम महाशय का नियम

भिन्न भिन्न भाषाओं और भाषा-परिवारों के विशेष वर्ण-विकार-सम्बन्धी नियम होते हैं यह ऊपर कहा जा चुका है। ऐसे नियमों में से एक बड़ा प्रसिद्ध नियम जैकब ग्रिम (Jacob Grimm, १७८५–१८६३) नामक जर्मन विद्वान् के नाम से प्रख्यात है। यद्यपि इसका पता डेनमार्क देश के आर० के० रास्क (R. K. Rask, १७८७–१८३२) नामक विद्वान् ने पहिले लगा लिया था, तो भी इसका पूर्ण और वैज्ञानिक रीति से स्पष्टीकरण पहिले-पहिल ग्रिम महोदय

अध्ययन से पृथ्वी का तथा उस पर एक के पीछे दूसरी जो प्राणियों की जातियाँ बसती रही हैं उनका इतिहास बना सकता है, इसी प्रकार भाषाविज्ञानी शब्दों के द्वारा मनुष्य-समाज के अति प्राचीन इतिहास का पता लगा सकता है।

भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार की भाषाओं के परस्पर तुलनात्मक अध्ययन से विद्वानों ने भारत-यूरोपीय जातियों की मूल-जाति के रहने-सहने और विचारों के विषय में जो खोज की है वह भाषा-विज्ञान के उपयोग का एक स्पष्ट उदाहरण है।

इसी प्रकार मनुष्य-जाति-विज्ञान, जिसमें भिन्न भिन्न मनुष्य जातियों की वंश-परंपरा आदि पर विचार किया जाता है, बहुत कुछ भाषा-विज्ञान का सहारा लेता है।

बहुत कुछ भाषा-विज्ञान के ही आधार पर मत-विज्ञान, जिसमें मनुष्य जाति के भिन्न भिन्न धार्मिक विश्वासों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है, और पुराण-विज्ञान, जिसमें भिन्न-भिन्न जातियों की परम्परागत पौराणिक गाथाओं पर तुलनात्मक विचार किया जाता है, इन दोनों की सृष्टि आधुनिक काल में हुई है। भिन्न भिन्न मनुष्य-जातियों की भाषाओं के, विशेषकर प्राचीन भाषाओं के, तुलनात्मक अध्ययन से पौराणिक गाथाओं के स्वभाव, सृष्टि और विकास पर, तथा मनुष्यों के धार्मिक विश्वासों के इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ा है।

भाषा-विज्ञान का एक बड़ा साक्षात् रूप से उपयोग

ने ही किया। इसलिये उनके नाम से ही यह नियम प्रसिद्ध है।

इस नियम का विशेष वर्णन आगे (परि० १० में) किया जावेगा। यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि इस नियम के द्वारा कुछ भाषाओं के वर्गों के—जिनमें औरों के साथ साथ संस्कृत, ग्रीक, लैटिन और अंग्रेज़ी भी सम्मिलित हैं—कुछ व्यञ्जनों में जो परस्पर सम्बन्ध हैं उनका स्पष्टीकरण किया जाता है। उदाहरणार्थ, इस नियम के अनुसार, संस्कृत 'प्' और 'त्' के स्थान में अंग्रेज़ी में क्रम से f और th पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, तुलना करो :–

संस्कृत	अंग्रेज़ी
(प्)	(f)
पितृ	father
पाद	foot
पुरु	full
प्लु	flow
(त्)	(th)
मातृ	mother
भ्रातृ	brother
त्रि	three
तनु	thin
त्वम्	thou

भाषाओं के, विशेषकर परस्पर संबन्ध रखने वाली भाषाओं के, सीखने में किया जा सकता है। अब तक भाषाओं के नियमों को उनका कारण समझाये विना ही बतलाया जाता रहा है। भाषा-विज्ञान से उनके कारण समझने समझाने में बड़ी सहायता मिल सकती है। उदाहरणार्थ, तृतीया विभक्ति के एकवचन में 'करिन्' शब्द से 'करिणा' (करिन्+ा) बनना स्वाभाविक है— परन्तु 'हरि' शब्द से 'हरिणा' कैसे बना? यह सहज में समझ में नहीं आता। भाषा-विज्ञान से यह जानकर कि 'करिणा' के साथ मिथ्या-सादृश्य ही इसका कारण है सब बात स्पष्ट समझ में आ जाती है। भाषा-विज्ञान से अपरिचित मनुष्य इसका कारण पाणिनि मुनि का—'आङो नास्त्रियाम्'[1]—सूत्र ही बतलावेगा। इसी प्रकार संधि के नियमों का कारण भाषा-विज्ञान से ही स्पष्ट होता है। दो सम्बन्ध रखने वाली भाषाओं में जो परस्पर भेद होते हैं प्रायः उनको निश्चित नियमों में बाँधा जा सकता है। भाषा-विज्ञान के द्वारा ही ऐसा हो सकता है। उदाहरणार्थ, वैदिक संस्कृत और पारसियों की धर्म्म-पुस्तक अवस्ता की भाषा ज़िन्द दोनों परस्पर बहुत मिलती-जुलती हैं। इनमें जो उच्चारण आदि के भेद हैं वे निश्चित नियमों के साथ हैं। उन नियमों द्वारा यदि कोई इन दोनों में से एक भाषा को जानने वाला दूसरी भाषा सीखना चाहे तो बड़ी सरलता से ऐसा कर सकता है।

---

१ अष्टाध्यायी ७।३।१२०

९—वर्ण-विकार-संबन्धी कुछ और नियम

वर्ण-विकार-संबन्धी नियमों के लिये ग्रिम महाशय के नियम की तरह अति विस्तृत होना आवश्यक नहीं। उसकी अपेक्षा अधिक संकुचित क्षेत्र से संबन्ध रखने वाले नियमों के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

संस्कृत 'य्' के स्थान में आज-कल की भारतवर्ष की आर्य-भाषाओं में प्रायः 'ज्' देखा जाता है; जैसे :—

संस्कृत	हिन्दी
यौवन	जोबन
यातु	जादू
यात्रा	जात्रा
यमुना	जमना
यान	जाना
योनि	जोन
यति	जती
यव	जौ

संस्कृत 'स्' के स्थान में फ़ारसी में 'ह्' पाया जाता है; जैसे :—

यह दुःख की बात है कि प्राय: करके अभी तक भाषा सीखने की ऐसी पोथियों का निर्माण नहीं हुआ है जिनमें विद्यार्थी को इस सिद्धान्त के अनुसार दूसरी भाषा सिखाने का यत्न किया गया हो। तो भी कुछ विद्वानों ने इस बात की सत्यता की परीक्षा प्रयोग द्वारा की है, और उनका यह दृढ़ मत है कि भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तों की सहायता से भाषाओं के सीखने में बड़ी सहायता मिलती है।

४—व्याकरण और भाषा-विज्ञान

भाषा-विज्ञान के स्वरूप को स्पष्टतया बुद्धि-गत करने के लिये यह आवश्यक है कि उसका सम्बन्ध व्याकरण से दिख-लाया जावे। व्याकरण किसी भाषा के ज्ञान के लिये ही सीखा जाता है। इसलिये बहुत संभव है कि भाषा-विज्ञान के स्वरूप के साथ व्याकरण के स्वरूप का संकर हो जाने से दोनों का यथार्थ स्वरूप पृथक् पृथक् न समझ पड़े। परन्तु थोड़े से विचार से दोनों का भेद स्पष्ट हो जाता है।

सबसे प्रधान भेद व्याकरण और भाषा-विज्ञान में यह है कि ठीक ठीक अर्थों में व्याकरण कोई विज्ञान नहीं है, किन्तु एक कला है। परन्तु भाषा-विज्ञान, जैसा कि नाम से ही प्रतीत है, एक विज्ञान है। यह ठीक है कि व्याकरण और भाषा-विज्ञान दोनों का भाषा से ही सम्बन्ध है, परन्तु दोनों की दृष्टि और उद्देश्य भिन्न भिन्न होने से दोनों का परस्पर भेद है। व्याकरण

संस्कृत	प्राचीन-फ़ारसी	आधुनिक-फ़ारसी
सिन्धु	हिन्दु	हिन्द
सप्त	—	हफ़्त
सर्व	हरुव	हर
सम (= समस्त)	हम	हम

इसी प्रकार और और नियमों को भी जानना चाहिये। साथ साथ प्रत्येक वर्ण-विकार-संबन्धी नियम के विषय में यह भी जानना चाहिये कि उसका विस्तार कितना है? उसका कोई अपवाद भी है या नहीं? यदि है, तो उसका क्या स्वरूप तथा कारण है? यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त तुलना आदि की रीति से ही इन बातों का निश्चय किया जा सकता है।

—

का उद्देश्य केवल किसी विशेष भाषा के व्यावहारिक उपयोग को दृष्टि में रखकर व्यवहारोपयोगी साधुत्व असाधुत्व का सामान्य ज्ञान होता है[1]। किसी भाषा के व्याकरण को जानने के लिये किसी दूसरी भाषा के ज्ञान की आवश्यकता नहीं। परन्तु भाषा-विज्ञान की दृष्टि किसी विशेष भाषा के सामान्य ज्ञान तक परिमित न रहकर भिन्न भिन्न काल और देशों की भाषाओं की ओर भी जाती है। भाषा-विज्ञान के व्यापक सिद्धान्त और नियम स्थिर करने के लिये अनेक भाषाओं के ज्ञान की आवश्यकता है। एक भाषा का संबन्ध दूसरी पृथक्कालीन और पृथग्देशीय भाषाओं के साथ जाने बिना भाषा-विज्ञान में काम ही नहीं चल सकता। जब कभी किसी विशेष भाषा का भी भाषा-विज्ञान की रीति से विचार किया जाता है तब भी अन्य भाषाओं से परिचय की ख़ास आवश्यकता पड़ती है।

व्याकरण और भाषा-विज्ञान का दूसरा भेद यह है कि व्याकरण भाषा के सिद्ध स्वरूप को सिखाता है। सिद्ध स्वरूप के कारण की खोज में यह प्रयत्नवान् नहीं होता। व्याकरण की दृष्टि को हम व्याकरण-महाभाष्य के शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं:—

---

१ तुलना करो:—"साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः" (वाक्यपदीय १।१४३)।

सातवाँ परिच्छेद
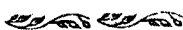
भाषा की उत्पत्ति

१—भाषोत्पत्तिविषयक भिन्न भिन्न मत

'अतिपरिचयादवज्ञा' किसी से अति परिचय होने से उसके विषय में हमें बहुत कुछ अवज्ञा हो जाती है, या कम से कम उसके विषय में अधिक उत्सुकता नहीं रहती। इस नियम के अनुसार भाषा के साथ हमारा अति गहरा संबन्ध होने से प्रायः यह प्रश्न भी हमारे मन में कभी पैदा नहीं होता कि मनुष्यभाषा की उत्पत्ति या प्रवृत्ति संसार में आदि आदि में किस प्रकार हुई होगी। एक साधारण अशिक्षित मनुष्य से यदि इस प्रश्न को पूछा जावे तो वह तो यही उत्तर देगा कि उसकी भाषा उसी रूप में जिसमें वह उसे बोलता है सदा से चली आई है। परन्तु एक वैज्ञानिक चर्चा में एक अशिक्षित मनुष्य की निराधार बुद्धि का कोई मूल्य न होने से इसके विषय में कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। भाषा की परिवर्तनशीलता ऊपर अच्छी तरह दिखलाई जा चुकी है। इस परिच्छेद में हम भाषा की उत्पत्ति के विषय में जो विद्वानों के भिन्न भिन्न मत पाये जाते हैं उनका ही वर्णन तथा परीक्षा करेंगे।

कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य
लक्षणं प्रवृत्तम् ? सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे।[1]

अर्थात् पाणिनि आचार्य ने शब्द, अर्थ और इनके संबन्ध को स्वतःसिद्ध मानकर अपने शास्त्र की रचना की है। उदाहरण के लिये व्याकरण यह नहीं बतलाता कि आदि में 'गौ की एषणा' इस अर्थ को रखने वाला 'गवेषणा' शब्द 'अनुसन्धान' के अर्थ में कैसे प्रयुक्त होने लगा, तथा 'करिन्' शब्द से 'करिणी' होना तो स्वाभाविक है—परन्तु 'हरि' शब्द से 'हरिणी' कैसे बन गया। परन्तु भाषा-विज्ञान शब्द, अर्थ और इनके संबन्ध को सिद्ध मानकर प्रवृत्त नहीं होता। भाषा-विज्ञान की चेष्टा यही रहती है कि शब्दों के वर्तमान या सिद्ध रूपों के कारण को खोजकर उनके इतिहास और दूसरी मिलती-जुलती प्रचलित भाषाओं के साथ संबन्ध को प्रकट करे। दूसरे शब्दों में, व्याकरण भाषा के निष्पन्न स्वरूप को बतलाता है, परन्तु भाषा-विज्ञान उस स्वरूप के कारण या मूल की खोज करता है।

इन भेदों से यह बात स्पष्ट है कि भाषा-विज्ञान व्याकरण का आधार-भूत है। व्याकरण को भाषा-विज्ञान के अनुसार पीछे पीछे चलना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, भाषा-विज्ञान व्याकरणों का व्याकरण है। इसी कारण कोई कोई इसको 'तुलनात्मक व्याकरण' कहते हैं। व्याकरण और निर्वचन-शास्त्र,

---

१ महाभाष्य, पस्पशाह्निक।

ऊपर दिखला चुके हैं कि भाषा कभी एक स्थिर स्वरूप में नहीं रहती, और इसी से सदा परिवर्तन-शील है। भिन्न भिन्न भाषाओं की रचना पर दृष्टि डालने से यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि उनके विकास का आधार कुछ मूल-तत्त्वों पर है। इन मूल-तत्त्वों को हम 'धातु' शब्द से निर्देश कर सकते हैं। संस्कृत आदि भाषाओं का जो इतिहास मिलता है उसका साक्ष्य भी इसी सिद्धान्त के पक्ष में है कि भाषाओं का आधार धातुयें हैं। परन्तु उपर्युक्त कथन से इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता कि भाषा की प्रारम्भिक प्रवृत्ति संसार में किस प्रकार हुई तथा उसका सबसे पहिला स्वरूप क्या था। भाषाओं के इतिहास का साक्ष्य इन प्रश्नों पर कुछ प्रकाश नहीं डालता।

मनुष्य ने पृथ्वी पर पहिले-पहिल बोलना किस रूप में किस प्रकार आरम्भ किया? इस प्रश्न के निर्णय करने का साधन यही है कि हम भाषा के भिन्न भिन्न रूपों की परस्पर तुलना-पूर्वक भाषा के स्वभाव पर विचार करें, मनुष्यों की भिन्न भिन्न स्वभावसिद्ध तथा कृत्रिम शक्तियों के विचार-पुरःसर मनुष्य के सामान्य स्वभाव को समझें, और इस प्रकार भाषा-विषयक तथा मनुष्य-स्वभाव-विषयक सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर भाषा की उत्पत्ति के विषय में अनुमान-द्वारा किसी निश्चय तक पहुँचने का प्रयत्न करें। इस प्रकार अति-जटिल होने पर भी यह प्रश्न बड़ा मनोरञ्जक नहीं है ऐसा

(जो कि भाषा-विज्ञान का एक आवश्यक अङ्ग है) के संबन्ध को निरुक्तकार **यास्क आचार्य** अपने शब्दों में इस प्रकार कहते हैं :—

तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च[१]।

अर्थात् निरुक्त या निर्वचन-शास्त्र अपने विशेष उद्देश्य की पूर्ति के साथ साथ व्याकरण की कृत्स्नता को भी संपादन करता है।

५—साहित्य और भाषा-विज्ञान

इसी प्रसङ्ग में साहित्य और भाषा-विज्ञान के संबन्ध के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। एक साहित्य का पण्डित अपने को भाषा का विद्वान् समझता है। यह है भी ठीक, क्योंकि किसी भाषा का उत्कृष्ट या परिष्कृत स्वरूप उसके साहित्य से ही बनता है। भाषा-विज्ञान का विषय भाषा है यह ऊपर कह ही चुके हैं। परन्तु इस प्रकार भाषा से संबन्ध होने के कारण ऊपरी समानता होने पर भी दोनों में बड़ा भेद है। साहित्य के अध्ययन में भाषा का विचार प्राधान्येन अर्थ की दृष्टि से होता है। परन्तु भाषा-विज्ञान में भाषा के स्वरूप का ही विचार किया जाता है। साहित्य के पढ़ने वाले का उद्देश्य साहित्य में प्रकट किये गये सुन्दर सुन्दर विचारों का आस्वादन करना ही होता है। परन्तु भाषाविज्ञानी किसी

---

१ निरुक्त १।१५

कोई नहीं कह सकता। इस प्रश्न का निश्चित रूप से अन्तिम निर्णय चाहे हम न कर सकें, तो भी आशा है कि इस विषय में पाये जाने वाले भिन्न भिन्न मतों की आपेक्षिक दुर्बलता दिखला देने से लगभग निश्चिन्त सिद्धान्त तक पहुँचने में बड़ी सहायता मिलेगी।

भाषा की उत्पत्ति के विषय में जो भिन्न भिन्न मत पाये जाते हैं वे मुख्यतया ये हैं :—

(१) मनुष्य की सृष्टि के साथ ही साथ एकाएक दैवी शक्ति के द्वारा एक अनोखे प्रकार से पूर्ण-रूप से निष्पन्न भाषा की सृष्टि संसार में हुई।

(२) मनुष्यों ने जब यह देखा कि हस्तादि के संकेत आदि के द्वारा वे अपने विचारों को एक दूसरे पर अच्छी तरह प्रकट नहीं कर सकते तब उन्होंने विचार-पूर्वक स्वयं भाषा का निर्माण किया।

(३) मनुष्यों के विचारों और भाषा का नित्य तथा अटूट संबन्ध होने से मनुष्य-सृष्टि के आरम्भ में ही मनुष्यों के विचार स्वभाव से ही भाषा के मूल-तत्त्व-स्वरूप कुछ धातुओं द्वारा प्रकट हो गये। फिर धीरे धीरे उन धातुओं के आधार पर भाषा का विकास हुआ।

(४) अनुकरणात्मक तथा हर्ष-क्रोधादि-मनोराग-व्यञ्जक शब्दों के द्वारा तथा उनके आधार पर, परस्पर विचार-परि-

भाषा की परीक्षा केवल उस भाषा के स्वरूप को जानने के लिये करता है। उसके लिये किसी साहित्य का उपयोग वहीं तक है जहाँ तक कि उसको उसकी परीक्षा से भाषा की ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि में सहायता मिल सके। इसी लिये भाषा-विज्ञानी साहित्य के उपकार और उपयोग को मानता हुआ भी अपनी दृष्टि को साहित्य-संपन्न भाषाओं में ही परिमित न कर साहित्य-शून्य साधारण ग्रामीण बोलियों की भी परवा करता है। एक साहित्य के रसिक के लिये इन बोलियों का कोई मूल्य ही नहीं। एक वनस्पति-विज्ञानी और माली में जो भेद है वस्तुतः वैसा ही भेद एक भाषाविज्ञानी और साहित्य-सेवी में है। वनस्पति-विज्ञानी की दृष्टि किसी विशेष प्रकार की हरियाली में परिमित न रहकर सब प्रकार के, साधारण से साधारण, पौधों तक फैली होती है। इसी उपाय से वह वनस्पतियों की बनावट तथा जीवन आदि के नियमों का पता लगा सकता है। परन्तु माली को केवल सुन्दरता, सुगन्ध या और किसी उपयोग की दृष्टि से आवश्यक विशेष प्रकार की वनस्पतियों से ही सरोकार होता है। उसको किसी जंगली घास-पत्त से कोई संबन्ध नहीं।

ऊपर के भेद से मिलता-जुलता ही भाषा-विज्ञानी और साहित्यज्ञ में एक और भेद है। भाषा-विज्ञानी के लिये, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, एक भाषा का जानना काफ़ी नहीं। संस्कृत, फ़ारसी, लैटिन, ग्रीक भाषाओं में से किसी एक के

वर्तन में सरलता को उद्देश्य रखकर, स्वभावतः धीरे धीरे भाषा का विकास हुआ।

२—भाषोत्पत्ति-विषयक प्रथम मत और उसकी समीक्षा

सबसे पहिले हम —भाषा मनुष्य-सृष्टि के साथ ही साथ एकाएक दैवी शक्ति द्वारा उत्पन्न हो गई—इस मत को लेते हैं। इस मत के मानने वालों का आशय यह है कि मनुष्य-सृष्टि के होते ही दैवी शक्ति ने भाषा की उत्पत्ति करके किसी अनोखी लोकोत्तर शक्ति के द्वारा उसे तत्काल ही मनुष्यों को सिखला दिया। वे समझते हैं कि जिस प्रकार अपनी इच्छा और विचार-शक्ति के दख़ल के विना ही मनुष्य-सृष्टि के प्रारम्भ से ही मनुष्य स्वभाव-वश श्वास-प्रश्वास करने लगे, इसी प्रकार अपनी इच्छा और विचार-शक्ति के प्रयोग के विना ही दैवी शक्ति की प्रेरणा से मनुष्य स्वभाव से ही बोलने लगे। उनका विचार है कि यदि हम इस बात को मानते हैं कि ईश्वर ने मनुष्य-सृष्टि को पैदा किया, तो यह भी मानना चाहिये कि ईश्वर ने उसी समय शब्दों और धातुओं आदि के द्वारा मनुष्य-भाषा का भी निर्माण किया; ऐसा न मानने से ईश्वर के महत्त्व और ईश्वरत्व में कमी आती है।

संसार के भिन्न भिन्न धर्मों से सम्बन्ध रखने वाले धर्म-गुरुओं के भाषोत्पत्ति-विषयक मत प्रायः इसी मत के

साहित्य को जानने वाले के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह दूसरी भाषाओं के साहित्य को भी जाने। परन्तु भाषा-विज्ञानी केवल एक भाषा को ही जाने यह हो ही नहीं सकता। क्योंकि अनेक भाषाओं के जाने विना तुलना करना, जो भाषा-विज्ञान का मुख्य आधार है, असंभव है।

इससे यह न समझना चाहिये कि भाषा-विज्ञान में साहित्य का अधिक उपयोग नहीं है। इसके विपरीत, भाषा-विज्ञान को साहित्य से बड़ी भारी सहायता मिलती है। किसी भाषा का स्वरूप उसके साहित्य को पढ़े विना ठीक ठीक सरलता से समझ में नहीं आता। इससे भी अधिक बड़ी सहायता भाषा के समय-भेद से होने वाले ऐतिहासिक परिवर्तनों के समझने में, और उसके आधार पर किसी भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन करने में साहित्य से मिलती है। उदाहरणार्थ, भारतयूरोपीय भाषाओं में विशेषकर, और संसार भर की भाषाओं में सामान्यकर, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से जो संस्कृत की प्रधानता है उसका मुख्य कारण संसार के सब से प्राचीन वेद के साहित्य का उसमें होना ही है।

इसके साथ ही, भाषा-विज्ञान से जो कुछ सहायता एक साहित्यज्ञ को साहित्य के, विशेषकर प्राचीन साहित्य के समझने में मिल सकती है उसका कुछ निर्देश हम ऊपर भाषा-विज्ञान के उपयोग को बतलाते हुए कर चुके हैं। अति-प्राचीन-कालीन साहित्य का समझना तो भाषा-विज्ञान

अन्दर आ जाते हैं। इन लोगों के भाषोत्पत्ति-विषयक कथनों में भाषा की उत्पत्ति में मनुष्यों की अपनी इच्छा और विचार-शक्ति की अनपेक्षा, मनुष्य सृष्टि के साथ ही साथ पूर्ण-रूप से निष्पन्न भाषा की सृष्टि, और मनुष्य का अपने-आप ही एक दैवी शक्ति की प्रेरणा से उसी भाषा को बोलने लगना, इन बातों की समानता देखी जाती है। ये लोग अपनी-अपनी धर्म-पुस्तक की भाषा को सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुई, सब भाषाओं से प्राचीन, तथा उनकी मूल-भाषा समझते हैं। संसार की अन्य भाषायें उसी एक भाषा से बिगड़कर बनी हैं और उसी की शाखा-प्रशाखायें हैं।

उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में वेदों को ईश्वरीय पुस्तक मानने वाले कहते हैं कि संस्कृत वेदों की भाषा है, वेद अनादि हैं, सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने मनुष्य-समाज के हित के लिये नित्य वेदों का प्रादुर्भाव किया। इसलिये वेदों की भाषा भी नित्य है। संस्कृत देव-भाषा है। यही पृथ्वी की अन्यान्य भाषाओं की मूल-भाषा है[1]। मनुस्मृति में लिखा है :—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥ १ । २१ ॥

---

१ यहाँ वेद आदि धर्म-पुस्तकों की भाषा मूल- या आदि-भाषा नहीं हो सकती—इसी का विचार किया गया है। अर्थ-दृष्टि से ये पुस्तकें ईश्वरीय पुस्तक हो सकती हैं या नहीं—इस विचार से यहाँ कोई संबन्ध नहीं है।

पर ही बहुत कुछ निर्भर है। क्योंकि अनेक शब्द उस साहित्य में ऐसे हो सकते हैं जिनका उसके पीछे के साहित्य में या तो पता ही नहीं होता, या पता होने पर भी उनके अर्थों में बड़ा भेद पड़ गया होता है। ऐसी अवस्था में दूसरी संबन्ध रखने वाली भाषाओं की तुलना से, या भाषा-विज्ञान में बतलाये गये किसी दूसरे उपाय से ही उन शब्दों का अर्थ किया जा सकता है।

६—भाषा-विज्ञान और बहु-भाषा-ज्ञान

ऊपर कहा गया है कि भाषा-विज्ञान का आधार भिन्न भिन्न भाषाओं की तुलना पर है। इससे यह समझा जा सकता है कि भाषा-विज्ञानी के लिये बहुतसी भाषाओं का पूरा पूरा विद्वान् होना आवश्यक है। भाषा-विज्ञान को न जानने वाले भाषा-विज्ञानी से प्रायः ऐसी आशा भी करते हैं। परंतु थोड़े-से विचार से ही यह बात स्पष्ट हो जावेगी कि भाषा-विज्ञानी के लिये यह आवश्यक नहीं है कि जिन भाषाओं पर भी वह विचार करे उनका पूरा पूरा विद्वान् हो। पृथिवी पर सैकड़ों भाषायें हैं जिनके प्रान्तीय भेद हज़ारों हैं। यदि भिन्न भिन्न स्थानों, बिरादरियों, वर्गों और पेशों की भाषाओं को लिया जावे तो भाषा के असंख्य भेद हो जाते हैं। इन असंख्य भेदों को दृष्टि में रखते हुए यह स्पष्ट है कि कोई भाषा-विज्ञानी, चाहे कैसा ही विद्वान् क्यों न हो, भाषा के केवल एक अंश से

अर्थात्, ब्रह्मा ने भिन्न भिन्न कर्मों और व्यवस्थाओं के साथ साथ सारे नामों का निर्माण भी सृष्टि के आदि में वेद-शब्दों से ही किया। आगे कहा है :—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।

दुदोह यज्ञ-सिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥ १ । २३ ॥

अर्थात्, यज्ञ-सिद्धि के लिये ऋग्-यजुः-सामात्मक सनातन ब्रह्म को ब्रह्मा ने अग्नि, वायु और रवि से दुहा।

इसी प्रकार बौद्ध लोग अपनी धर्म-पुस्तकों की पालि (या मागधी) भाषा को, जो स्पष्टतया संस्कृत से निकली है, समस्त भाषाओं की मूल-भाषा समझते हैं। पालि-व्याकरण के रचयिता कच्चायन कहते हैं :—"एक भाषा (सारी भाषाओं की) मूल है; कल्प के आरम्भ में मनुष्य और ब्राह्मण, जिन्होंने पहिले एक मनुष्य-स्वर भी मुख से नहीं निकाला था, इसी को बोलने लगे। भगवान् बुद्ध भी इसी को बोलते थे। वह भाषा मागधी है।"[1] एक और जगह कहा है[1]:—यदि माता पिता अपनी भाषा बच्चे को न सिखलावें तो वह स्वाभाविकतया मागधी भाषा को ही बोलेगा। इसी प्रकार एक निर्जन वन में रक्खा हुआ आदमी यदि स्वभाव-वश बोलने का प्रयत्न करे तो उसके मुख से मागधी ही निकलेगी।

---

१ देखो M. Müller: *Lectures on the Science of Language*, १८८५, भाग १, पृ० १४६-७

ही अच्छी तरह परिचित हो सकता है। उसके लिये यह भी लगभग असंभव सा है कि वह किसी एक भाषा के ही प्रान्तीय स्थानीय आदि समस्त भेदों को अच्छी तरह जान सके।

वस्तुतः बहु-भाषा-ज्ञानी या बहु-भाषा-भाषी और भाषा-विज्ञानी में बड़ा भेद है। अनेक भाषाओं को जानना और उनको आसानी से बोल सकना यह बहुत अंश तक मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर निर्भर है। किन्हीं किन्हीं में यह प्रवृत्ति आश्चर्यजनक होती है। प्रत्येक मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता। इसलिये भाषा-विज्ञानी के लिये बहु-भाषा-ज्ञानी या बहु-भाषा-भाषी ठहराना ठीक नहीं। सच तो यह है कि बहुत से मनुष्य अनेक भाषाओं के सीखने में असाधारण प्रवृत्ति रखते हुए भी, वैज्ञानिक प्रक्रिया से अपरिचित और समालोचना-शक्ति से रहित होने से, ठीक ठीक भाषा-विज्ञानी नहीं बन सकते। एक फ्रेंच विद्वान् महाशय होव्लाक अपनी पुस्तक 'भाषा-विज्ञान'[१] में लिखते हैं—"भाषाओं का प्रयोगात्मक ज्ञान, या, और ठीक शब्दों में, उनको आसानी और शुद्धता के साथ बोलने की कला प्रधानतया स्वाभाविक शक्ति पर निर्भर होती है। उस शक्ति का भी विकास थोड़े बहुत लंबे अभ्यास से होता है। परन्तु उसको एक विज्ञान मानना भूल है। हमको यह देखकर प्रायः आश्चर्य होता है कि

१ Hovelacque, *The Science of Language,* अँगरेज़ी अनुवाद (१८७७), पृ० ११.

इसी भाषा का प्राधान्य तीनों लोकों में है। अन्यान्य भाषायें परिवर्तन-शील हैं; यही एक सदा एक-रूप में रहती है। भगवान् बुद्ध ने अपने तिपिटक की रचना भी इसी सनातन भाषा में की है।

इसी तरह ईसाई लोग और विशेषकर कैथलिक-मतानुयायी कहते हैं कि हिब्रू भाषा, जिसमें कि उनकी 'प्राचीन विधान' (Old Testament) नाम की धर्म-पुस्तक है, पृथ्वी की सारी भाषाओं से प्राचीन भाषा है और सारी भाषायें इसी से निकली हैं, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में अदन के बाग़ में रहने वाले आदम और हव्वा इसी भाषा में बात-चीत करते थे। एक महाशय लिखते हैं कि दुनियाँ का सारा प्राचीन इतिहास इसको सिद्ध करता है कि हिब्रू से ही मनुष्य-भाषा का प्रारम्भ हुआ[1]।

समीक्षा। इस मत की समीक्षा करने से पहिले यह बतला देना आवश्यक है कि भाषोत्पत्ति-विषयक इस मत से भाषा-विज्ञान की उन्नति में बड़ी भारी बाधा पड़ती रही। यूरोप में अठारहवीं शताब्दी तक लोग यह मानते रहे कि हिब्रू से ही ग्रीक, लैटिन, तुर्की, फ़ारसी आदि पृथ्वी की सारी भाषायें निकली हैं। इस अन्ध-विश्वास के

---

१ देखो M. Müller महाशय की उपर्युक्त पुस्तक, भाग १, पृ० १४५

भाषा-विज्ञान-विषयक अनेक गूढ़ ग्रन्थों का एक लेखक तीन या चार भिन्न भिन्न भाषाओं में बात-चीत नहीं कर सकता। ऐसे विद्वान् को अपनी मातृ-भाषा को छोड़ अन्य किसी भाषा को सरलता और स्पष्टता के साथ प्रयोग करने की योग्यता न रखते हुए देखकर हमारा आश्चर्य और भी बढ़ जाता है। इस आश्चर्य का कारण हमारी उलटी समझ ही है। भाषा-विज्ञानी और बहु-भाषा-ज्ञानी में भेद है, या, कम से कम, भाषा-विज्ञानी के लिये बहु-भाषा-ज्ञानी होना आवश्यक नहीं।"

परन्तु भाषा-विज्ञानी को कुछ मुख्य मुख्य भाषाओं के, जिनसे उसका विशेष संबन्ध है, प्रधान रूप से अच्छी तरह परिचित होना आवश्यक है। ऐसा होने से ही उसको उन भाषाओं की असली रचना का अपना निजी अनुभव होने से भूल होने की संभावना नहीं रहेगी। वैसे तो जितनी ही भाषायें वह अच्छी तरह जानता है उतना ही अच्छा है। और यदि संस्कृत, अरबी, चीनी जैसी भिन्न भिन्न भाषापरिवारों से संबन्ध रखने वाली भाषाओं को वह जानता है तब तो कहना ही क्या है। परन्तु ऐसा होना बहुत कठिन है। इसलिये, जैसा ऊपर कहा गया है, कम से कम अपने से विशेष संबन्ध रखने वाली दो-तीन भाषाओं को भाषा-विज्ञानी को अच्छी तरह जानना चाहिये।

जैसे एक विज्ञान का दूसरे विज्ञान से संबन्ध होते हुए भी एक विज्ञान का विद्वान् दूसरे विज्ञान की बातों के लिये

दिनों में भाषाओं की परस्पर तुलना आदि के द्वारा उनका वर्गीकरण आदि करना, जो कि भाषा-विज्ञान की मूल-भित्ति है, नितरां असंभव था। इसी कारण मनमानी व्युत्पत्तियों और युक्तियों के द्वारा किसी भाषा के एक शब्द का संबन्ध दूसरी भाषा के शब्द के साथ दिखलाया जाता रहा।

भाषा के देश-कृत और काल-कृत भेदों पर दृष्टि डालने से, जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है, भाषा की परिवर्तन-शीलता स्पष्ट हो जाती है। साहित्य की दृष्टि से किसी उन्नत भाषा को लें, जिसका इतिहास मिलता हो, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा की उन्नति धीरे धीरे क्रम-विकास के सिद्धान्त के अनुसार होती है। इसी लिये सभ्य और असभ्य जातियों की भाषाओं में बड़ा अन्तर दीख पड़ता है।

भाषा का सारा इतिहास इसका साक्षी है कि लेखन-कला, कविता, चित्र-विद्या, वास्तु-विद्या आदि अन्यान्य कलाओं की तरह, जो धीरे धीरे सभ्यता के उन्नत होने के साथ साथ उन्नत होती हैं और जिनका आविष्कार और विकास दोनों मनुष्य के अधीन हैं, भाषा भी मनुष्य के आश्रय में अनेक परिवर्तनों में, भिन्न भिन्न प्रकार की आवश्यकताओं के अनुसार नये अनुभव और ज्ञान को शब्द-द्वारा प्रकट करने के लिये नये नये रूपों में गुज़रती हुई उत्कृष्टता की ओर बढ़ती रही है। इस प्रकार देखने से किसी भी भाषा को लेवें हमें उसमें एक बहुत बड़ा भाग ऐसा मिलेगा जिसको स्पष्ट रीति

दूसरे विद्वानों पर आश्रित होता है—इसी प्रकार भाषा-विज्ञान में एक दो भाषाओं के विद्वान् को दूसरी भाषाओं की बातों के लिये अन्य विद्वानों का विश्वास करना चाहिये। उसका बड़ा भारी कर्तव्य यह है कि वह इस बात का निर्णय बड़े ध्यान से करे कि किस भाषा के लिये किस विद्वान् की पुस्तक पूरी पूरी प्रमाण मानी जा सकती है। उन पुस्तकों से भी उदाहरणों आदि के उद्धरण में बड़ी सावधानता की आवश्यकता है। इन बातों का ध्यान न रखने से अच्छे अच्छे लेखकों के ग्रन्थों में प्रायः भूलें और अशुद्धियाँ पाई जाती हैं। साथ ही भाषा-विज्ञानी को चाहिये कि जिन भाषाओं का उसे विशेष ज्ञान नहीं है उनके विषय में भी सामान्य ज्ञान यथासंभव प्राप्त करे। उसी अवस्था में वह उनके विषय में दूसरे विद्वानों की बातें समझ सकता है।

से मनुष्यों ने अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये बुद्धि और विचार को काम में लाकर बनाया है। इस दशा में यदि बहुत थोड़ासा भाग ऐसा प्रतीत भी हो जिसका कोई इतिहास न मिलता हो, तो हम इसी आधार पर उसे दैवी शक्ति द्वारा मनुष्य की इच्छा और बुद्धि के दख़ल के विना स्वभाव से ही पैदा हुआ नहीं कह सकते।

इस बात का कोई निषेध नहीं कर सकता कि किसी भाषा के आरम्भ की अवस्था से उसकी उन्नत अवस्था में बड़ा भारी अन्तर पाया जाता है। कोई भाषा प्रारम्भ से ही पूरी पूरी रीति से परिपक्व या निष्पन्न अवस्था में नहीं पहुँच जाती। शनैः शनैः विकास करती हुई ही वह कालान्तर में जटिल रचना वाली, भिन्न भिन्न पदार्थों, उनके गुणों, क्रियाओं और गूढ विचारों के लिये पृथक् पृथक् संकेतों वाली, पदार्थों और विचारों के परस्पर संबन्धों को ठीक ठीक प्रकट करने के लिये उचित सामग्री से संयुक्त, और एक विस्तृत शब्द-भण्डार से समन्वित हो सकती है। यदि ऐसा न होता, यदि भाषाओं में ये बातें, शनैः शनैः विकास की फल-रूप न होकर, प्रारम्भ से ही पाई जातीं, तो भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न का समाधान करने के लिये किसी को सचेष्ट होने की ही आवश्यकता न थी। उस अवस्था में तो भाषा की उत्पत्ति किसी अचंभे द्वारा ही सबको माननी पड़ती। अलौकिक शक्ति द्वारा ही वह मनुष्यों को प्राप्त हुई, इसके विरोध करने

दूसरा परिच्छेद
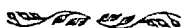
'भाषा' शब्द के अनेक अर्थ

ऊपर कहा गया है कि भाषा-विज्ञान का विषय भाषा या मानवी भाषा है। 'भाषा' शब्द से हम सब अच्छी तरह परिचित हैं, इसलिये उसके विषय में कुछ कहना अनावश्यक-सा जान पड़ेगा। परन्तु व्यवहार में 'भाषा' शब्द अनेक अर्थों या आशयों में प्रयुक्त होता है। उन अर्थों को पृथक् पृथक् दिखलाना उपयोगी तथा आवश्यक है। 'भाषा' शब्द निम्न-लिखित भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है :—

(१) सामान्य रूप से 'भाषा' शब्द से मनुष्यमात्र की भाषा का आशय लिया जाता है। इस सामान्य अर्थ की दृष्टि से भाषा का लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है :—

'भाषा' मनुष्यों की उस चेष्टा या व्यापार को कहते हैं जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों से उच्चारण किये गये वर्णात्मक या व्यक्त[1] शब्दों के द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं।

१ देखो—"व्यक्ता वाचि वर्णा येषां त इमे व्यक्तवाचः" (महाभाष्य १।३।४८)।

का किसी को साहस न होता। परन्तु हम देख चुके हैं कि किसी भी उत्कृष्ट से उत्कृष्ट भाषा की उन्नति धीरे धीरे होने वाले विकास का ही फल है। इस विकास की जड़ में जो प्रवृत्तियाँ काम करती रही हैं वे अब आधुनिक जीवित भाषाओं में भी देखी जाती हैं। उन्नत भाषाओं की प्रारम्भिक अवस्था का अनुसन्धान करते हुए यदि हम पीछे की ओर चलें तो उनकी ऐसी अवस्था मिलती है जो उन्नति से नितरां प्रतिकूल है। यहाँ तक कि अन्त में मनुष्य-भाषा का बीज थोड़ेसे मूल-तत्त्व या धातुओं में मिलता है।

उपर्युक्त कारणों के होते हुए हमको, यह न मानकर कि भाषा श्वास-प्रश्वास की तरह मनुष्य की इच्छा और विचार को काम में लाने के विना ही उत्पन्न हुई, यह मानना आवश्यक हो जाता है कि कपड़ा पहिरना, और घर बनाकर उसमें रहना इत्यादि कलाओं के आविष्कार की तरह मनुष्य ने भाषा का भी, अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये अपनी स्वाभाविक शक्तियों और योग्यताओं को विचार-पूर्वक उपयोग में लाकर, निर्माण किया। वस्तुतः देखा जावे तो मनुष्य-सृष्टि के होते ही दैवी शक्ति के द्वारा भाषा को उत्पन्न हुआ मानना ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि लेखन-कला की पृथ्वी पर आधुनिक स्थिति के लिये यह मानना आवश्यक है कि उसको भी किसी दैवी शक्ति ने सृष्टि के साथ ही साथ सिखला दिया था।

इस लक्षण के अनुसार मनुष्यों के भावों और विचारों को प्रकट करने के हस्तादि-द्वारा संकेत और मुखाकृति की विकृति जैसे और और साधनों को भाषा नहीं कह सकते। इनकी इस लक्षण से व्यावृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार क्रोध या हँसी की आवाज़ जैसी अव्यक्त तथा अपरिस्फुट ध्वनि को भी 'भाषा' नहीं कह सकते।

(२) उपर्युक्त सामान्य अर्थ के अतिरिक्त 'भाषा' शब्द किसी बड़ी जाति, देश या देश-विभाग की भाषा के आशय में भी प्राय: प्रयुक्त होता है। इसी आशय से हम हिन्दी, फ़ारसी, तिब्बती, चीनी आदि भाषाओं को 'भाषा' कहते हैं।

यहाँ पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि इस आशय में जब 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया जाता है तब उसका मतलब यह नहीं होता कि हिन्दी, फ़ारसी, चीनी आदि भाषाओं में अवान्तर भेद नहीं हैं। प्रत्युत इस प्रकार की एक एक भाषा में अनेकानेक प्रान्तीय और स्थानीय भेद हो सकते हैं। कभी कभी इतना अधिक भेद होता है कि एक ही जाति के एक छोर का मनुष्य दूसरे छोर में बोली जाने वाली भाषा को नहीं समझता, या बड़ी कठिनता से समझ सकता है।

उदाहरणार्थ, यद्यपि हिन्दी एक भाषा है तो भी इसमें प्रान्तीय, स्थानीय आदि अनेक भेद पाये जाते हैं। ऐसी दशा में यह संभव है कि इन भेदों के कारण एक हिन्दी-भाषी दूसरे हिन्दी-भाषी की बात कभी कभी न समझ सके। ऐसा

संस्कृत आदि भाषाओं की रचना तथा शब्दों पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये अपने अपने आधुनिक रूप में न तो पृथ्वी की मूल-भाषा ही हो सकती हैं—और न आदि-भाषा ही। उदाहरणार्थ, निम्न-लिखित शब्दों को लीजिये :—

संस्कृत	लैटिन	अंग्रेज़ी	जर्मन
विंशतिः	viginti	twenty	zwanzig (= ट्स्वान्ट्सिक)
	ग्रीक		
दुहिता	thugátēr	daughter	Tochter (= टॉख़्र)
हंसः	chēn (= ख़ेन)	goose	Gans

भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार के ऊपर दिये गये विंशति-वाची शब्दों के प्रथम अक्षर 'व्' या 'ट् (= त्)' का स्पष्टतया संबन्ध क्रम से 'द्वि' शब्द के 'व्' या 'द्' वर्ण से है। 'बारह', 'बाईस', 'दो', 'दुगुना' इत्यादि हिन्दी शब्दों में भी संस्कृत 'द्वि' के प्रथम दो व्यञ्जनों का केवल 'व्' या 'द्' के रूप में शेष रहना देखा जाता है। ऐसी अवस्था में 'विंशति' आदि शब्दों का निकास परस्पर में एक दूसरे से न मानकर किसी और

होने पर भी हिन्दी को एक भाषा कहने का कारण यह है कि उक्त भेदों के रहते हुए भी साधारणतया आवश्यक विषयों पर उसमें बात-चीत करने पर बहुत कुछ एक दूसरे को समझा जा सकता है।

(३) किसी जाति, देश या देश-विभाग की भाषा के भिन्न-भिन्न स्थानीय तथा प्रान्तीय भेदों के वर्गीकरण में 'भाषा' शब्द का प्रयोग कुछ ऐसी स्थानीय तथा प्रान्तीय बोलियों के एक वर्ग के लिये भी किया जाता है जो किन्हीं अंशों में परस्पर विशेष समानता रखती हों और स्वसंबद्ध बोलियों के दूसरे वर्गों से भिन्न हों। जैसे भारतीय आधुनिक प्रान्तीय आर्य भाषाओं को ग्रियर्सन (G. A. Grierson) महाशय ने (१) केन्द्रस्थ, (२) मध्यवर्ती अथवा अवान्तरदेशस्थ, और (३) बाह्यप्रदेशस्थ इन तीन वर्गों में बाँटा है। इसी प्रकार बिहारी, राजस्थानी इत्यादि नाम भिन्न भिन्न स्थानीय बोलियों के वर्गों के रख लिये गये हैं।

इस अर्थ में बहुत-सी भाषायें ऐसी होती हैं जिनके नाम को भाषाविज्ञानियों को छोड़ और लोग कम जानते हैं।

(४) भाषा के स्थानीय और प्रान्तीय भेदों के अतिरिक्त ऐसे भेद भी होते हैं जो एक ही स्थान पर रहने पर भी मनुष्यों के भिन्न भिन्न समूहों में पाये जाते हैं। उनके लिये भी 'भाषा' शब्द का प्रयोग होता है।

भिन्न भिन्न धर्म, संप्रदाय, जाति-बिरादरी, रोज़गार तथा

ही मूल-शब्द से मानना चाहिये। उदाहरणार्थ जब 'विंशति' के पूर्व भाग में 'त्' है ही नहीं, तब उससे अंग्रेज़ी का twenty कैसे निकल सकता है! इस कारण संस्कृत दूसरों की मूल-भाषा कैसे हो सकती है? तिस पर भी दूसरे भाषा-परिवारों के साथ तो संस्कृत का कोई सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं होता, संस्कृत उनकी मूल-भाषा हो सके यह तो दूर रहा।

'विंशति' शब्द के विषय में एक और विचार करना है। यह शब्द बहुत करके 'द्वि + दशति' से बना है। भाषा के परिवर्तन के नियमों के अनुसार कालान्तर में इस प्रकार 'विंशति' शब्द का बनना तो समझ में आ सकता है। परन्तु 'विंशति' को यदि हम सृष्टि के आरम्भ में दैवी शक्ति की प्रेरणा से स्वयं बना हुवा कहें, तो प्रश्न होता है कि इसके स्थान में 'द्वि + दशति' जैसे स्पष्ट व्युत्पत्ति वाले शब्द को ही क्यों नहीं चुना गया? उस अवस्था में कम से कम पाणिनि मुनि को इसे निपातन (देखो अष्टाध्यायी ५।१।५९) से सिद्ध न करना पड़ता। इससे संस्कृत को हम सृष्टि की आदि-भाषा भी कैसे कह सकते हैं?

इसी प्रकार 'दुहितृ' और 'हंस' के पर्याय-वाचक शब्दों में इनके 'ह्' के स्थान में 'ग्', 'घ्' आदि अक्षरों को देखकर यह सिद्ध होता है कि 'दुहितृ' और 'हंस' मूल-या आदि-भाषा के शब्द नहीं हो सकते; क्योंकि 'घ्', 'ध्', 'भ्' आदि से 'ह्' का बनना तो स्वाभाविक है, जैसे लौकिक संस्कृत के 'ग्रह्' धातु

पेशा के लोगों की बोलियों में कुछ न कुछ विशेषता पाई जाती है जो स्थानकृत नहीं होती। भारतवर्ष जैसे देश में तो जहाँ शिक्षा तथा जातीयता के भावों का प्रचार अभी बहुत कम हुआ है यह बात प्रायः सर्वत्र देखी जाती है। एक ही नगर में रहने वाले ब्राह्मणों, कायस्थों, मुसल्मानों, भंगियों, चमारों आदि की बोलियों में यह बात प्रायः सबने देखी होगी। स्त्रियों की बोलियों में ये भेद और भी अच्छी तरह देखे जा सकते हैं। इसी आशय से 'गूजरों की भाषा', 'जाटों की भाषा' इत्यादि व्यवहार में कहा जाता है।

यद्यपि इन भेदों के होने से एक दूसरे के समझने में कठिनता नहीं होती, तो भी उच्चारण, लहजा, शब्दावलि और व्याकरण का भी भेद इन बोलियों में परस्पर पाया जाता है।

सदा घूमने वाली तथा लूट-मार पर निर्वाह करने वाली साँसिया, हबूड़ा इत्यादि नामों से प्रसिद्ध तथा कंजड़, पसिया आदि जातियों की बोलियों में यह विशेषता प्रसिद्ध है।

कभी कभी इसी आशय में 'भाषा' के स्थान में 'परिभाषा' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

(५) भिन्न भिन्न व्यक्तियों की अपनी वैयक्तिक विशेषताओं से युक्त बोली के लिये भी 'भाषा' शब्द का प्रयोग हो सकता है।

सामान्य बातों में समानता रखते हुए भी यह आवश्यक है कि व्यक्तियों में वैयक्तिक विशेषता पाई जावे। व्यक्तियों का व्यक्तित्व ऐसी विशेषताओं पर ही निर्भर होता है। यह

के स्थान में वेद में 'अभ्' या 'सह' (=साथ) के स्थान में 'सध' आता है। 'ह्' से 'ध्' आदि का बनना वैसा नहीं।

संस्कृत भाषा में यह एक साधारण नियम है कि एक शब्द के अन्दर विवृत्ति (अर्थात् दो समीपस्थ स्वरों की परस्पर संधि न होकर प्रकृति-भाव से रहना) नहीं देखी जाती। परन्तु ऋग्वेद (१०।७१।२) में आया हुवा 'तितउ' शब्द इसका अपवाद है। इसका कारण यही हो सकता है कि यह शब्द शुद्ध वैदिक न होकर उस समय की सर्व-साधारण की प्राकृत भाषा से लिया गया होगा। भारतवर्ष की मध्य-कालीन प्राकृत भाषाओं में इस प्रकार की विवृत्ति आधिक्येन देखी जाती है; जैसे 'नअर' (नगर), 'मअण' (मदन), 'जीअ' (जीव) इत्यादि।

इन युक्तियों के आधार पर भाषा का ईश्वर-प्रदत्त होना ऊपर के अर्थ में ठीक नहीं हो सकता। हाँ, एक आशय से भाषा को हम ईश्वर-प्रदत्त कह सकते हैं। भाषा केवल मनुष्यों में ही पाई जाती है। ऐसी कोई मनुष्य-जाति नहीं जो कोई न कोई भाषा न बोलती हो। साथ ही मनुष्य को छोड़ ऐसा कोई और प्राणी नहीं जिसमें भाषा पाई जाती हो। इसी लिये भाषा को हम मनुष्य-जाति का एक सार्वभौम और विशेष लक्षण कह सकते हैं। जिस प्रकार मानव-समाज की सारी की सारी सभ्यता की सामग्री, सृष्टि के आदि से ही न होने पर भी, इस आशय से ईश्वर-प्रदत्त कही

सामान्य नियम भाषा-विषय में भी लागू है। बोलने की शक्ति स्वाभाविक होने पर भी भाषा अपने सिद्ध रूप में किसी को स्वत:सिद्ध नहीं होती, किन्तु सीखने से ही आती है। इसलिये अपनी अपनी शक्ति और परिस्थितियों का प्रत्येक की भाषा पर प्रभाव पड़ना और उससे उसमें भेद होना स्वाभाविक है।

अपनी मातृ-भाषा में भी किसकी कहाँ तक गति है यह उसकी अपनी शक्ति पर और उन अवसरों पर जो उसको अपनी भाषा सीखने के लिये मिले हैं निर्भर है। बड़े बड़े विद्वान् मनुष्य भी अपनी मातृभाषा के सारे शब्द-भण्डार को काम में कभी नहीं लाते। साधारण मनुष्यों का तो शब्द-भण्डार बहुत थोड़ा होता है। ग्रामीण लोगों की शब्दावलि सैकड़ों के अन्दर ही परिमित होती है। भाषा में वैयक्तिक विशेषता लाने वाला पहिला कारण यही है। इससे दो व्यक्तियों की भाषा में परिमाण-या विस्तार-कृत भेद स्पष्ट है। उपर्युक्त कारण के होते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि कोई भी दो मनुष्य बिलकुल एक ही भाषा को बोलते हैं।

व्यक्तियों की भाषा में भेद लाने वाला दूसरा कारण शब्दों का अर्थ-भेद है। भाषा के ऊपर दिये गये लक्षण से यह स्पष्ट है कि भाषा हमारे भावों या विचारों को प्रकट करने का एक साधनमात्र या केवल एक बाहरी स्वरूप है। भाषा का असली या आन्तरिक स्वरूप हमारे विचार ही हैं। इसलिये शब्दों में

जा सकती है कि उसका संपादन मनुष्य ने सृष्टि के आरम्भ से ही बीज-रूप से ईश्वर द्वारा प्रदत्त शक्तियों और योग्यताओं के आधार पर किया है। उदाहरणार्थ, लेखन-कला, या गृह-वस्त्रादि निर्माण करने की कलाओं के विषय में यह कोई नहीं कह सकता कि इनको सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने मनुष्यों को सिखलाया। तो भी इनके विकास का संभव ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों के आधार पर ही हो सका। इसी आशय से भाषा को भी हम ईश्वर-प्रदत्त कह सकते हैं। यह स्पष्ट है कि ऐसा मानने से ईश्वर के महत्त्व में कोई अन्तर न आकर वह ज्यों का त्यों बना रहता है।

भाषा की दैवी उत्पत्ति हुई, इस मत की जड़ में एक बड़ा भारी विश्वास यह है कि भाषा और विचार का स्वाभाविक तथा अनिवार्य संबन्ध है; विचार से भाषा को पृथक् नहीं किया जा सकता; विचार स्वभावत: ही भाषा द्वारा प्रकट हो जाते हैं। परन्तु जन्म से एक गूँगे मनुष्य में भाषा के अभाव में भी विचार होते हैं यह उसकी बुद्धि-पूर्वक चेष्टाओं से सिद्ध होता है। इसलिये भाषा और विचार में परस्पर नित्य तथा स्वाभाविक संबन्ध मानना ठीक नहीं। उसके स्थान में इस सम्बन्ध को केवल सांकेतिक मानना, जिसका आधार मनुष्यों के परस्पर बोध और अनुमति पर होता है, अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है। यही कारण है कि भिन्न भिन्न भाषाओं में भिन्न भिन्न पदार्थों के भिन्न भिन्न नाम

ऊपरी समानता होने पर भी हो सकता है कि उनके अर्थों में पूरी पूरी समानता न हो। एक मनुष्य एक शब्द से क्या समझता है यह उसकी अपनी बुद्धि, शिक्षा आदि पर निर्भर है। 'स्वतन्त्रता', 'न्याय', 'स्वराज्य', 'धर्म', 'सन्तोष' इत्यादि गूढार्थक शब्दों के विषय में तो यह बात प्रायः प्रसिद्ध ही है। इन शब्दों का हर कोई प्रयोग करता है; परन्तु उनके अभिप्रायों में आकाश-पाताल का अन्तर होता है।

भिन्न भिन्न मनुष्य एक ही बात को भिन्न भिन्न रीति से प्रकट करते हैं। भिन्न भिन्न कवियों की रचना की शैली तथा बड़े बड़े वक्ताओं के भाषण-प्रकार में भिन्नता होती है—यह सब कोई जानते हैं। इसका कारण उनकी विचार-पद्धति में भेद का होना ही है।

अन्त में, दो व्यक्तियों की बोली में जो बाहरी उच्चारण-संबन्धी भेद होता है वह किसी से छिपा नहीं। किसी परिचित व्यक्ति के केवल स्वर को सुनते ही झट उसके पहिचान लेने का कारण यही भेद है। इन वैयक्तिक भेदों का मुख्य कारण, हमारे प्रत्येक शरीरावयव के समान, हमारे उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों की बनावट में भेद ही है। वर्णों के उच्चारण करने में प्रयत्न का भेद भी इनका एक कारण है।

(६ ऊपर दिये गये अर्थों के अतिरिक्त 'भाषा' शब्द से प्राय: आशय किसी साहित्यिक भाषा से भी होता है। अनेक लोग 'भाषा' शब्द को किसी साहित्यिक भाषा के साथ ही

पाये जाते हैं जो समान रीति से अपने अपने अर्थों का बोध कराते हैं। भाषा और विचार में स्वाभाविक संबन्ध के होने पर उपर्युक्त भेद का कोई कारण समझ में नहीं आता। एक निर्जन वन में पला हुआ मनुष्य किसी भाषा को नहीं बोल सकता, इससे भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि होती है।

ऊपर की युक्तियों को पढ़कर भी कोई कह सकता है कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से संस्कृत या हिब्रू जैसी एक उन्नत भाषा को ही हम ईश्वर-प्रदत्त मान लें तो इसमें क्या आपत्ति हो सकती है? ईश्वर को यह सामर्थ्य है कि वह ऐसी भाषा को ही सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों को सिखला दे। इसलिये 'दुहितृ', 'हंस' आदि शब्दों के स्थान में दूसरी भाषाओं में वर्ण-परिवर्तन के नियमों की दृष्टि से Tochter या daughter आदि शब्दों को अपने से प्राचीनतर रूप में पाने पर भी यह आवश्यक नहीं कि संस्कृत आदि-भाषा न हो सके। इसका उत्तर यही है कि ईश्वर के सामर्थ्य के नाम पर ही यदि इस बात को सिद्ध किया जावेगा तब तो संसार में कोई भी बात सिद्ध की जा सकती है। ऐसी अवस्था में आँखें देकर उनको एक अनोखे प्रकाश से चौंधियाकर इस योग्य बना देना कि वे कुछ न देख सकें—और उस दशा में उनका देना ही व्यर्थ हो जाता है—इसी के समान यह है कि बुद्धि देकर एक ऐसी बात कर बैठना जो बुद्धि में न बैठ सके और जिससे बुद्धि भ्रमरूपी चकाचौंध में पड़ जावे। तब यही प्रश्न होगा कि

प्रयोग करते हैं—जैसे 'संस्कृत भाषा', 'वैदिक भाषा' इत्यादि--और दूसरे प्रकार की अर्थात् साहित्य-शून्य सर्व-साधारण की भाषाओं के लिये वे 'बोली' शब्द का प्रयोग करना पसन्द करते हैं।

साहित्यिक भाषा से आशय एक ऐसी भाषा से है जिसमें अच्छा-खासा साहित्य हो, और जिसको मुख्यतया शिक्षित समुदाय ही बोल सकता हो। यह प्रायः सरकारी या राज-काज की भाषा होती है। इसकी शिक्षा और रक्षा या तो बोलचाल के परम्परागत संप्रदाय से होती है, या अधिकतर लेख-द्वारा, जैसे समाचार-पत्र, मासिक-पत्र, कविता, कथोपाख्यान की पुस्तकों से। इस प्रकार पुस्तकों की भाषा होने से यह शिक्षित मनुष्यों की भाषा बन जाती है। वे ही इसको शुद्ध रीति से बोल सकते हैं। ये लोग इसपर इतने मुग्ध हो जाते हैं कि क्रमशः ग्रामीण, प्रान्तीय या स्थानीय भाषा से, जो प्रायः उनकी मातृ-भाषा होती है, घृणा करने लगते हैं।

उदाहरण के लिये, उत्तर भारत में जिस फ़ारसी के पढ़ने का प्रचार है वह वस्तुतः फ़ारस देश की मध्यकालीन साहित्य-संबन्धी भाषा है। उसका फ़ारस देश की ग्रामीण, या भिन्न भिन्न प्रान्तीय बोलियों से साक्षात् कोई संबन्ध नहीं। यह नहीं, एक मनुष्य जो भारतवर्ष में फ़ारसी का पूर्ण विद्वान् गिना जाता है उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि वह फ़ारस

ईश्वर ने बुद्धि ही मनुष्य को क्यों दी। दूसरे, उपर्युक्त कहना ऐसा ही है जैसा भूगर्भविद्या के प्रारम्भ के दिनों में पृथ्वी की तहों से निकले हुए प्राचीन-सभ्यता के द्योतक पदार्थों के विषय में बहुतसे मनुष्य कहा करते थे कि ऐसे पदार्थों से मनुष्य-जाति के प्राचीन इतिहास पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता, क्योंकि यह हो सकता है कि ईश्वर ने पृथ्वी पर पहाड़ियों आदि को बनाते समय इन पदार्थों के साथ ही बनाया था। ऐसी युक्तियों को मानने वाले लोगों के साथ किसी वैज्ञानिक विषय पर बात करना नितरां निष्फल है।

मनुष्य और दूसरे प्राणियों में बड़ा अन्तर है। उनकी तरह मनुष्य सर्दी, गर्मी आदि प्राकृतिक दशाओं को न तो चुप चाप सह ही लेता है, और न इनसे रक्षा के लिये प्रकृति ने उसको बाल या परों जैसी कोई सामग्री ही दी है। प्रकृति ने उसमें केवल ऐसी योग्यता उत्पन्न की है जिससे वह आवश्यकतानुसार नई नई वस्तुओं का आविष्कार और निर्माण कर सकता है। उसी योग्यता के आधार पर मनुष्य ने अपनी भिन्न भिन्न आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये भाषा का तथा गृह-वस्त्रादि बनाने की कलाओं का आविष्कार तथा विकास किया है। जिस प्रकार वस्त्रों का प्रारम्भ वृक्षों के पत्ते, छाल, या पशुओं के चर्म आदि से हुआ, और घर आदि बनाने से पहिले मनुष्य गुहा, कन्दरा, खोह और कुओं में रहता था; इसी प्रकार भाषा भी अपने उन्नत रूप में एकाएक नहीं आ

देश की आधुनिक साहित्य-संबन्धी भाषा से भी ठीक तरह परिचित हो।

फ़ारसी भाषा के आधुनिक और मध्य-कालीन साहित्य-संबन्धी भेदों के उल्लेख से यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि साहित्य-संबन्धी भाषा के दो रूप या भेद हो सकते हैं। एक तो साहित्यिक भाषा ऐसी हो सकती है जिसकी शिक्षा सामान्यतः पुस्तकों के ही द्वारा हो सकती है, क्योंकि उसके बोलने वालों की संख्या नहीं के तुल्य होती है। जैसे संस्कृत, ग्रीक (प्राचीन), लैटिन आदि। इनमें नया साहित्य भी प्रायः नहीं लिखा जाता। दूसरा भेद उनका है जिनकी शिक्षा बोलचाल तथा आधुनिक साहित्य से भी हो सकती है[१]। उनको लाखों मनुष्य दिनरात बोलते हैं और उनमें नया साहित्य भी लिखा जाता है। आजकल की पुस्तकों की हिन्दी, इंग्लिश, जर्मन, फ्रेंच इत्यादि की गणना इसी भेद में है।

साहित्यिक तथा सर्व-साधारण की भाषा का भेद।

यहाँ पर एक साहित्यिक भाषा और सर्व-साधारण की भाषा के परस्पर भेद के विषय में कुछ कहना अप्रासङ्गिक न होगा। इस बात का ऊपर भी हम संकेत-मात्र कर चुके हैं। पहिली बात जो एक साहित्यिक भाषा को सर्व-साधारण की भाषा से

---

१ देखो—महाभाष्य ६।३।१०९, तथा "लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्द-प्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः" (महाभाष्य, पस्पशाह्निक)।

गई, किन्तु उसका प्रारम्भ मनुष्य में तथा जड चेतन जगत् में प्राप्त कुछ स्वाभाविक ध्वनियों से हुआ है। इसका प्रतिपादन अन्तिम मत के सम्बन्ध में किया जावेगा।

इस प्रकार एक अनोखे प्रकार से दैवी शक्ति की प्रेरणा से सृष्टि के साथ हो भाषा की उत्पत्ति मानना न तो भाषा के स्वभाव पर ही विचार करने से और न मनुष्य के स्वभाव या उसकी सभ्यता के इतिहास के साक्ष्य से ही सिद्ध होता है। अब हम भाषोत्पत्ति-विषयक द्वितीय मत को लेकर उसकी समीक्षा करते हैं।

३—भाषोत्पत्ति-विषयक द्वितीय मत और उसकी समीक्षा

भाषा की उत्पत्ति के विषय में दूसरा मत यह हो सकता है कि यद्यपि भाषा को मनुष्य-सृष्टि के साथ ईश्वर ने नहीं रचा–तो भी भाषा को सृष्टि के आदि-कालीन मनुष्य-समाज ने स्वयं विचार-पूर्वक संमत होकर बना लिया। सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों ने जब यह देखा कि केवल हस्तादि के संकेत आदि के द्वारा वे अपने विचारों को एक दूसरे पर ठीक २ प्रकट नहीं कर सकते, तब उन्होंने इकट्ठे होकर अपनी अवस्था पर विचार करके, भिन्न-भिन्न विचारों के लिये भिन्न भिन्न शब्दों की कल्पना-पूर्वक, परस्पर व्यवहारार्थ भाषा का निर्माण किया।

पृथक् करती है वह उसकी कृत्रिमता है। यदि सर्व-साधारण की भाषा की हम एक अकृत्रिम नदी से तुलना करें जो कभी स्थिर न रहकर सदा प्रवाह-रूप से आगे आगे बढ़ती रहती है, तो साहित्यिक भाषा की तुलना हम उसी नदी में से जल काटकर बनाई हुई एक कृत्रिम झील या सरोवर से कर सकते हैं। नदी का मार्ग आदि सब कुछ स्वभाव से ही निर्धारित होता है। उसमें चाहे कृत्रिम सौन्दर्य न हो, परन्तु उसके स्वाभाविक गुण और स्वच्छन्द प्रवाह इस कमी को ही पूरा नहीं करते प्रत्युत कृत्रिम झील आदि से उसके श्रेष्ठत्व का भी संपादन करते हैं। कृत्रिम झील आदि में चाहे कृत्रिम सौन्दर्य अधिक हो, उसका दृश्य आँखों के लिये अधिक तृप्तिकर भी हो, परन्तु उसके जल में वे गुण नहीं होते जो नदी के स्वभाव से बहने वाले जल में होते हैं। इसी प्रकार कम से कम भाषाविज्ञानी की दृष्टि में, यद्यपि उसे साहित्य-सम्पन्न भाषाओं से बहुत कुछ सहायता मिलती है, सर्व-साधारण की भाषा का मूल्य, जैसा ऊपर कह चुके हैं, साहित्यिक भाषा की अपेक्षा अधिक होता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि जिस प्रकार सरोवर आदि के जल को गन्दा और दूषित न होने देने के लिये समय समय पर उसमें नदी के नये स्वच्छ जल को लाने की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार साहित्यिक भाषा को जीवित रखने के लिये उसको सदा सर्व-साधारण की भाषा से सम्बन्ध रखने की और इस प्रकार अपने

समीक्षा। प्रथम मत के तुल्य इस मत का भी आधार भाषा-विषयक कुछ मिथ्या-दृष्टियाँ हैं। मनुष्य-सभ्यता का—जिसका भाषा भी एक अङ्ग है, और जिसके साथ ही साथ भाषा की उन्नति होती है—सारा इतिहास इस बात को सिद्ध करता है कि भाषा का आरम्भ मनुष्य-सृष्टि के बहुत समय पीछे हुआ होगा। आरम्भ होने पर भी भाषा अपने ठीक ठीक रूप में तो और भी पीछे धीरे धीरे हो आई होगी। यदि ऊपर लिखे गये मत से यही आशय है, तब तो उसके विरोध करने की कोई आवश्यकता नहीं। नहीं तो, यही सोचना चाहिये कि प्रथम तो भाषा के विना मनुष्यों का इकट्ठा होकर अपनी अवस्था पर परस्पर विचार करना ही कैसे बन सकता है; और यदि भाषा के विना भी मनुष्यों में परस्पर विचार करने की योग्यता आ सकती है, तो फिर उनको भाषा ही की क्या आवश्यकता थी।

४—भाषोत्पत्ति-विषयक तृतीय मत और उसकी समीक्षा

बर्लिन के अध्यापक हेस (Heyse) के मत के आधार पर अध्यापक मैक्स म्यूलर (Max Müller) ने भाषा की उत्पत्ति के विषय में एक अनोखे मत का प्रतिपादन किया है। यह मत अध्यापक मै० म्यूलर के शब्दों में ही इस प्रकार है :—

शब्द-भण्डार आदि को समृद्ध करते रहने की आवश्यकता होती है।

साहित्यिक भाषा को सर्व-साधारण की भाषा से पृथक् करने वाली दूसरी बात, जो ऊपर के दृष्टान्त से स्पष्ट-प्राय है, उसकी आपेक्षिक स्थिरता है। जहाँ सर्व-साधारण की भाषा कभी एक रूप में न रहकर सदा बदलती रहती है, वहाँ साहित्यिक भाषा साहित्य के प्रभाव से चिर-काल तक अपने स्थिर रूप में रह सकती है।

साहित्यिक भाषा का प्रारम्भ सर्व-साधारण की भाषा के किसी एक रूप से, किसी कारण-वश उसे प्राधान्य मिल जाने से, होता है। इस प्राधान्य के मिलने का कारण प्रायः राजनैतिक या धार्मिक होता है। इसी से साहित्यिक भाषा प्रायः राज-भाषा या धार्मिक भाषा के रूप से प्रचलित हो जाती है। इसी से वह शिक्षित लोगों की तथा साहित्य की भाषा बन जाती है। शिक्षा और सभ्यता की वृद्धि के साथ साथ भिन्न भिन्न प्रान्तों में परस्पर संव्यवहार और गमनागमन की बढ़ती होती है। प्रान्तीय और स्थानीय विशेषताओं से लगभग शून्य होने के कारण साहित्यिक भाषा से इस संव्यवहार में बड़ी सुविधा होती है। इसलिये इसका पद सर्व-साधारण की भाषा से ऊँचा गिना जाता है और यह शिक्षितों की प्रेमपात्री हो जाती है। राजनैतिक या धार्मिक कारणों से कभी कभी यह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का पद ग्रहण कर लेती है।

"भिन्न भिन्न भाषा-परिवारों में जो ४०० या ५०० धातु उनके मूल-तत्त्व-रूप से शेष रह जाते हैं वे न तो मनोराग-व्यञ्जक ध्वनियाँ ही हैं और न केवल अनुकरणात्मक शब्द ही। हम उनको 'वर्णात्मक शब्दों का साँचा' कह सकते हैं। एक मानस-विज्ञानी या तत्त्वज्ञानी उनका किसी प्रकार व्याख्यान करे, भाषा के विद्यार्थी के लिये तो ये धातु अन्तिम तत्त्व ही हैं। प्लैटो के साथ हम यह कह सकते हैं कि वे स्वभाव से ही विद्यमान हैं; यद्यपि प्लैटो के साथ हम इतना और जोड़ देंगे कि हमारा 'स्वभाव से' कहने से आशय है 'ईश्वर की शक्ति से'। यदि इसको दृष्टान्तों से स्पष्ट करने की आवश्यकता है, तो, कैसी ही अपूर्ण रीति से सही, उनको दूसरों ने ही दिखला दिया है। यह कहा गया है कि प्राय: सारी प्रकृति में यह नियम पाया जाता है कि प्रत्येक वस्तु टकराने से शब्द करती है। यह शब्द या झनकार प्रत्येक पदार्थ के लिये एक विशेष प्रकार की होती है। (ताँबा, पीतल आदि) धातुओं के स्वरूप को थोड़ा बहुत हम उनके कम्पन से या (आघात करने पर) उनके उत्तर (या प्रति-ध्वनि) से पहिचान सकते हैं। सोना टीन से भिन्न प्रकार का शब्द करता है, और लकड़ी का शब्द पत्थर के शब्द से पृथक् होता है। साथ ही प्रत्येक आघात के स्वभाव के अनु-सार भी भिन्न भिन्न प्रकार की ध्वनियाँ पैदा होती हैं। प्रकृति के कामों में सर्वश्रेष्ठ रचना से युक्त मनुष्य में

(७) **'भाषा' शब्द का औपचारिक प्रयोग।** हम अपने भावों और विचारों को एक दूसरे पर प्रकट करने के लिये वर्णात्मक भाषा का ही प्रायः आश्रय लेते हैं। तो भी यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हस्तादि की चेष्टा और मुख के आकृति भेद से भी हम परस्पर व्यवहार में सहायता लेते हैं[1]। ऊपर दिये हुए भाषा के लक्षण में कहा गया है कि भाषा का वर्णात्मक होना आवश्यक है। 'भाषा' शब्द 'भाष = व्यक्तायां वाचि' धातु से बना है, और व्यक्त से आशय वर्णात्मक होने से ही है[2]। इससे, जैसा ऊपर कहा गया है, 'भाषा' शब्द का प्रयोग, ठीक ठीक अर्थों में, हमारे विचारों और भावों को प्रकट करने के उपर्युक्त हस्तादि के संकेत जैसे साधनों के लिये नहीं किया जा सकता।

परन्तु उसी लक्षण से यह भी स्पष्ट है कि भाषा का अति स्पष्ट प्रयोजन अपने भावों और विचारों को दूसरों पर प्रकट

---

१ देखो—"अन्तरेण खल्वपि शब्दप्रयोगं बहवोऽर्था गम्यन्तेऽक्षिनिकोचैः पाणिविहारैश्च" (महाभाष्य २।१।१)।

२ देखो (व्यक्तवाचां समुच्चारणे—इस सूत्र पर)—"व्यक्तवाचामित्युच्यते सर्व एव हि व्यक्तवाचस्तत्र प्रकर्षगतिर्विज्ञास्यते। साधीयो ये व्यक्तवाच इति। के च साधीयः। येषां वाच्यकारादयो वर्णा व्यज्यन्ते।...व्यक्ता वाचि वर्णा येषां त इमे व्यक्तवाच इति।" (महाभाष्य १।३।४८)।

भी यही बात पाई जाती है। (ज्ञान-रूप में बाह्य पदार्थों द्वारा मानो आघात पाकर) मनुष्य (भी) उत्तर देता है और एक प्रकार का शब्द करता है। मनुष्य अपनी प्रारम्भिक और पूर्ण (अर्थात् पूर्ण-रूप से स्वाभाविक) अवस्था में पशुओं की तरह अपने भावों को मनोराग-व्यञ्जक शब्दों के द्वारा, और अपने बाह्य अनुभवों को अनुकरणात्मक शब्दों के द्वारा प्रकट करने की ही शक्ति न रखता था। उसमें अपने मन के सामान्यात्मक विचारों को अधिक व्यक्त रूप से वर्णात्मक शब्दों द्वारा प्रकट करने की भी शक्ति थी। इस शक्ति को उसने अपने प्रयत्न से नहीं प्राप्त किया था। यह एक नैसर्गिक प्रवृत्ति थी, और मन की दूसरी नैसर्गिक प्रवृत्तियों की तरह ही इसका वेग भी रोका नहीं जा सकता था। मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ उनकी आवश्यकता न रहने पर लुप्त हो जाती हैं। ......
..........(शब्दों के) निर्माण करने की (स्वाभाविक) शक्ति, जिसके द्वारा मस्तिष्क में पहिली-पहिल स्फुरित होने वाले प्रत्येक सामान्यात्मक विचार को वर्णात्मक शब्द में प्रकट किया गया, अपने प्रयोजन के चरितार्थ हो जाने पर (स्वयमेव) नष्ट हो गई।"[१]

---

१ देखो M. Müller महाशय की उपरि-निर्दिष्ट पुस्तक, भाग १, पृ० ४३६-४४१।

करना ही है। इसी दृष्टि से 'भाषा' शब्द का औपचारिक प्रयोग वर्णात्मक भाषा के अतिरिक्त परस्पर व्यवहार करने के जो और साधन हैं उनके लिये भी होता है। उदाहरण के लिये, गूँगे-बहिरों के परस्पर संकेतों को उनकी 'भाषा' के नाम से पुकारा जाता है।

इस प्रकार की सांकेतिक भाषा का प्रयोग असभ्य जंगली जातियों में बहुत कुछ किया जाता है। इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण अमरीका के इण्डियन लोगों की जङ्गली जातियों की सांकेतिक भाषायें हैं[1]। ये हस्तादि-चेष्टात्मक भाषायें बहुत कुछ उन्नत अवस्था को प्राप्त हो चुकी हैं। इसी प्रकार यह कहा जाता है कि अफ़्रीका की ग्रेबो नाम की जाति में क्रियाओं के काल और पुरुष को केवल हाथों की चेष्टा से प्रकट करते हैं[2]।

यहाँ पर यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि भाषा-विज्ञान के विषय से ऐसी भाषाओं का कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका सम्बन्ध केवल वर्णात्मक भाषा से है।

(८) कृत्रिम भाषा। उपर्युक्त अर्थों के अतिरिक्त 'भाषा' शब्द का प्रयोग एक कृत्रिम भाषा के लिये भी हो सकता है।

---

१ दे० *Encyclopaedia Britannica*, संस्करण ११, Philology पर लेख।

२ दे० A. H. Sayce, *Introduction to the Science of Language*, तृतीय संस्करण (१८९०), पृ० २

अध्यापक मै० म्यूलर के विचार में इस प्रकार स्वाभाविक रीति से जो वर्णात्मक शब्द आदिम मनुष्यों के मुख से निकले मुख्य करके उनके ही आधार पर भाषा का प्रासाद खड़ा किया गया। पीछे से उन्नत भाषा के साँचे-स्वरूप इन वर्णात्मक शब्दों की संख्या प्रारम्भ में अत्यन्त अधिक रही होगी; परन्तु अन्त में छँटते छँटते बहुत कम रह गई। वे कहते हैं कि भाषा का जो कुछ वर्तमान स्वरूप है उसका प्रारम्भ इन्हीं मूलतत्त्वों या धातुओं से हुआ है। इन मूलतत्त्वों से पहिली अवस्था की खोज करना असम्भव है। वस्तुतः उसको भाषा का नाम ही नहीं दिया जा सकता।

इस मत का सबसे बड़ा आधार इस विचार पर है कि बोलने और सोचने के मनुष्यों में ही पाये जाने से भाषा और विचार का परस्पर नित्य संबन्ध है। विचार के विना वर्णात्मक शब्द की और वर्णात्मक शब्द के विना विचार की स्थिति ही नहीं। जब कोई मनुष्य सोचता है तब यह समझना चाहिये कि वह धीरे धीरे बोल रहा है, और जब बोलता है तब समझना चाहिये कि ऊँचे स्वर से सोच रहा है। वस्तुतः शब्द को विचार का अनिवार्य शरीर कहना चाहिये। दूसरे शब्दों में इसी मत को इस तरह कह सकते हैं कि एक प्रकार की स्वाभाविक आन्तरिक प्रेरणा से, जिसका वेग रोका जाना असंभव है, विचार भाषा में प्रकट हुए विना

कृत्रिम भाषा से आशय एक ऐसी भाषा से है जिसको कुछ मनुष्यों ने किसी सुविधा के उद्देश्य से एक-मत होकर गढ़ लिया हो। इसका आधार एक या अनेक अकृत्रिम भाषाओं पर हो सकता है। ऐसी भाषा का सबसे प्रसिद्ध उदाहरण आज-कल की ऍस्पिरैंतो (Esperanto) नाम की भाषा है।

इसका आधार बहुत करके भारत-यूरोपीय भाषाओं पर है। सरलता इसकी मुख्य विशेषता है। इसके व्याकरण में इस बात को लक्ष्य रक्खा गया है कि उसको सामान्य नियमों या उत्सर्गों में ही बाँधा जावे और अपवादों को स्थान न दिया जावे। यही इसकी सरलता का मूल-मन्त्र है। आज-कल यह भाषा यूरोप आदि में शिक्षित मनुष्यों में शनैः शनैः फैलती जा रही है। इसमें लेख का काम भी होने लगा है। इसके प्रेमी इसको संसार भर की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के पद पर विराजमान देखना चाहते हैं। इसके भविष्य के विषय में अभी कुछ निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता।

उपसंहार

'भाषा' शब्द के अनेक अर्थ दिखा देने से यह बात समझ में आ जावेगी कि सामान्यतः भाषा या किसी विशेष भाषा के सम्बन्ध में कुछ कथन करने पर सबसे पहिले हमें इस

रह ही नहीं सकते।[1] भाषोत्पत्ति-विषयक प्रथम मत का वर्णन करते हुए हमने इस मत का किंचिन्मात्र उल्लेख किया था। यहाँ इस पर कुछ विस्तार से विचार किया जायगा।

समीक्षा। भाषोत्पत्ति-विषयक इस तृतीय मत की दुर्बलता दिखाना कोई कठिन बात नहीं है। यह आश्चर्य है कि मै० म्यूलर महाशय ने और मतों का खण्डन करके इस मत का प्रतिपादन तो किया, परन्तु अपने पक्ष के समर्थन में कोई विशेष हेतु नहीं दिया। विचारों को स्वभावतः वर्णात्मक स्वरूप देने वाली शक्ति की आदि-मनुष्यों में विना किसी विशेष प्रमाण के कल्पना करना ऐसा ही है जैसा कि प्रथम मत में भाषा की उत्पत्ति के लिये एक अलौकिक दैवी शक्ति की सहायता की कल्पना करना। इसलिये इस मत में भी भाषा की उत्पत्ति मानो एक जादू से होना मानने के समान है।

भाषा का सारा इतिहास बतलाता है कि किसी भी शक्ति को जो भाषा की उत्पत्ति के समय काम करती रही होगी

---

१ तुलना करोः—कालिदास "वागर्थाविव संपृक्तौ" (रघुवंश १।१)। तुलसीदास, "रूपज्ञान नहिं नामविहीना" (रामायण, बालकाण्ड)।

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥" (वाक्यपदीय १।१२४)।

बात का विचार कर लेना चाहिये कि उपर्युक्त अर्थों में से किसमें 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया गया है तथा उस कथन का उस भाषा के किस स्वरूप से सम्बन्ध है।

उदाहरणार्थ, संस्कृत भाषा के संबन्ध में कुछ कहने पर हमें सोचना चाहिये कि क्या हमारा अभिप्राय वैदिक संस्कृत (ऋग्वेदादि की भाषा) तथा लौकिक संस्कृत (कालिदासादि के ग्रन्थों की भाषा) दोनों से है या केवल लौकिक संस्कृत से। आगे चलकर पाँचवें परिच्छेद (अधिकरण ३) में हम संस्कृत भाषा के इन दोनों रूपों के पारस्परिक भेद को तथा विभिन्न अर्थों में 'संस्कृत' शब्द के प्रयोग को दिखलायेंगे। उससे संस्कृत के विषय में विचार करने से पूर्व इस शब्द के अभिप्रेत अर्थ को ठीक ठीक समझ लेने की आवश्यकता स्पष्ट हो जावेगी।

इसी प्रकार फ़ारसी भाषा के सम्बन्ध में कुछ कहने पर हमें सोचना चाहिये-क्या हमारा आशय फ़ारसी के प्राचीन-कालीन, मध्य कालीन या आधुनिक स्वरूपों में से किसी विशेष स्वरूप से है या सब स्वरूपों से? आधुनिक स्वरूप से सम्बन्ध होने पर भी, क्या शिक्षितों की फ़ारसी से या ग्रामीण फ़ारसी से या दोनों से है? क्या हमारा मतलब शीराज़ या किसी और नगर-विशेष की फ़ारसी से, या कैस्पियन समुद्र तक फैले हुए प्रान्तों और ज़िलों में भिन्न भिन्न रूपों में बोली जानेवाली फ़ारसी-मात्र से है? ऐसे विचार की आवश्यकता इस उदाहरण से

किसी समय छुट्टी नहीं मिल सकती। इसके विरुद्ध ऊपर कहा गया है कि उपर्युक्त स्वाभाविक प्रवृत्ति सृष्टि के प्रारम्भ में ही अपना काम करके नष्ट हो गई। भाषा में अब भी नये नये विचारों के लिये नये नये शब्द संकेत-रूप से नियत किये जाते हैं; परन्तु उनमें उपर्युक्त स्वाभाविक प्रवृत्ति कोई काम करती हुई नहीं दिखलाई देती। हमारे हर्ष, भय, आश्चर्य आदि के भाव तो अवश्य स्वभाव से ही तद्व्यञ्जक ध्वनियों या शब्दों के द्वारा प्रकट हो जाते हैं; परन्तु वे शब्द केवल भावों अर्थात् मनोरागों के न कि विचारों के द्योतक होते हैं। यदि भाषा की उत्पत्ति भी इसी प्रकार से हुई होती तो भाषा का प्रारम्भ भाव-व्यञ्जक शब्दों से मानना चाहिये था, न कि पदार्थों के गुणों के नामों से, जैसा कि उपर्युक्त मत वाले मानते हैं।

भाषा और विचार के परस्पर संबन्ध के विषय में उपर्युक्त सिद्धान्त, जिसके ऊपर इस मत का बड़ा आधार है, प्राय: विद्वानों में फैला हुआ है। इसका मुख्य कारण विचार की उन्नति में भाषा का बड़ा भारी साधन होना और भाषा का पूर्ण रूप से विचार पर आधार होना ही है। परन्तु भाषा की विचार के लिये बड़ी भारी उपयोगिता होने पर भी यह न समझना चाहिये कि दोनों एक ही हैं या दोनों का अटूट संबन्ध है।

भाषा के स्वरूप और उपयोग पर दृष्टि डालने से इस

स्पष्ट हो जावेगी कि शिक्षितों की फ़ारसी के 'पिदर' (= पिता) शब्द के स्थान में कैस्पियन समुद्र के तट पर बोले जाने वाले फ़ारसी के भिन्न भिन्न स्थानीय स्वरूपों में 'पीर', 'पिअ़र' इत्यादि शब्द बोले जाते हैं।

दूसरी बात जो 'भाषा' शब्द के औपचारिक अर्थ को छोड़कर दूसरे अर्थों से निकलती है यह है कि भाषा-विज्ञान की पुस्तकों में जब हम कुछ शब्दों की परस्पर तुलना करते हैं तो हमारा आशय उन शब्दों के उच्चरित स्वरूप से होता है, न कि उनके लिखित संकेत से। इसी प्रकार उन शब्दों का पारस्परिक संबन्ध उनके बोले जाने वाले शाब्दिक स्वरूपों में होता है, न कि उनके हिज्जों या 'लिखित वर्णानुपूर्वी' में। उदाहरण के लिये, जब यह कहा जाता है कि संस्कृत 'पिता' का पंजाबी में रूप 'पिउ', फ़ारसी में 'पिदर', लैटिन में pater, और इंग्लिश में father है, तब हमारा आशय इनके उच्चरित रूपों की तुलना से ही होता है।

सब भाषाओं में यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक शब्द का बोलने और लिखने का स्वरूप अभिन्न हो। उदाहरणार्थ, इंग्लिश में बहुत से शब्दों को लिखते एक प्रकार से हैं और बोलते दूसरी तरह से। daughter, light इत्यादि शब्दों के उच्चारण में gh का उच्चारण नहीं किया जाता। संस्कृत शब्दों में और स्वरों के सदृश 'अ' का भी स्पष्ट उच्चारण करते हैं; परन्तु हिन्दी में 'करता है' जैसे उदाहरणों में 'र' में 'अ' को

सिद्धान्त का भ्रम-पूर्ण होना स्पष्ट हो जाता है। भाषा मनुष्य का एक वैयक्तिक गुण नहीं, किन्तु सामाजिक गुण है। यह एक मनुष्य में केवल उसके मनुष्य होने के कारण नहीं, किन्तु उसके एक समाज के अङ्ग होने के कारण रहता है। भाषा का कोई अंश भी किसी एक व्यक्ति की मनः-कल्पना का फल नहीं है, किन्तु किसी समाज के अनुमोदन और व्यवहार का फल है। भाषा की सारी उन्नति व्यक्तियों के द्वारा किसी समाज में ही होती है। किसी वर्णात्मक शब्द का शब्दत्व इसी में है कि वह किसी न किसी समाज में किसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। उस शब्द के उस अर्थ के साथ संबन्ध का हेतु वह समाज ही होता है। हम अपने विचारों को प्रकट करने के लिये जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं उनको हम समाज में दूसरों के व्यवहार से सीखते हैं। हम देख चुके हैं कि किसी भाषा की, अवान्तर भेद के होने पर भी, एकता इसी बात पर निर्भर है कि समाज में उस भाषा को बोलने वाले उसके द्वारा एक दूसरे के विचारों को समझ सकते हैं।[1]

---

१ तु०—"सामयिकः शब्दादर्थसंप्रत्ययः, न स्वाभाविकः। ऋष्यार्यम्लेच्छानां यथाकामं शब्दनियोगोऽर्थप्रत्यायनाय प्रवर्तते। स्वाभाविके हि शब्दस्यार्थप्रत्यायकत्वे यथाकामं न स्यात्। यथा तैजसस्य प्रकाशस्य रूपप्रत्ययहेतुत्वं न जातिविशेषे व्यभिचरतीति।" (न्यायसूत्रभाष्य २।१।५६)।

उच्चारण नहीं करते, परन्तु लिखते हैं। शब्दों में इस प्रकार के जो अनुच्चरित परन्तु लिखित अंश होते हैं वे उनके प्राचीन उच्चारण के द्योतक होते हैं जब कि उनका उच्चारण किया जाता था। ऐसे शब्दों की दूसरे शब्दों के साथ तुलना में प्रायः उनके प्राचीन उच्चरित स्वरूप से आशय होता है। इसका विशेष विचार आठवें परिच्छेद में 'वर्णविज्ञान के अध्ययन में ऐतिहासिक दृष्टि' इस संबन्ध में किया जायगा।

———

परस्पर व्यवहार करने की इच्छा ही भाषा की उत्पत्ति का मूल-कारण है। इसलिये मनुष्य मुख्यतः इसलिये नहीं बोलता कि वह सोच सके, किन्तु इसलिये बोलता है कि वह अपने विचार दूसरों पर प्रकट कर सके। उसकी सामाजिक आवश्यकतायें, उसकी सामाजिक प्रवृत्तियाँ उसको अपने विचार प्रकट करने के लिये विवश करती हैं। निर्जन एकान्त में सदा से रहने वाला मनुष्य कोई भाषा नहीं बोल सकता। यदि एक शिशु अत्यन्त निर्जन स्थान में रहकर बड़ा हो तो वह गूँगा हो रहेगा। इसके स्थान में यदि दो दुधमुँहे बच्चे इसी प्रकार इकट्ठे रहकर बड़े हों, तो वे किसी प्रकार की भाषा न जानते हुए भी परस्पर व्यवहार के लिये कोई न कोई टूटी-फूटी भाषा धीरे धीरे अवश्य बना लेंगे। इसी प्रकार एक मनुष्य, जो बड़ी आयु तक अपने आदमियों में रहा है और अच्छे प्रकार भाषा द्वारा उनसे बात-चीत कर सकता है, यदि चिरकाल तक उनसे पृथक् करके अत्यन्त एकान्त में रहने पर विवश किया जावे तो वह केवल प्रयोग न करने के कारण अपनी भाषा को धीरे धीरे भूलने लगेगा, और अन्त में या तो बिल्कुल ही नहीं, या बहुत बुरी तरह से, बात-चीत कर सकेगा। नये अभ्यास से ही वह फिर उस भाषा को अच्छे प्रकार बोल सकता है। इन काल्पनिक उदाहरणों को छोड़कर, यह सब कोई जानते हैं कि चार पाँच वर्ष तक की आयु के बच्चे जो अच्छी तरह बात-चीत कर सकते हैं यदि किसी कारण-वश

तीसरा परिच्छेद

भाषा का स्वरूप

१—भाषा के दो आधार

भाषा का लक्षण हम ऊपर इस प्रकार कर चुके हैं:—

'भाषा' मनुष्यों की उस चेष्टा या व्यापार को कहते हैं जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों से उच्चारण किये गये वर्णात्मक या व्यक्त शब्दों के द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं।

इस लक्षण से यह स्पष्ट है कि भाषा का आधार भौतिक और मानसिक दोनों प्रकार का है। जहाँ तक इसका संबन्ध तालु आदि स्थानों से उच्चरित और कानों से श्रोतव्य वर्णों से है वहाँ तक इसका आधार भौतिक है; और जहाँ तक भाषा का संबन्ध हमारे विचारों से है वहाँ तक उसका आधार मानसिक है। भाषा के इन्हीं दो आधारों को समझने के लिये भाषा-विज्ञान में शरीर-विज्ञान, और उसके द्वारा भौतिक-पदार्थ-विज्ञान, तथा मनो-विज्ञान की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। भाषा के इन दोनों आधारों का संक्षेप से विचार यहाँ किया जावेगा।

बहिरे हो जाते हैं तो प्रयोग न करने के कारण ही वे प्रायः अपनी सारी सीखी हुई भाषा भूलकर पूर्णरूप से गूँगे हो जाते हैं। इन उदाहरणों से भाषा का एक सामाजिक, न कि वैयक्तिक, गुण होना स्पष्ट सिद्ध है।

यह बात अनेक बार हम अनुभव करते हैं कि भाषा पूर्णरूप से हमारे विचारों को प्रकट नहीं कर सकती[1]; न दूसरों के विचारों को हम शब्दों द्वारा सदा अच्छी तरह समझ ही सकते हैं। आकृति और लहजे से जो भाव सरलता से प्रकट हो जाते हैं उनको प्रायः भाषा द्वारा प्रकट करना असंभव-सा होता है। हमारे मनोरागों को पूर्णतया प्रकट करने में भाषा असमर्थ है, यह सभी जानते हैं। दो समान रीति से बड़े विचारकों के विषय में यह प्रायः देखा जाता है कि उनमें से एक अपने विचारों को बड़ी अच्छी तरह भाषा द्वारा प्रकट कर सकता है, दूसरा नहीं।

भाषा का सांकेतिक होना तथा उसका विचार के साथ नित्य या स्वाभाविक संबन्ध न होना इससे भी सिद्ध होता है कि हम एक ही विचार को भिन्न भिन्न प्रकार से भाषा द्वारा प्रकट कर सकते हैं, तथा एक ही वस्तु के लिये हम अनेक शब्द प्रयोग कर सकते हैं। भारतवर्ष में रहते हुए एक मनुष्य

---

१ तु०—"वाग्वै मनसो ह्रसीयसी। अपरिमिततरमिव हि मनः। परिमिततरेव हि वाक्" (शतपथ-ब्राह्मण १।३।६)।

२—भाषा का भौतिक आधार

भाषा के ऊपर के लक्षण में 'उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों' से आशय मुख के कण्ठ, तालु, दन्त, ओष्ठ आदि सारे अवयवों से है जिनकी सहायता से वर्णों का उच्चारण किया जाता है। 'वर्णात्मक या व्यक्त शब्दों' से आशय उन शब्दों से है जिनमें वर्णानुपूर्वी की स्पष्ट प्रतीति होती है, या जिन शब्दों का वर्णों में विभाग किया जा सकता है। जिन सार्थक शब्दों को हम बोलते हैं वे अक्षरों से बनते हैं, और अक्षर स्वर और व्यञ्जनों के मेल से या एक स्वर से ही बनते हैं। इन्हीं स्वर और व्यञ्जनों को वर्ण कहते हैं। यही हमारी भाषा को अन्ततः बनाते हैं। ताली बजाने से या अँगुली चटकाने से जो शब्द होते हैं या इसी प्रकार के और शब्द तालु आदि वर्णोच्चारण के स्थानों से उत्पन्न नहीं होते। ऐसे शब्द विस्मयादि-बोधक स्वाभाविक शब्दों की तरह चाहे कितने ही भावावबोधक हों भाषा-विज्ञानी की दृष्टि में भाषा नहीं कहलाते। साथ ही यह भी ध्यान रहे कि तालु आदि स्थानों से भी अव्यक्त ध्वनि की जा सकती है। वर्णानुपूर्वी से रहित ऐसी अव्यक्त ध्वनि का भाषा-विज्ञान में कोई काम नहीं।

उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों और उनसे वर्णों की उत्पत्ति आदि का विस्तृत वर्णन आठवें परिच्छेद में किया जावेगा। यहाँ पर केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भाषा के भौतिक आधार से अभिप्राय वायु के उन

जल के लिये 'पानी' या 'जल' शब्द का प्रयोग करता है, इंग्लैण्ड में water, जर्मनी में Wasser, फ्रांस में eau (ओ), और फ़ारिस में 'आब'। यदि चिरकाल तक एक देश में रहा जावे तो स्वभाव से ही मनुष्य किसी वस्तु के लिये उसी देश के शब्द का चिन्तन और प्रयोग करने लगता है।

यह भी एक विचारणीय बात है कि विचार का, जो एक मानसिक वस्तु है, भाषा के साथ, जो जहाँ तक उसका सुनने से संबन्ध है एक भौतिक वस्तु है, न तो स्वाभाविक या नित्य ही संबन्ध हो सकता है और न उनका एक ही होना संभव है।

गूँगे औ बहिरों की अँगुलियों के इशारे आदि की भाषा पर ध्यान देने से बोलने की भाषा का सांकेतिक होना पूर्ण-रूप से मन में बैठ जाता है। उनके लिये शारीरिक चेष्टायें बहुत अंश तक वही काम देती हैं जो हमारे लिये भाषा।

हम लोगों में भी भाषा और विचार एक क्षण में ही हमारे मन में नहीं आते। उनमें क्षणमात्र का अन्तर अवश्य रहता है। यह ठीक है कि विचार क्षणिक होने से उनमें भाषा द्वारा कुछ स्थिरता अवश्य आ जाती है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं कि कोई विचार हमारे मन में आता ही नहीं जब तक कि उसको प्रकट करने के लिये कोई शब्द हम न जानते हों।[1]

---

१ देखो Mellone और Drummond: *Elements of Psychology*, द्वितीय संस्करण, पृ० ४०१, ४३६

कम्पनों से है जो वक्ता के बोलने के शरीरावयवों के व्यापार से उत्पन्न होते हैं और श्रोता की श्रवणेन्द्रिय तक पहुँचते हैं। शब्द करने से पहिले हमारे फेफड़ों में वायु का होना आवश्यक है। बोलते समय हमारे बोलने के शरीरावयवों में कम्पन होने लगते हैं। उनके कम्पनों से फेफड़ों से निकलती हुई वायु में, जो शब्द का माध्यम है, कम्पन पैदा हो जाते हैं। वायु के यही कम्पन लहर-रूप में चलकर श्रोता की श्रवणेन्द्रिय तक पहुँचकर उसमें कम्पन उत्पन्न कर देते हैं। इसी को शब्द का सुनना कहते हैं।[1]

यहाँ पर श्रवणेन्द्रिय की रचना के विषय में थोड़ा-सा परिचय देना अप्रासङ्गिक न होगा। हमारी कर्णेन्द्रिय तीन भागों से बनी है। इनमें से केवल एक ही भाग बाहर से दिखलाई देता है; और साधारणतया इसी को कान कहा जाता है। शेष दो भाग कनपटी की हड्डी के अन्दर रहते हैं और बाहर से दिखाई नहीं देते। बाहरी भाग में, जिसको

---

१ तु० करो—"किमिदमुच्चारणं नामेति ? विवक्षाजनितेन प्रयत्नेन कोष्ठ्यस्य वायोः प्रेरितस्य कण्ठताल्वाद्यभिघातः, यथास्थानं प्रतिघाताद्वर्णाभिव्यक्तिः।" (न्यायसूत्रवात्स्यायनभाष्य २।२।१८)। "सर्वः शब्दो नभोवृत्तिः श्रोत्रोत्पन्नस्तु गृह्यते ॥ वीचीतरङ्गन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्त्तिता।" (भाषापरिच्छेद १६५-१६६)।

ऊपर की युक्तियों से भाषा और विचार का ऊपरी, सांकेतिक या अनित्य संबन्ध स्पष्ट हो जाता है। साथ ही साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भाषा की उत्पत्ति में बाहरी अर्थात् सामाजिक न कि अन्दरूनी अर्थात् वैयक्तिक आवश्यकता ही प्रधान कारण है। इससे तीसरे मत का निराधार होना स्पष्ट सिद्ध है।

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि भाषा और विचार एक ही नहीं हैं या उनका स्वाभाविक नित्य संबन्ध न होकर केवल सांकेतिक है तो इसका क्या कारण है कि विचारों को मुख्यतया भाषा द्वारा ही प्रकट किया जाता है। विचारों का सांकेतिक संबन्ध उस दशा में भाषा की तरह शारीरिक चेष्टा आदि के साथ भी हो सकता है। इसका उत्तर यही है कि विचारों को शब्दों द्वारा प्रकट करने में जितनी सरलता हो सकती है उतनी और किसी प्रकार के संकेतों में नहीं हो सकती। यह ठीक है कि हाथों की चेष्टा, और मुख की भाव-भङ्गियों के द्वारा भी विचारों को बहुत कुछ प्रकट किया जा सकता है। गूंगे-बहिरों का, तथा एक दूसरे की भाषा से अनभिज्ञ दो व्यक्तियों का परस्पर व्यवहार इसका साक्षी है। यदि मनुष्य में बोलने की शक्ति ईश्वर ने न दी होती और मनुष्य के पास अपने विचारों को प्रकट करने का उपाय शारीरिक चेष्टाओं को छोड़ और कुछ न होता, तो संभव था कि मनुष्य शारीरिक चेष्टाओं द्वारा विचारों को

बाह्य-कर्ण कह सकते हैं, बाहर से दिखाई देने वाला सीपी जैसा भाग और उसमें से अन्दर जाती हुई नली, जो लगभग एक इञ्च लंबी होती है, दोनों सम्मिलित हैं। इस नली के अन्त में एक झिल्ली होती है। यह झिल्ली श्रवणेन्द्रिय के मध्य भाग की, जो एक छोटीसी कोठरी है, बाहरी दीवाल बनाती है। मध्य भाग को मध्य-कर्ण भी कह सकते हैं। इस प्रकार मध्य-कर्ण का बाहरी स्वरूप झिल्ली से मँढ़े हुए एक ढोल जैसा हो जाता है। मध्य-कर्ण की भीतरी दीवाल से श्रवणेन्द्रिय के तीसरे भाग या आभ्यन्तर-कर्ण का आरम्भ होता है। मध्य-कर्ण में तीन छोटी छोटी हड्डियों की एक शृङ्खला-सी होती है। इस शृङ्खला के एक सिरे का संबन्ध बाहरी दीवाल बनाने वाली झिल्ली से रहता है; और दूसरा सिरा भीतरी दीवाल के झिल्ली से ढके हुए एक अण्डाकार छिद्र में फँसा रहता है। आभ्यन्तर-कर्ण के तीन भाग हैं। बीच का भाग एक कोष्ठ है। इसके पिछले भाग में तीन मुड़ी हुई नलियाँ जुड़ी रहती हैं। कोष्ठ के सामने एक शंखाकार पेंचदार भाग होता है। इन तीनों भागों की दीवाल कनपटी की हड्डी से ही बनती है। वस्तुतः कनपटी की हड्डी में खोखली जगह के ही ये रूप हैं। इन तीनों भागों में से प्रत्येक के अन्दर उसी उसी भाग की शक्ल का, परन्तु कुछ छोटा, भाग झिल्ली से बनता है। हड्डी और झिल्ली के बीच की जगह में, और झिल्ली-निर्मित-भागों में भी, एक प्रकार का पानी भरा

प्रकट करने में बहुत कुछ उन्नति कर लेता। परन्तु भाषण-शक्ति रखते हुए मनुष्यों में भाषा का विकास होना स्वाभाविक ही है। शब्दों द्वारा विचारों को प्रकट करने में शारीरिक शक्ति को बहुत ही कम काम करना पड़ता है, और मनुष्य के हाथ आदि सारे शरीरावयव अन्य किसी काम में लगाये जा सकते हैं। बोलने में प्रकाश आदि बाह्य साधनों की कोई अपेक्षा नहीं; यह भी आवश्यक नहीं कि बोलने वाले एक दूसरे को देख सकते हों; दोनों का अधिक पास होना भी आवश्यक नहीं। इत्यादि सुभीतों के होने से ही विचारों को प्रकट करने के उपायों में भाषा की प्रधानता है।[1] इसी कारण से भाषा और विचार का वस्तुतः कोई आवश्यक अटूट संबन्ध न होते हुए भी प्रतीत होता है।

यहाँ पर यह भी कह देना चाहिये कि विचारों को प्रकट करने में अन्य उपायों की अपेक्षा भाषा का सर्व-प्रधान होना मनुष्य ने सृष्टि के आरम्भ में ही नहीं किन्तु बहुत कुछ काल के पीछे ही अनुभव किया होगा। निस्सन्देह आदि-मनुष्यों का परस्पर व्यवहार बहुत कुछ शारीरिक चेष्टाओं द्वारा ही होता रहा होगा। बहुत-सी असभ्य जातियों में, जैसा ऊपर कहा है, आज कल भी बोलने के साथ साथ हस्तादि-संकेत से अत्यधिक काम लिया जाता है।

---

१ तु०—"अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।" (निरुक्त १। २)।

रहता है। आभ्यन्तर-कर्ण के झिल्ली-निर्मित शंखाकार भाग में श्रावणी शिरा के तन्तु विशेषकर प्रारम्भ होते हैं।

बोलने पर जो वायु में कम्पन होते हैं वे लहर-रूप में कान तक पहुँचने पर बाह्य-कर्ण के द्वारा इकट्ठे किये जाते हैं। इन लहरों से मध्य-कर्ण को ढाँपने वाली झिल्ली में कम्पन होने लगते हैं। इन कम्पनों से मध्य-कर्ण में श्रृङ्खला-रूप से वर्तमान हड्डियों के द्वारा अन्त में आभ्यन्तर-कर्ण के झिल्ली-निर्मित अवयवों के बाहर तथा अन्दर रहने वाले जल में भी कम्पन होने लगते हैं। इन्हीं कम्पनों से अन्त में एक प्रकार के रूआ-दार अणुपुञ्जों पर एक विशेष प्रभाव पड़ता है जिसकी सूचना श्रावणी शिरा के तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क के सुनने के केन्द्रों को जाती है और हमको शब्द का ज्ञान होता है।[1]

३—भाषा का मानसिक आधार

जैसा ऊपर कहा है, भाषा के स्वरूप को समझने के लिये उसके भौतिक आधार का ज्ञान लेना ही पर्याप्त नहीं। उसके लिये भाषा के मानसिक आधार को भी समझना चाहिये। ग्रामोफ़ोन के रिकार्डों के ऊपर, सुई की मदद से, जो एक प्रकार के परिवर्तन होते जाते हैं उनसे चारों ओर की वायु में विशेष प्रकार के कम्पन होने लगते हैं। वायु के इन

---

१ श्रवणेन्द्रिय के चित्रों के लिये देखो—त्रिलोकीनाथ वर्मा, '**हमारे शरीर की रचना**' (१९२१), भाग १, पृ० १८६–२१६।

५—भाषोत्पत्ति-विषयक चतुर्थ मत

ऊपर के तीनों मतों के वर्णन के बाद यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि भाषा की उत्पत्ति एकाएक न तो मनुष्य की स्वेच्छा से, न स्वभाव से, और न दैवी शक्ति की प्रेरणा से ही हो सकती है। उसकी उत्पत्ति का प्रकार यही हो सकता है कि सभ्यता के दूसरे अङ्गों की तरह भाषा भी धीरे धीरे विकास का फल हो। यह विकास किस बीज के आधार पर किस प्रकार हुआ—इसी का विचार इस चौथे मत में है। इस चौथे मत के दो भाग हैं। दोनों भाग यदि स्वतन्त्र रीति से पृथक् पृथक् लिये जावें तो भाषा के विकास का पूर्ण रीति से समाधान नहीं कर सकते। हाँ, यदि उन दोनों को इकट्ठा करके एक ही मत समझें तो पर्याप्त रूप से भाषा-विकास समझ में आ जाता है। हम स्पष्टीकरणार्थ और परस्पर संबन्ध दिखाने के लिये दोनों का वर्णन पृथक् पृथक् करते हैं।

पहिला सिद्धान्त यह है कि पदार्थों के और क्रियाओं के पहिले पहिले नाम जड-चेतनात्मक बाह्य जगत् की ध्वनियों के अनुकरण के आधार पर रक्खे गये। उदाहरणार्थ, पशुओं के नाम उनकी विशेष आवाज़ों के ऊपर रक्खे गये होंगे। 'कुक्कुट', 'कोकिल', cuckoo, या 'काक' शब्द स्पष्ट ही इन पक्षियों की बोलियों के अनुकरण से बनाये गये हैं। इसी प्रकार प्राकृतिक या जड जगत् की भिन्न भिन्न ध्वनियों के

कम्पनों को एक फोनोग्राफ़ में अङ्कित किया जा सकता है। इतना होने पर भी ग्रामोफ़ोन को बोलने वाला और फोनोग्राफ़ को सुनने वाला हम नहीं कह सकते। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि बोलने तथा सुनने के साथ मानसिक व्यापार का कुछ अंश अवश्य रहना चाहिये। एक वक्ता और ग्रामोफ़ोन में तथा श्रोता और फोनोग्राफ़ में असली भेद यह है कि वक्ता और श्रोता बोलने और सुनने में मानसिक शक्तियों को उपयोग में लाते हैं, और उपर्युक्त यन्त्रों में चैतन्य के न होने से किसी प्रकार का मानसिक व्यापार नहीं हो सकता।

भाषा के मानसिक आधार का विचार दो विभागों में बाँटा जा सकता है :—

(१) भिन्न भिन्न वर्णात्मक शब्दों के बोलने और सुनने में साधनरूप वक्ता और श्रोता के मानसिक व्यापार।

(२) शब्दों द्वारा वक्ता से प्रकट किये जाने वाले और श्रोता के मन में उत्पन्न होने वाले अर्थ या विचार।

किसी शब्द के बोलने के पहिले या सुनने के पीछे यह आवश्यक है कि हमारे मन में कोई भाव या विचार हो। उदाहरणार्थ, 'अश्व' शब्द को सुनकर हमारे मन में एक प्रकार का सामान्यात्मक भाव या विचार पैदा होता है जिसको हम 'अश्व' शब्द का अर्थ कहते हैं।

एक ही प्रकार की वस्तुओं या व्यक्तियों को देखकर (या प्रत्यक्ष करके) उन सब में पाये जाने वाले जो सामान्य

अनुसार, जैसे वायु का सरसर बहना, पत्तियों का मर्मर रव करना, पानी का झर-झर गिरना या बहना, भारी ठोस पदार्थों का तड़कना या फटना इत्यादि के अनुकरण से भी अनेक नाम रक्खे गये। इस प्रकार अनुकरण के आधार पर मूल-शब्दों का पर्याप्त कोश बन गया होगा। इन्हीं बीज-रूप मूल-शब्दों से धीरे धीरे भाषा का विकास हुआ है। इस सिद्धान्त को हम शब्दानुकरण-मूलकता-वाद का नाम दे सकते हैं।[1]

दूसरा सिद्धान्त इस प्रकार है। हर्ष, शोक, आश्चर्य आदि के भावों के आवेग में कुछ स्वाभाविक ध्वनियाँ हमारे मुख से निकल पड़ती हैं; जैसे 'हा हा', 'हाय हाय', 'अहह', 'वाह वाह' इत्यादि। इस प्रकार की स्वाभाविक ध्वनियाँ, मनुष्य में ही नहीं, और प्राणियों में भी विशेष विशेष रूप की पाई जाती हैं। प्रारम्भ में ये ध्वनियाँ बहुत करके हमारे मनोरागों की ही व्यञ्जक रही होंगी, विचारों की नहीं। भाषा का मुख्य उद्देश्य हमारे विचारों को प्रकट करना होने से इन ध्वनियों ने भाषा के बनाने में जो भाग लिया उसके लिये यह आवश्यक था कि ये ध्वनियाँ, मनोरागों के स्थान में, विचारों की द्योतक समझी जाने लगी हों। इन्हीं ध्वनियों के दुहराने, कुछ देर तक बोलने,

---

१ तुलना करो:—"काक इति शब्दानुकृतिस्तदिदं शकुनिषु बहुलम्। न शब्दानुकृतिर्विद्यत इत्यौपमन्यवः।" (निरुक्त ३।१८।)

धर्म होते हैं उनके विचार को ही सामान्यात्मक विचार या भाव कहा जाता है।

आँख आदि भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा अनुभूत ऐन्द्रियक ज्ञानों की तरह इस सामान्यात्मक भाव की कोई अपनी मानसिक प्रतिमा नहीं हो सकती। अतः अरूप या इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षायोग्य होने के कारण यह आवश्यक है कि इसके उद्बोधन तथा स्मरण के लिये कोई ऐन्द्रियक वस्तु प्रतीक-या संकेत-रूप से काम में लाई जावे। शब्द एक ऐसी ही वस्तु है। उसका प्रत्यक्ष इन्द्रियों द्वारा किया जा सकता है। इसलिये चिन्तन की उन्नति के लिये शब्द और अर्थ का सांकेतिक सम्बन्ध मानना आवश्यक है[1]। इसी सम्बन्ध के द्वारा परस्पर विचार-परिवर्तन में भी शब्द की उपयोगिता होती है।

परन्तु यद्यपि हमारे सामान्यात्मक विचारों की कोई साक्षात् मानसिक प्रतिमा नहीं हो सकती, शब्दों के विषय में ऐसा नहीं है। शब्दों का प्रत्यक्ष इन्द्रियों द्वारा होता है, इसलिये शब्दों की मानसिक प्रतिमा का होना आवश्यक है। जिस शब्द का अर्थ हमको गृहीत है उसके उच्चारण के पहिले तथा सुनने पर उसका स्मरण आवश्यक है। इस स्मरण का अर्थ यही है कि उस शब्द के अनुभव के पिछले संस्कार

---

१ तु०—"सामयिकः शब्दादर्थसंप्रत्ययः" (न्यायसूत्रभाष्य २।१।५६)। सामयिकः = समयकारितः, सांकेतिक इति यावत्।

और स्वर के उतार चढ़ाव के द्वारा इनके अर्थ या अभिधेय का क्षेत्र विस्तीर्ण होता गया होगा। धीरे धीरे वर्णात्मक स्वरूप को धारण कर यही ध्वनियाँ मानवी भाषा के रूप को प्राप्त हो गई होंगी। इस प्रकार हमारी भाषा की आदि आदि में नींव इन्हीं स्वाभाविक ध्वनियों पर रक्खी गई होगी। इस सिद्धान्त का नाम हम मनोराग-व्यञ्जक-शब्द-मूलकता-वाद रख सकते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि इन दोनों सिद्धान्तों में से प्रत्येक भाषा की उत्पत्ति के विषय में बहुत अंश तक अच्छा समाधान कर देता है। परन्तु दोनों के युक्ति-संगत और स्वाभाविक होने से तथा भाषा पर दोनों का प्रभाव प्रतीत होने से दोनों प्रकार से ही भाषा की उत्पत्ति मानना उचित है। इन प्रकारों में से भाषा की उत्पत्ति में किसने कितना भाग लिया, इसका ठीक ठीक निश्चय करना न तो संभव ही है और न आवश्यक ही। तो भी सामान्यतः इस विषय पर विचार करना अप्रासङ्गिक न होगा।

भाषा-निर्माण में शब्दानुकरण-मूलक सिद्धान्त की योग्यता विशेषतया अधिक है। गुण और क्रिया के ही नाम रखने की सबसे पहिले आवश्यकता होती है। और शब्द ही नाम रखने का एक नियत साधन है। इसलिये यह स्वाभाविक ही है कि ध्वनि-सहित क्रियाओं, भिन्न भिन्न बोलियों, और क्रियाओं के साथ होने वाली ध्वनियों के नाम उनके अनुकरण के आधार पर सबसे पहिले रक्खे जावें।

हमारे मन में उद्बुद्ध हो जावें। यही संस्कार प्रतिमा-रूप में उद्बुद्ध होकर अर्थों का स्मरण दिलाते हैं।

शब्दों का अनुभव हम तीन प्रकार से करते हैं। किसी शब्द के उच्चारण करने से जो अनुभव होता है उसको औच्चारणिक, सुनने से होने वाले अनुभव को श्रावण, और लिखित शब्दों को देखने से होने वाले अनुभव को चाक्षुष कह सकते हैं। इनमें से औच्चारणिक अनुभव सर्व-प्रधान है। अनुभवों के तीन प्रकार के होने से शब्दों के संस्कार और मानसिक प्रतिमायें भी तीन प्रकार की होती हैं। परन्तु हमारे चिन्तन में शब्दों की औच्चारणिक प्रतिमाओं का ही अधिक साथ रहता है[१]।

४—'शब्द' किसको कहते हैं?

मोटी रीति से विचार करने पर इस प्रश्न की आवश्यकता समझ में नहीं आती। परन्तु ठीक-ठीक सोचने पर प्रतीत होगा कि इस प्रश्न का सन्तोष-जनक उत्तर देना सरल नहीं है। इस प्रश्न पर विचार करने से पहिले यह कह देना चाहिये कि यहाँ 'शब्द' से हमारा आशय 'वर्णात्मक शब्द' से है। और जगह भी प्रकरण के अनुसार यह समझ लेना

---

१ इस विषय के विशेष विचार के लिये देखो—S. H. Mellone और M. Drummond, *Elements of Psychology*, परिच्छेद १३–१५

ध्वनियों के अनुकरण के आधार पर शब्दों का निर्माण होता रहा है या हो सकता है इस बात की सत्यता इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक भाषा के कोश में ऐसे शब्द मिलते हैं जो इसी प्रकार बने हैं।

भाषा के विकास की प्रत्येक अवस्था में जो एकान्ततः नये शब्द बनते हैं वे और रीतियों की अपेक्षा शब्दानुकरण-मूलक सिद्धान्त के अनुसार ही अधिक बनते हैं।

हमारे मन में एक स्वाभाविक रुचि या प्रवृत्ति है जो शब्दों में और उनसे वाच्य वस्तुओं या क्रियाओं की अपनी ध्वनियों में अनुहारिता या सादृश्य देखना चाहती है, और देखकर प्रसन्न होती है। इसी नियम के आधार पर वर्णनीय विषय के अनुसार माधुर्य आदि गुणों के प्रकाशक वर्णों से युक्त पदों की योजना को काव्यादि साहित्य में प्रशंसनीय माना जाता है।

इस प्रकार अनुभव और युक्ति दोनों इस बात को सिद्ध करते हैं कि भाषा के निर्माण की सबसे पहिली अवस्था में शब्दानुकरण के सिद्धान्त ने ही सबसे अधिक काम किया होगा।

परन्तु स्वाभाविक मनोराग-व्यञ्जक शब्दों के आधार पर भाषा की उत्पत्ति का सिद्धान्त भी बड़ा आवश्यक है। उसकी उपयोगिता भी थोड़ी न समझनी चाहिये।

निस्सन्देह एक अशिक्षित और अनुन्नत मनुष्य के लिये अपने भावों को प्रकट करने के लिये मनोराग-व्यञ्जक शब्दों

चाहिये कि 'शब्द' से आशय व्यक्त (=वर्णात्मक) या अव्यक्त (=ध्वन्यात्मक[1]) शब्द से या दोनों से है।

शब्द का लक्षण अनेक प्रकार से किया जा सकता है। शब्द के शाब्दिक या श्रोतव्य रूप को यदि दृष्टि में रक्खा जावे तो अक्षरों या वर्णों के समुदाय-विशेष को शब्द कहा जा सकता है। वाक्य की दृष्टि से, जो शब्दों से बनता है, यदि लक्षण किया जावे तो हम वाक्य के स्वतन्त्र चरमावयवों को शब्द कह सकते हैं। इसी प्रकार शब्द और अर्थ के परस्पर संबन्ध को दृष्टि में रखकर यदि हम लक्षण करना चाहें तो कह सकते हैं कि हमारे विचारों के प्रतीक-रूप उच्चरित (या लिखित) संकेतों को शब्द कहते हैं। इस प्रकार भिन्न भिन्न संबन्धों की दृष्टि से शब्द के भिन्न भिन्न लक्षण किये जा सकते हैं; परन्तु शब्द के पूर्ण विवरण में इन सब बातों का समावेश होना चाहिये।

भाषा-विज्ञान में 'शब्द' शब्द का प्रयोग बहुत ही होता है। उदाहरणार्थ, 'हिन्दी शब्द', 'संस्कृत शब्द', 'फ़ारसी शब्द', 'अप्रयुक्त शब्द', 'उद्धृत शब्द', 'शब्द की व्युत्पत्ति', 'शब्दों में परिवर्तन' इत्यादि स्थलों में 'शब्द' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसलिये इसके कहने की आवश्यकता नहीं कि 'शब्द किसको

---

१ तु०—"शब्दो ध्वनिश्च वर्णश्च मृदङ्गादिभवो ध्वनिः ॥ कण्ठसंयोगादिजन्या वर्णास्ते कादयो मताः ।" (भाषापरिच्छेद १६४-१६५)

को बोलना ऐसा ही स्वाभाविक है जैसा कि हस्तादि से इशारा करना। जिस प्रकार बोलने की शक्ति के अभाव में हस्तादि द्वारा संकेत करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के आधार पर, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, यह संभव था कि मनुष्य एक प्रकार की सार्थक हस्तादि-संकेत की भाषा को बना लेता, इसी प्रकार हम यह कल्पना कर सकते हैं कि मनोराग-व्यञ्जक शब्द करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति ने मनुष्य को अपने मन के विचारों को दूसरों पर प्रकट करने के लिये वाणी की बड़ी उपयोगिता को मन में बैठाने में बड़ी सहायता की होगी। बहुत करके यह सिद्धान्त भाषा की उत्पत्ति में इसी रीति से बड़ा साधन हुआ होगा, न कि भाषा के मूल-शब्दों के बनाने के द्वारा। क्योंकि मनोराग-व्यञ्जक स्वाभाविक शब्दों की परिधि कम होने से, उनका संबन्ध मानस जगत् से होने से, और अतएव उनका भिन्न भिन्न पदार्थों के साथ भिन्न भिन्न प्रकार का संबन्ध न होने से उनकी योग्यता भाषा के मूल-शब्दों के बनाने में बहुत कम है।

उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों में वस्तुतः परस्पर कोई विरोध नहीं है। दोनों सिद्धान्तों को मानने वाले एक दूसरे सिद्धान्त का न तो निषेध ही करते हैं, न निन्दा, और न उस सहायता से जो दोनों सिद्धान्त भाषोत्पत्ति-विषयक प्रश्न के समाधान करने में देते हैं विमुख ही हैं। अनुकरण-मूलक सिद्धान्त की व्याख्या कुछ असंकुचित या विस्तृत कर देने से वस्तुतः मनो-

कहते हैं?' इस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर देना कितना आवश्यक है।

शब्द का पूर्ण विवरण देने से पहिले हमें देखना चाहिये कि 'शब्द' शब्द का प्रयोग किस किस प्रसङ्ग में किया जाता है। उदाहरणार्थ हमें विचारना चाहिये कि निम्नलिखित भिन्न भिन्न स्थलों में 'शब्द' शब्द किस किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

(१) अंग्रेज़ी father, लैटिन pater, फ़ारसी 'पिदर' और संस्कृत 'पिता' एक ही शब्द है।

(२) भारतवर्ष का प्राचीनकालीन 'कर्मन्' शब्द मध्यकालीन प्राकृत में 'कम्म' हो गया था; और आजकल बहुत-सी बोल-चाल की भाषाओं में 'काम' हो गया है।

(३) अंग्रेज़ी शब्द daughter (डाटर = दुहिता) में अनुच्चरित gh इस बात का साक्षी है कि प्राचीन समय में एक कण्ठ्य वर्ण का यहाँ पर उच्चारण किया जाता था। जर्मन शब्द tochter (टॉख़्टर = दुहिता) में अब भी कण्ठ्य वर्ण वर्तमान है। वही कण्ठ्य वर्ण संस्कृत शब्द 'दुहिता' में 'ह्' हो गया है।

(४) चीनी भाषा में ☰ शब्द का अर्थ सारे राष्ट्र में 'तीन' है, परन्तु इसका उच्चारण भिन्न भिन्न बोलियों में बहुत कुछ बदल जाता है। उदाहरणार्थ,

राग-व्यञ्जक-शब्द-मूलक सिद्धान्त भी इसी के अवान्तर्गत हो जाता है। जैसे प्रथम सिद्धान्त का आधार जड-चेतनात्मक बाह्य जगत् की ध्वनियों के अनुकरण पर है, इसी प्रकार दूसरे सिद्धान्त का आधार मनुष्य की हर्ष आदि की व्यञ्जक अपनी ध्वनियों के अनुकरण पर है। दोनों का मूल एक ही नियम पर है। भेद केवल दोनों प्रकार से बने हुए शब्दों के अर्थ के स्वरूप का है। प्रथम प्रकार से बने हुए शब्दों के अर्थ का संबन्ध बाह्य जगत् से है, और दूसरे प्रकार में मानस जगत् से।

इतना ध्यान रखना चाहिये कि अनुकरण कहने से हमारा आशय किसी प्रकार की ध्वनियों की हूबहू ठीक ठीक नक़ल से नहीं है। न तो ऐसा हो ही सकता है और न इसकी आवश्यकता ही है। अवर्णात्मक या अव्यक्त शब्द का वर्णात्मक शब्द के द्वारा अनुकरण ठीक ठीक नहीं बन सकता। वर्णात्मक शब्द में अव्यक्त ध्वनि का थोड़ा सादृश्य ही उसके स्मरण कराने के लिये पर्याप्त होता है।[1] किसी ध्वनि के लिये किस प्रकार के वर्णात्मक शब्द को नियत किया जावेगा, यह बहुत कुछ भिन्न भिन्न व्यक्तियों पर और भिन्न भिन्न

---

१ तु०—"अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्" (अष्टाध्यायी ५।४।५७)। उदाहरण—पटपटा करोति। दमदमा भवति। (काशिका)

इसको 'सग', 'सम', 'संग', 'सअँ', 'सअ', 'स',
और 'तम' भी बोलते हैं।

(५) यह बात विचारणीय है कि भाषा में शब्द वाक्य से पहिले होता है या वाक्य शब्द से।

(६) किसी शब्द के अनेक भिन्न भिन्न रूप भाषा में प्रचलित हो सकते हैं।

(७) युक्तप्रान्त आदि में ग्रामीण लोग 'ज़मीन' शब्द को सदा 'जमीन' उच्चारण करते हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि 'शब्द' शब्द का प्रयोग भिन्न भिन्न अर्थों में किया जाता है। यहाँ से आगे हम इन्हीं अर्थों को स्पष्ट करने का यत्न करेंगे।

५—शब्द और लिखित संकेत

भाषा की उत्पत्ति (परिच्छेद ७) के वर्णन में हम यह दिखलायेंगे कि मनुष्य-सृष्टि के प्रारम्भ में अपने विचारों को प्रकट करने के लिये मनुष्य बहुत-कुछ हस्तादिसंकेत से ही काम लेता रहा होगा, और इस प्रकार विचार-परिवर्तन में प्रकाश आदि की अपेक्षा होने के कारण कई तरह की असुविधा होने से ही भाषा का विकास हुआ होगा। परन्तु काल-कृत और देश-कृत अन्तर के हो जाने पर भाषा-द्वारा भी विचार-परिवर्तन नहीं हो सकता। आज-कल के टेलिफ़ोन और ग्रामोफ़ोन जैसे यन्त्रों के आविष्कार से पहिले तो ऐसा हो ही नहीं सकता

दशाओं पर निर्भर होता है। एक ही ध्वनि भिन्न भिन्न व्यक्तियों को भिन्न भिन्न प्रकार की प्रतीत होती है। इसी कारण एक-सी ही ध्वनि के लिये भिन्न भिन्न भाषाओं में भिन्न भिन्न प्रकार के अनुकरणात्मक शब्द पाये जाते हैं। इस प्रकार अनुकरणात्मक शब्दों के बहुत कुछ यादृच्छिक होने पर भी उनके द्वारा परस्पर व्यवहार में कोई आपत्ति नहीं आती। जैसे बच्चों की भाषा में शुद्ध शब्दों के स्थान में बहुत कुछ विकृत शब्दों से भी सुनने वाले उनकी आवश्यकताओं आदि का अनुमान करके उनका ठीक ठीक अर्थ समझ लेते हैं, ऐसे ही अनुक्रियमाण ध्वनियों के यादृच्छिक अनुकरणों से भी परस्पर व्यवहार हो सकता है।

यह कहा जा सकता है कि हमारी भाषा के उस स्वरूप से जिसको हम अपनी खोज की पहुँच की दृष्टि से सबसे प्राचीन कह सकते हैं यह बात स्पष्ट और असंदिग्ध रीति से नहीं सिद्ध होती कि भाषा का प्रारम्भिक विकास अनुकरणमूलक सिद्धान्त के अनुसार हुआ होगा। इसका उत्तर यही है कि भाषा के स्वभाव और उसके उत्पत्ति-समय की दशा आदि पर विचार करने से तो, जैसा ऊपर दिखलाया जा चुका है, यही सिद्ध होता है कि भाषा के इतिहास में कोई समय ऐसा अवश्य रहा होगा जब कि उसकी सारी की सारी रचना अनुकरण के आधार पर ही हुई होगी। इस रचना का विस्तार अधिक न रहा होगा। यह अवस्था अधिक

था। उन दिनों विशेषकर वक्ता और श्रोता का एक ही देश और काल में होना आवश्यक था। इस असुविधा को दूर करने के लिये ही लेखन-कला का आविष्कार किया गया। परन्तु लेखन-कला के आविष्कार का मूल सिद्धान्त एक होने पर भी उसका उपयोग विचारों को प्रकट करने में एक ही रूप से नहीं किया गया। साक्षात् या असाक्षात् रूप से हमारे विचार दो प्रकार लेख द्वारा प्रकट किये जा सकते हैं।

विचारों को साक्षात् रूप से प्रकट करने वाले लिखित संकेत वे होते हैं जिनको देखते ही विचारों की तो प्रतीति हो जाती है परन्तु उन विचारों के वाचक शब्दों का और उनके वर्णात्मक या उच्चारणीय स्वरूप का कोई पता नहीं लगता। उदाहरण के लिये, ऊपर दिये गये चीनी भाषा के लिखित संकेत 三 को ही लीजिये। इसको देखते ही देखने वाला इसके अर्थ (=तीन) को समझ लेता है, परन्तु इसका उच्चारण में आने वाला शाब्दिक रूप स्थान-भेद से भिन्न भिन्न ही है। इसी प्रकार प्राचीन मिश्र आदि देशों में प्रचलित चित्र-लिपियों की प्रारम्भिक अवस्था में किसी जड़ या चेतन पदार्थ को उसके चित्र द्वारा प्रकट करते थे। उन संकेतों से पदार्थों के नाम का कोई पता साक्षात् रीति से न लग सकता था। इस प्रकार की लिपि में एक बड़ा गुण यह हो सकता है कि उस देश की भाषा को न जानने वाला भी उससे बहुत कुछ अर्थ निकाल सकता है। चीन देश में प्रचलित लेख-प्रथा यद्यपि

दिनों तक न रहकर भाषा की अगली उन्नत दशा के लाने में एक साधन हुई होगी। इस प्रकार भाषा के इतिहास में इस आदि अवस्था के अति प्राचीन होने से तथा भाषा के बराबर परिवर्तन-शील होने से यह स्वाभाविक ही है कि अब भाषा की अनुकरण-मूलकता का साक्ष्य स्पष्ट रूप से बहुत ही कम उपलब्ध होता है। भाषाओं में यह बात देखी जाती है कि शब्दों की व्युत्पत्ति का इतिहास प्रायः लुप्त और विस्मृत हो जाता है।

भाषा के ऐतिहासिक समय में अनुकरण-मूलक शब्दों की कमी का कारण निम्न लेख से और स्पष्ट हो जायगा। जैसा ऊपर कहा गया है, भाषा का प्रारम्भ शब्दानुकरण के द्वारा होने पर भी उस समय अनुकरण-मूलक शब्दों का विस्तार अधिक न था। तो भी मनुष्य की आवश्यकता के अनुसार ऐसे शब्दों की पर्याप्त संख्या हो जाने पर, कुछ समय के पीछे ही, विशेष विशेष विचारों के लिये अनुकरणात्मक नये शब्द न बनाकर पिछले बने हुए अनुकरणात्मक शब्दों के ही आधार पर शब्द बनाये जाते होंगे। यह प्रवृत्ति बढ़ते बढ़ते यहाँ तक पहुँच गई कि अनुकरण-मूलक शब्दों की रचना लगभग बिल्कुल रुककर पहिले बने हुए शब्दों के आधार पर ही नये नये शब्द बनाये जाने लगे। यही बात हम भाषा के ऐतिहासिक समय में पाते हैं। आज-कल भी अनुकरण-मूलक शब्दों की रचना अत्यन्त ही परिमित है।

अब चित्र-लिपि नहीं कही जा सकती, तो भी एक विचार के लिये राष्ट्रभर में एक ही लिखित संकेत को सुरक्षित रखने से देशभर में एक ही प्रकार की सभ्यता के फैलाने और स्थिर रखने में बड़ी साधक हुई है। साथ ही चित्रलिपि में बड़ा दोष यह है कि इसमें भिन्न भिन्न पदार्थों के लिये नये नये स्वतन्त्र संकेत नियत करने में बड़ा गौरव करना पड़ता है, और गूढ़ विचारों और विशेषणों आदि को इस प्रकार प्रकट भी नहीं किया जा सकता।

विचारों को साक्षात् रूप से प्रकट करने का एक और उदाहरण, जिससे हम सब परिचित हैं, गणित-शास्त्र के संकेत होते हैं; जैसे १, २, ३, ४; I, II, III, IV इत्यादि। इन संकेतों से भी इनके वाचक वर्णात्मक शब्दों के उच्चारण पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता।

विचारों को असाक्षात् रूप से प्रकट करने वाले लिखित संकेत वे होते हैं जिनको देखकर पहिले विचारों के वाचक वर्णात्मक शब्दों का भान होता है, और तब उन शब्दों के द्वारा उनके वाच्य अर्थों का बोध होता है। इस प्रकार के लेख में इस बात पर दृष्टि रक्खी जाती है कि शब्द का लिखित स्वरूप उसके उच्चारणीय स्वरूप के अनुसार ही हो। उदाहरणार्थ, संस्कृत भाषा के लिखने में इस बात का पूरा पूरा ध्यान रक्खा जाता है। परन्तु सब भाषाओं में लेख और उच्चारण में इस प्रकार का पूरा पूरा सादृश्य नहीं मिलता।

आठवाँ परिच्छेद

वर्णविज्ञान

१—वर्णविज्ञान का स्वरूप

दो सम्बन्धी भाषाओं के शब्दों की परस्पर तुलना करने के लिये यह जानना आवश्यक है कि उनमें से एक भाषा के किस वर्ण का दूसरी भाषा के किस वर्ण के साथ संबन्ध है, उन दोनों वर्णों में परस्पर साक्षात् संबन्ध है या परम्परया, उनमें से किससे किसका बनना संभव है तथा एक का दूसरे में परिवर्तन किस तरह हो सकता है। ऊपर वर्णन किये गये वर्ण-विकार-संबन्धी नियमों से इन सब प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता। वे केवल यही बतला सकते हैं कि एक भाषा के किसी वर्ण के स्थान में दूसरी संबन्धी भाषा में कौनसा वर्ण पाया जाता है। वर्णविज्ञान के द्वारा वर्णों के स्वरूप आदि के जान लेने से इन प्रश्नों का समाधान अच्छी तरह हो जाता है। वर्णविज्ञान के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि जब एक वर्ण के स्थान में दूसरा वर्ण होता है तब उन दोनों में स्थान-कृत या किसी और प्रकार की समानता रहती है तथा वर्णों का परिवर्तन सामान्य या विशेष कारणों के अनुसार होता

ऐसा भी देखा जाता है कि लिखित संकेत के होने पर भी उसका उच्चारण नहीं किया जाता। अंग्रेज़ी भाषा में ऐसे सैकड़ों शब्द हैं जिनके लिखने में दिखलाये गये कई वर्णों का उच्चारण ही नहीं किया जाता। इस प्रकार के अनुच्चरित वर्णों के लिखने का कारण उनका प्राचीन समय में उन शब्दों में बोला जाना ही है। वे आज-कल उस प्राचीन उच्चारण के केवल स्मारक चिह्न ही हैं। उदाहरणार्थ, daughter (डाटर) में gh, knight (नाइट) में k और gh, calm (काम) में l, psalm (साम) में p और l उच्चारण नहीं किये जाते। इसी प्रकार हमारी हिन्दी में 'सकता है' इत्यादि में 'क' में 'अ' का उच्चारण नहीं होता। इसी प्रकार हिन्दी में शब्द के अन्त में आने वाला 'अ' नहीं बोला जाता।

६—शब्द का उच्चरित स्वरूप

शब्द के लिखित रूप का वर्णन करके, जिसको शब्द का दृश्य रूप भी कह सकते हैं, अब हम शब्द के उच्चरित या श्रवणीय स्वरूप का विचार कर सकते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कोई भी दो मनुष्य एक ही शब्द को एक ही प्रकार उच्चारण नहीं करते। यह भी कहा जा सकता है कि बहुत संभव है एक ही मनुष्य एक ही शब्द को दो बार बिल्कुल एक ही प्रकार से उच्चारण न कर सके। पहिली

है। इसी कारण से भाषा-विज्ञान के साथ वर्ण-विज्ञान का बड़ा घनिष्ठ संबन्ध है। वस्तुतः वर्ण-विज्ञान को भाषा-विज्ञान का एक भाग ही कहना चाहिये।

वर्ण-विज्ञान, जैसा इसके नाम से ही स्पष्ट है, वर्णों के विज्ञान को कहते हैं। साधारण दृष्टि से इसका विषय सामान्यतया मानवी भाषा के वर्णों या आवाज़ों का विचार और भिन्न भिन्न भाषाओं के वर्णों के स्वरूप और इतिहास का विचार करना समझा जाता है। इस दृष्टि से भाषा-विज्ञान का बहुत बड़ा भाग वर्ण-विज्ञान के अन्तर्गत समझा जा सकता है; क्योंकि भाषा के शाब्दिक स्वरूप का विचार जो भाषा-विज्ञान का एक मुख्य विषय है अन्त में इस दृष्टि से वर्ण-विचार में ही आ सकता है।

'वर्ण-विज्ञान' शब्द का प्रयोग इस सामान्य अर्थ में कम होता है। विशेष दृष्टि से वर्ण-विज्ञान से आशय सामान्यतः मनुष्य-भाषा के और भिन्न भिन्न भाषाओं के वर्ण-विषयक ऐसे अध्ययन से होता है जिसमें वर्णोच्चारण में उपयोगी शरीरावयवों के द्वारा वर्णों के उच्चारण करने के ठीक ठीक प्रकार का, और उच्चारण में जो ऐसे सूक्ष्म भेद होते हैं जो सुनने में तो आते हैं परन्तु लिखने में प्रायः नहीं दिखलाये जाते उनके कारणों का विचार किया जाता है। वर्ण-विज्ञानी के लिये यह आवश्यक है कि वह वर्णोच्चारण में उपयोगी शरीरावयवों की रचना से अच्छी तरह परिचित हो। उसकी श्रवणेन्द्रिय

अवस्था में, अर्थात् जब दो व्यक्ति एक शब्द को उच्चारण करते हैं, उच्चारण का भेद श्रवणेन्द्रिय से ग्रहण हो सकता है, क्योंकि दोनों की आवाज़ पहिचानी जा सकती है। परन्तु दूसरी अवस्था में होने वाला उच्चारण-भेद इतना कम या सूक्ष्म होता है कि प्रायः वह सुनने में नहीं आता।

इस प्रकार उच्चारण में भेद होने पर भी उस शब्द के एकत्व में कोई क्षति नहीं आती। यह कोई नहीं कहता कि दो मनुष्यों के एक ही शब्द के उच्चारण में यदि भेद है तो वे दो भिन्न भिन्न शब्दों को बोल रहे हैं। इससे यह स्पष्ट है कि उन भिन्न भिन्न उच्चरित स्वरूपों से एक ही शब्द का निरूपण होता है। उनसे एक ही शब्द का आशय समझा जाता है। इसका कारण यही है कि एक ही शब्द के भिन्न भिन्न उच्चारणों में परस्पर भेद होने पर भी उन में सामान्य सादृश्य रहता ही है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि किसी शब्द के वास्तविक उच्चरित या श्रवणीय (या शाब्दिक) स्वरूप से हमारा आशय भिन्न भिन्न समय पर भिन्न भिन्न व्यक्तियों के विशिष्ट उच्चारणों से न होकर उन सबमें रहनेवाले सामान्य स्वरूप से होता है।

शब्द का यह सामान्य उच्चरित स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति में मानसिक शब्द-संस्कार के द्वारा, जिसका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं, निरूपित होता है।

इतनी शिक्षित होनी चाहिये कि वह उच्चारण में काम आने वाले शरीरावयवों की क्रिया तथा स्थिति के भेद से होने वाले वर्णों के भेदों को झट अनुभव कर सके।

वर्णों का अपना असली स्वरूप उच्चारणात्मक होता है। परन्तु वर्ण-विज्ञानी के लिये उनके लिखित संकेतों का होना भी आवश्यक है। वर्णों के लिखित संकेतों के विना उनके विषय में पूरा पूरा विचार नहीं किया जा सकता। आज-कल प्रत्येक सभ्य जाति में लेखन-कला का प्रचार पाया जाता है। इसलिये उस उस भाषा के वर्णों के लिये सामान्यतया भिन्न भिन्न लिखित संकेत हैं ही। परन्तु वर्ण-विज्ञानी का काम बहुत करके इन साधारणतया प्रचलित लेख-प्रणालियों से नहीं चल सकता। इसका कारण यही है कि प्रायः भाषाओं की प्रचलित लेख-प्रणाली दूषित है। एक ही लिखित संकेत भिन्न भिन्न शब्दों में भिन्न भिन्न प्रकार से उच्चारण किया जाता है; और एक ही आवाज़ को भिन्न भिन्न शब्दों में भिन्न भिन्न संकेतों द्वारा लिखा जाता है। लिखित संकेतों के विषय में इस प्रकार की अव्यवस्था, उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी भाषा में बहुत पाई जाती है। a, i, और u का उच्चारण gate (गेट), find (फ़ाइन्ड) और cut (कट) में एक तरह से होता है, परन्तु mat (मैट), sit (सिट) और put (पुट) में दूसरी तरह से। इसी तरह एक ही आवाज़ को meet (मीट), meat (मीट), niece (नीस), key (की) इत्यादि में

७—शब्द की एकता या तादात्म्य

ऊपर के लेख से यह नहीं समझना चाहिये कि किसी शब्द के केवल उच्चरित स्वरूप से ही उसका तत्त्व समाप्त हो जाता है। ऐसा ही यदि मान लिया जावे तो एक बड़ा दोष आ उपस्थित होता है। अंग्रेज़ी के 'अच्छा' अर्थ वाले fair (फ़ेअर) शब्द को और 'किराया' अर्थ रखने वाले fare (फ़ेअर) शब्द को कई कई बार उच्चारण करने से यह प्रतीत होगा कि उनके उच्चारण में स्पष्ट या अस्पष्ट सूक्ष्म विशेषताओं के होने पर भी उनके उच्चारण का सामान्य रूप एक ही है। ऐसा होने पर भी उपर्युक्त दोनों शब्दों को एक शब्द कोई भी नहीं कहेगा। इसी प्रकार हम हिन्दी के 'काम' (=काज) और 'काम' (=इच्छा) जैसे दो शब्दों को ले सकते हैं। इनका उच्चरित स्वरूप एक होने पर भी ये दोनों भिन्न भिन्न शब्द हैं। यही नहीं कि उनका अर्थ भिन्न भिन्न है, उनकी व्युत्पत्ति या निकास या इतिहास भी भिन्न भिन्न है। 'काज' के अर्थ में 'काम' शब्द प्राचीन 'कर्मन्' शब्द से निकला है; और इच्छार्थक 'काम' शब्द संस्कृत 'काम' ही है। इसी प्रकार हिन्दी के 'अंस' (=सं० अंश) = भाग और 'अंस' = स्कन्ध, 'सुर' (=सं० स्वर) = आवाज़ और 'सुर' = देवता इत्यादि शब्दों को ले सकते हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि किसी शब्द का स्वरूप केवल उसके सामान्य उच्चरित रूप या उसके भिन्न भिन्न उच्चारणों

भिन्न भिन्न प्रकार से लिखा जाता है। इसी प्रकार की अव्यवस्था थोड़ी बहुत और भाषाओं में भी पाई जाती है। इन दोषों के साथ साथ यह भी स्मरण रहे कि भिन्न भिन्न भाषाओं की प्रचलित लेख-प्रणाली का आधार प्रायः या तो प्राचीन समय की या आधुनिक कोई प्रधान भाषा ही होती है। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक ही है कि उस प्रधान भाषा के अतिरिक्त जो स्व-संबन्धी अनेक बोलियों में उच्चारण के थोड़े थोड़े भेद पाये जाते हैं उनको साधारण लेख-प्रणाली के द्वारा ठीक ठीक नहीं दिखलाया जा सकता। इत्यादि कारणों से वर्ण-विज्ञानी के लिये यह आवश्यक है कि वह एक ऐसी लेख-प्रणाली की कल्पना करे जो उक्त दोषों से रहित हो। इस प्रकार की लेख-प्रणाली को हम वैज्ञानिक लेख-प्रणाली कह सकते हैं।

वर्ण-विज्ञान का अध्ययन तीन दृष्टियों से किया जा सकता है—शुद्ध वैज्ञानिक, व्यावहारिक और ऐतिहासिक। इनका विशेष वर्णन हम नीचे करते हैं :—

२—वर्ण-विज्ञान के अध्ययन में शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि

शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से वर्णों के अध्ययन में मनुष्य-भाषा की आवाज़ों का गहरे से गहरा विवेचन किया जाता है; और इस प्रकार अत्यन्त सुशिक्षित श्रवणेन्द्रिय से अनुभव किये जाने वाले वर्णों या आवाज़ों के भेदों की खोज की जाती

के मानसिक संस्कार द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। वस्तुस्थिति में यही नहीं कि शब्द का तत्त्व उसके उच्चारण से समाप्त नहीं होता किन्तु केवल उच्चारण की दृष्टि से उसके एकत्व या तादात्म्य का भी निश्चय नहीं किया जा सकता।

ऊपर कहा है कि हिन्दी 'काम' (= काज) और 'काम' (इच्छा) दोनों भिन्न भिन्न शब्द हैं। ये दोनों भी अंग्रेज़ी शब्द calm (काम = शान्त) से, जो हिन्दी 'काम' के सदृश ही उच्चारण किया जाता है, भिन्न हैं। साथ ही परस्पर उच्चारण के भिन्न होने पर भी यह कहा जाता है कि हिन्दी 'काम' (= काज) और संस्कृत 'कर्मन्' एक ही शब्द है। इस प्रकार उच्चारण के अभिन्न होने पर भी शब्दों में भेद, और उच्चारण के भिन्न होने पर भी शब्दों में अभेद के देखे जाने से इस भेद और अभेद का कारण उच्चारण के अतिरिक्त कुछ और ही होना चाहिये। शब्द का अर्थ ही, जो कि उसका आन्तरिक रूप कहा जा सकता है, उच्चारण के अभिन्न होने पर भी शब्दों में भेद का मुख्य कारण हो सकता है[1]। किसी शब्द का अर्थ वाक्य में उसके प्रयोग को देखकर ही समझ में आता है। वाक्य में आये हुए शब्द का तादात्म्य उसके अर्थ के द्वारा तत्काल निर्णीत हो जाता है। वाक्य में प्रयुक्त

---

१ देखो:—"रूपसामान्यादर्थसामान्यं नेदीयः" (गोपथब्राह्मण १।१।२६)।

है। इस प्रकार के अनुसन्धान में कभी कभी बड़े सूक्ष्म यन्त्रों से भी सहायता ली जा सकती है। इस अति सूक्ष्म रीति से वाणी के अध्ययन में दक्ष मनुष्य, उदाहरणार्थ, किसी स्वर के उच्चारण में जो वायु में कम्पन होते हैं उनके गिनने का, या वर्णों के स्थिति-काल के या उदात्तादि स्वरों में आवाज़ के उठने और गिरने के आपेक्षिक तारतम्य के मापने का, या एक वर्ण के पीछे और अगले वर्ण से पहिले दोनों के मध्य में जो क्षणिक, सुनने में बहुत कठिनता से आने वाली अवान्तर श्रुतियाँ[1] होती हैं उनके विवेचन या स्वरूप-निर्धारण का, या इसी तरह किसी और प्रकार का प्रयत्न कर सकता है। इस प्रकार वाणी-विषयक सूक्ष्म भेदों और रहस्यों के ज्ञान की प्राप्ति ही शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से किये गये अध्ययन का लक्ष्य होती है।

३—वर्ण-विज्ञान के अध्ययन में व्यावहारिक दृष्टि

वाणी के सूक्ष्म भेदों और रहस्यों के ज्ञान का उपयोग कई प्रकार से किया जा सकता है। वर्ण-विषयक विवेचन से प्राप्त हुए ज्ञान का बड़ा आवश्यक उपयोग किसी भाषा के उच्चारण को उन लोगों के सिखाने में किया जा सकता है जो

---

१ उदाहरणार्थ, तुलना करो—"नादः परोऽभिनिधानाद् ध्रुवं तत्तत्कालस्थानम्" (ऋक्प्रातिशाख्य ६ । ३६)। अभिनिधान के लक्षण के लिये देखो ऋक्प्रातिशाख्य ६ । १७ ।

'काम' (=धन्धा) और 'काम' (=इच्छा) शब्दों में एकत्व का भ्रम नहीं हो सकता। कभी कभी अवश्य श्लेषद्वारा एक ही शब्द से दो भिन्न भिन्न शब्दों का आशय होता है; परन्तु श्लेष का प्रयोग किसी उद्देश्य को रखकर जान-बूझकर ही किया जाता है।

परन्तु अर्थ की दृष्टि से भी शब्द के तादात्म्य या एकत्व का पूरा पूरा निश्चय नहीं हो सकता। अर्थ-भेद से एकसा उच्चारण रखने वाले शब्दों को भिन्न भिन्न मानने के स्थान में यह कहा जा सकता है कि एक ही शब्द भिन्न भिन्न अर्थ रखता है। क्योंकि बहुत से ऐसे शब्द हैं जो उपचारादि अनेक कारणों से अनेकार्थ-वाची हो गये हैं। संस्कृत का 'पाद' शब्द इसका एक उदाहरण है। इसके 'पैर', 'चौथा भाग' इत्यादि अनेक अर्थ हो गये हैं।[1] इसी प्रकार

गुरु = शिक्षक, भारी, श्रेष्ठ
अर्थ = धन, अभिप्राय, काम
अङ्क = चिह्न, संख्या, गोद
गुण = स्वभाव, कौशल, रस्सी, सत्त्व-रजस्-तमस्, गुणा, इन्द्रियों के विषय, फ़ायदा

---

१ देखोः—"अर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन" (निरुक्त २।१)। "पादः पद्यतेः। तन्निधानात्पदम्। पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः। प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि।" (निरुक्त २।७)।

उस भाषा को स्वभावतः नहीं बोलते। प्राचीन भारतवर्ष में भी, जब कि वर्ण-विज्ञान ने वर्ण-शिक्षा, वर्णोच्चारण-शिक्षा या केवल शिक्षा के नाम से अधिक उन्नति की थी, इसका बड़ा उपयोग वैदिक भाषा के शुद्ध उच्चारण के सिखाने में किया जाता था।[1]

आधुनिक समय में कुछ ही दिनों पहिले तक दूसरी भाषाओं के उच्चारण के सीखने का यही प्रकार था कि विद्यार्थी अपने शिक्षक के उच्चारण को ध्यान से सुनकर उसका अनुकरण करें। परन्तु अब वर्ण-विज्ञान के द्वारा इसमें बड़ी सहायता मिल सकती है। अब शिक्षक, यदि वह वर्ण-विज्ञान से परिचित है, किसी वर्ण या वर्ण-समुदाय को स्वयं उच्चारण करने के साथ साथ यह भी बतला सकता है कि विद्यार्थी अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों को किस किस स्थिति में रक्खे और किस किस प्रकार की क्रिया उनसे करें।

इसके अतिरिक्त किसी भाषा के ठीक ठीक उच्चारण के सीखने में जो रुकावट लिखित संकेतों के ऊपर दिखलाये हुए दोषों के कारण हो सकती है उसका प्रतीकार वर्ण-विज्ञान के अनुसार कल्पित लेख-प्रणाली के प्रयोग से हो सकता है।

---

१ तु०—"संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। तेभ्यस्तत्तत्स्थानकरणनादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते।" (महाभाष्य, आह्निक १)

इत्यादि शब्दों को जानना चाहिये। यह भी आवश्यक नहीं कि ऐसे शब्दों के अर्थों में उपचार आदि के द्वारा परस्पर संबन्ध सदा स्पष्ट ही हो। केवल अर्थ की दृष्टि से विचार करने पर ऐसे शब्दों में सन्देह रह ही जाता है कि उनको एक ही शब्द कहना चाहिये या अनेक।

ऐसे सन्देह के निवारण करने का उपाय यही है कि हम विवादास्पद शब्दों के प्राचीन इतिहास पर विचार करें। साधारणतया प्रत्येक शब्द अपना इतिहास रखता है। हमारी भाषा का बहुत कुछ अंश पिछली पीढ़ी की भाषा के अनुकरण के द्वारा सीखा जाता है। ऐसा भी होता है कि एक जाति दूसरी जाति की भाषा से कुछ शब्द उद्धृत कर ले; उन शब्दों का इतिहास उस जाति की भाषा में मिल सकता है। परन्तु ऐसा बहुत ही कम होता है कि एक बिल्कुल नया शब्द जिसका कोई प्राचीन स्वरूप न हो किसी भाषा में एकाएक प्रचलित हो जावे।

ऊपर के लेख से यह स्पष्ट है कि एक शब्द का तत्त्व केवल उसके सामान्य उच्चरित रूप से ही समाप्त नहीं हो जाता। उसका तादात्म्य उसके अर्थ पर, जो वाक्य में अन्य शब्दों के साथ उसके सम्बन्ध से प्रकट होता है, और इतिहास में किसी प्राचीन शब्द के साथ उसके सम्बन्ध पर आश्रित होता है। इसी ऐतिहासिक सम्बन्ध के कारण ऊपर दिये हुए हिन्दी 'काम' (=काज) और संस्कृत 'कर्मन्' को हम एक शब्द कह सकते हैं।

इसी वैज्ञानिक लेख-प्रणाली के सहारे शिक्षक विद्यार्थी के उच्चारण में जो भूल हो उसको लिखकर बड़ी अच्छी तरह समझा सकता है। अंग्रेज़ी भाषा की लेख-प्रणाली के अति दोष-युक्त होने से आजकल उसके ठीक ठीक उच्चारण को सिखाने में (या जिनकी वह स्वाभाविक भाषा है उनको उसके शुद्ध उच्चारण के समझाने में) इस प्रक्रिया का बहुत कुछ आश्रय लिया जाने लगा है।

इस प्रकार की वैज्ञानिक लेख-प्रणाली के द्वारा, विद्यार्थी के अतिरिक्त, शिक्षक को भी कई लाभ होते हैं। साधारण-तया शिक्षक अपनी भाषा के स्वभाव के विषय में अनेक बातें नहीं जानता; परन्तु इस प्रणाली के काम में लाने से उसका ध्यान उनकी ओर चला जाता है। उदाहरणार्थ, हिन्दी को पढ़ने लिखने वाला एक साधारण मनुष्य हिन्दी के उच्चारण के विषय में अनेक बातें नहीं जानता। वह साधारणतया यही समझता है कि 'गैया', 'मैया' और 'ऐसा', 'जैसा' इत्यादि स्थलों में 'ऐ' एकसा ही उच्चरित होता है; परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। लेख की समानता ही इसका कारण है। 'वह करता है' और 'कर्ता कारक' इन दो उदा-हरणों में वह यही समझता है कि 'करता' और 'कर्ता' का उच्चारण भिन्न भिन्न है; परन्तु वास्तव में दोनों के उच्चारण में भेद नहीं है। इसी प्रकार 'संशय' और 'नहीं' इन दोनों शब्दों में ं के उच्चारणभेद पर बहुत कम लोगों की दृष्टि जाती है।

८—भाषा का प्रारम्भ वाक्यों से हुआ है

ऊपर कहा गया है कि किसी शब्द के तादात्म्य के निर्णय के लिये वाक्य में अन्य शब्दों के साथ उसके सम्बन्ध को देखना चाहिये। इसलिये वाक्य के विषय में कुछ विचार करना आवश्यक है।

भाषा हमारे विचारों का एक बाह्य रूप है।[1] हमारे सोचने की जो चरम व्यक्ति या स्वतन्त्र चरमावयव है उसको हम 'विचार' कह सकते हैं। 'विचारों'[2] का हम 'भावों' में विश्लेषण या विच्छेद कर सकते हैं। परन्तु यह विच्छेद व्यवहार-दृष्टि से, समझने के लिये, एक कल्पना-मात्र है। इससे यह न समझना चाहिये कि जिस प्रकार हमारे चिन्तन में 'विचार' की स्वतन्त्र स्थिति होती है इसी प्रकार 'भाव' भी 'विचार' से पृथक् स्वतन्त्र रीति से हमारे मन में रह सकते हैं। इसलिये 'भावों' में स्वतन्त्र स्थिति की योग्यता न होने से ही हमको अपने चिन्तन

---

१ तु०—"अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम्। व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन नि(वि)वर्तते॥" (वाक्यपदीय १।११३)।

२ यह स्पष्ट है कि ऐसे प्रसङ्गों में 'विचार' शब्द से आशय 'वाक्यात्मक' या 'उद्देश्य-विधेयात्मक' विचार से है। और प्रसङ्गों में यह इस पारिभाषिक अर्थ के स्थान में साधारण अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

इसी प्रकार एक अंग्रेज़ अपनी भाषा के प्राचीन ढंग की और प्रायः असंगत लेख-प्रणाली से इतना प्रभावित होता है कि उसका साधारणतया अपने उच्चारण के ऊपर ध्यान ही नहीं जाता। हाँ, यदि उसने वर्ण-विज्ञान की कुछ शिक्षा पाई है तो दूसरी बात है। साधारणतया वह यही समझता है कि example (ऍग्ज़ाम्पिल), examination (ऍग्ज़ामिनेशन) जैसे शब्दों में x का उच्चारण ऐसा ही होता है जैसा sex (सेक्स), six (सिक्स) इन शब्दों में। परन्तु वस्तुतः वह दोनों जगह x को एक ही तरह से उच्चारण नहीं करता। और यदि कोई दोनों को एक-सा बोले तो वह झट उसके उच्चारण को अशुद्ध तथा विदेशीनुमा कहने लगता है। वास्तव में sex शब्द में x का उच्चारण ks होता है, और examination में gz। जैसा आगे चलकर स्पष्ट हो जायगा, ks और gz के उच्चारण में भेद यह है कि ks के उच्चारण में कण्ठ-तन्त्रियों का खुले रहने के कारण कम्पन नहीं होता; दूसरे शब्दों में ये दोनों वर्ण अघोष हैं। gz के उच्चारण में कण्ठ-तन्त्रियों का बन्द होने के कारण कम्पन होता है; अर्थात् ये दोनों वर्ण सघोष हैं।

उपर्युक्त उपयोग से मिलता-जुलता वर्ण-विज्ञान का एक दूसरा उपयोग भाषाओं या बोलियों के शुद्ध शुद्ध लिखने में किया जा सकता है। किसी भाषा या बोली का वैज्ञानिक रीति से विचार करने के लिये भाषा-विज्ञानी का सबसे

की चरम व्यक्ति (या स्वतन्त्र चरमावयव) 'विचारों' को ही मानना चाहिये[1]।

भाषा द्वारा प्रकट किये गये इस 'विचार' को ही वाक्य कहा जाता है। इसलिये हमारे चिन्तन का आरम्भ वाक्य से ही होना चाहिये। दूसरे शब्दों में, हमारे चिन्तन की चरम व्यक्ति (या स्वतन्त्र चरमावयव) वाक्य ही हो सकता है। हम वाक्यों में ही सोचते हैं। क्योंकि यद्यपि हमारे 'विचारों' का उद्देश्य, विधेय और उनके जोड़ने की क्रिया (या उनका तुलनात्मक संबन्ध) में काल्पनिक विभाग किया जा सकता है, हमारे तात्पर्य की दृष्टि से उद्देश्य आदि की वस्तु-स्थिति में कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। तात्पर्य समस्त वाक्य में ही रहता है, न कि पृथक् पृथक् शब्दों में[2]।

इसलिये यह कहा जा सकता है कि भाषा का प्रारम्भ, पृथक् पृथक् रहने वाले इकले शब्दों से न होकर वाक्य से ही होता है। वाक्य से असम्बद्ध इकले शब्दों की स्थिति शब्दकोश में पाई जाती है। परन्तु कोशकार को भी शब्दों का अर्थ स्पष्ट करते हुए वाक्य का स्वरूप देना पड़ता है। पृथक् पृथक्

---

१ तु०—"शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति। विभागैः प्रक्रियाभेदमविद्वान् प्रतिपद्यते॥" (वाक्यपदीय २।१३)।

२ तु०—"पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्तौ" (न्यायवात्स्यायनभाष्य २।१।५५)।

पहिला काम उनका वर्णन करना होता है। वर्णन करने के लिये सबसे बड़ी कठिनता उनकी आवाज़ों के शुद्ध शुद्ध लिखने में पड़ती है। किसी भाषा की प्रचलित लेख-प्रणाली के द्वारा उसकी स्थानीय और प्रान्तीय बोलियों के उच्चारण को शुद्ध शुद्ध नहीं लिखा जा सकता, यह हम ऊपर कह चुके हैं। दूसरे देश की लेख-प्रणाली के द्वारा उसका शुद्ध शुद्ध लिखना तो और भी कठिन है। ऐसी दशा में वर्ण-विज्ञान के अनुसार कल्पित वैज्ञानिक लेख-प्रणाली का ही आश्रय लिया जा सकता है। जिन बोलियों के लिये कोई प्रचलित लेख-प्रणाली है ही नहीं, उनके विषय में तो इस बात की और भी आवश्यकता है। वर्ण-विज्ञान के आधार पर ही, जैसा ऊपर कहा है, यह हो सकता है कि उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों की स्थिति और क्रिया के भेद से बोले जाने वाले प्रत्येक वर्ण के लिये समस्त भाषाओं में एक ही संकेत लिखने में लाया जावे। यह वैज्ञानिक कल्पना भिन्न भिन्न भाषाओं के लिये भिन्न भिन्न भी की जा सकती है; परन्तु उत्तम बात तो यह है कि समस्त भाषाओं के लिये एक ही लेख-प्रणाली की कल्पना की जावे। यह अवश्य है कि ऐसी दशा में भिन्न भिन्न भाषाओं के ज़रा ज़रा से भेदों को शुद्ध शुद्ध लेख द्वारा प्रकट करने के लिये भिन्न भिन्न अनेकानेक संकेतों और चिह्नों की कल्पना करनी होगी, और अतएव लेख-प्रणाली बड़ी जटिल हो जायगी। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि

शब्द अपनी स्वतन्त्र स्थिति रखते हैं—हमारे ऐसे सोचने का एक कारण यह है कि हम लेख में वाक्य के शब्दों को पृथक पृथक् स्थान छोड़कर लिखते हैं। परन्तु तात्पर्य-भेद से वाक्य-गत शब्दों के उच्चारण में होने वाले लहजे के भेद पर दृष्टि देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वाभाविक भाषा में शब्दों की वाक्य से पृथक् स्वतन्त्र स्थिति नहीं होती। लहजे के लिये, भिन्न भिन्न शब्दों के स्थान में, हमारी दृष्टि वाक्य पर ही रहती है। भाषा के प्रयोजन पर भी दृष्टि डालने से यही सिद्ध होता है कि वाक्य को ही भाषा की चरम व्यक्ति होना चाहिये। भाषा का प्रयोजन वक्ता के तात्पर्य को प्रकट करना ही होता है। और वाक्य के बिना हमारा कोई विचार प्रकट ही नहीं किया जा सकता।

भिन्न भिन्न शब्दों का वाक्य के साथ ऐसा ही सम्बन्ध है जैसा वर्णों और अक्षरों का शब्दों के साथ। हम एक शब्द का अनेक वर्णों में विश्लेषण कर सकते हैं; परन्तु यह काम वर्ण-विषयक अनुसन्धान करनेवाले का ही हो सकता है, न कि वक्ता का। इसी प्रकार एक वाक्य का शब्दों में विश्लेषण किया जा सकता है; परन्तु यह काम भी एक वैयाकरण का न कि वक्ता का हो सकता है।[1]

---

१ तु०—"पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा इव। वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥", "यथा पदे विभज्यन्ते प्रकृतिप्रत्यया-

जिसने वर्ण-विज्ञान नहीं सीखा है और जिसकी श्रवणेन्द्रिय अत्यन्त सुशिक्षित नहीं है वह तो उपर्युक्त भेदों को अनुभव ही नहीं कर सकता, लिखना तो दूर रहा।

४—वर्ण-विज्ञान के अध्ययन में ऐतिहासिक दृष्टि

आधुनिक भाषाओं में पाये जाने वाले वर्णों के स्वरूप के विवेचन से और उनके उच्चारण की विधि के स्पष्ट हो जाने से वर्णों के इतिहास के निर्धारण में भी बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। वर्ण-विज्ञान के द्वारा वर्णों के स्वरूप और भेद के कारण के स्पष्ट हो जाने से एक वर्ण के स्थान में दूसरा वर्ण किस तरह हो जाता है, इसके समझने में कोई कठिनता नहीं रहती। उदाहरणार्थ, 'तत् + अस्ति' = 'तदस्ति' इत्यादि स्थलों में 'त्' के स्थान में 'द्' ही क्यों होता है, 'ग' क्यों नहीं हो जाता; या 'द्' भी क्यों होता है? पालि में 'धर्म' को 'धम्म', 'सप्त' को 'सत्त' कैसे हो जाता है? इत्यादि भिन्न भिन्न वर्ण-विकारों का कारण स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार संस्कृत आदि में भिन्न भिन्न संधियों का कारण या संस्कृत शब्दों के पालि या प्राकृत शब्दों के रूप में आ जाने का कारण किसी वैयाकरण के सूत्रों की आज्ञा न होकर स्वाभाविक प्रतीत होने लगता है।

वर्ण-विज्ञान के द्वारा ही प्राचीन भाषाओं में किस वर्ण का किस तरह उच्चारण होता था यह जाना जा सकता।

वाक्य कितना ही बड़ा हो सकता है। वह एक अक्षर का भी हो सकता है, जैसे 'चल !', 'हाँ'; और अनेक शब्दों से भी बन सकता है। आवश्यक बात यह है कि उसके द्वारा वक्ता का पूरा अभिप्राय प्रकट होना चाहिये।

इसी सिद्धान्त के आधार पर यह कहा जाता है कि प्रत्येक सार्थक स्वतन्त्र शब्द का आरम्भ वाक्यों से हुआ है। आरम्भ में या तो वे वाक्य के अभिप्राय से प्रयुक्त किये गये होंगे या वाक्य-रूप में ही रहे होंगे।

भाषा की प्रारम्भिक दशा में वाक्य का स्वरूप हस्तादि-संकेत और शब्दों के मेल से बनता होगा। क्योंकि भाषा की प्रारम्भिक दशा में हस्तादि-संकेत की बहुत प्रधानता रहती है। उस अवस्था में हस्तादि-संकेत से पृथक् शब्द का कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं हो सकता। दोनों मिलकर समस्त-रूप से ही तात्पर्य को प्रकट कर सकते हैं।

वाक्य में से शब्दों की कल्पना अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा इसी प्रकार कर ली गई है जैसे शब्दों के अन्दर प्रकृति

दयः। अपोद्धारस्तथा वाक्ये पदानामुपवर्ण्यते ।।" (वाक्यपदीय १।७३ तथा २।१०) "एवं च निरंशमेव वाक्यं वाचकमित्येव युक्तम् ।" तथा "तस्मान्मन्यामहे पदान्यसत्यानि एकमभिन्नस्वभावकं वाक्यम्। तद-बुधबोधनाय पदविभागः कल्पितः।" (पुण्यराजकृत वाक्यपदीय की टीका २।१२ तथा २।५८)।

उदाहरणार्थ, वैदिक समय के प्रारम्भ में 'अ' का उच्चारण विवृत होता था, और धीरे धीरे पीछे से संवृत होने लगा, इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि ऋचाओं में 'अ' का अभिनिधान (=पदान्त 'ए', 'ओ' के पीछे आने पर 'अ' का पूर्व-रूप हो जाना) पिछली संस्कृत की अपेक्षा बहुत कम देखा जाता है; और जहाँ देखा भी जाता है वहाँ छन्द को ठीक ठीक बैठाने के लिये सन्धि को प्रायः तोड़कर पढ़ना पड़ता है। संधि का आधार यदि हमारा स्वाभाविक उच्चारण है तो यह स्पष्ट है कि विवृत 'अ' की अपेक्षा संवृत 'अ' का अभिनिधान हो जाना अधिक स्वाभाविक है। इसी प्रकार प्राकृत में 'ए', 'ओ' का उच्चारण ह्रस्व भी होता था—इसका एक प्रमाण यह है कि इनके पीछे आने वाले व्यञ्जन को द्वित्व हो जाता था; जैसे यौवन = जोॅव्वण, प्रेमन् = पेॅम्म, एवम् = एॅव्वम्, स्रोतस् = सोॅत्त। इस द्वित्व का कारण यही हो सकता है कि 'ए' 'ओ' के ह्रस्व उच्चारण से जो मात्रा की कमी होती थी वह अगले व्यञ्जन के द्वित्व से पूरी की जाती थी।

प्राचीन उच्चारण के ठीक ठीक जानने से जो लाभ हो सकते हैं उन में से एक यह भी है कि हम इस प्रकार पुरानी कविताओं के माधुर्य को अधिक अनुभव कर सकते हैं। उन कविताओं को यदि हम आधुनिक वर्णानुपूर्वी या हिज्जों के अनुसार पढ़ें तो उनका माधुर्य बहुत कुछ नष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ, वैदिक ऋचाओं को छन्दों के अनुसार ठीक

(या धातु) और प्रत्यय की। जिस प्रकार एक धातु से बने हुए भिन्न भिन्न शब्दों में भिन्न भिन्न अर्थों के होते हुए भी एक मूलार्थ पाया जाता है और इससे उन सब की मूल-भूत धातु की कल्पना कर ली जाती है, इसी प्रकार भिन्न भिन्न वाक्यों में एक ही शब्द के प्रयोग को बार बार देखकर एक स्वतन्त्र शब्द की कल्पना कर ली गई है।

भाषा की प्रारम्भिक दशा का अच्छा उदाहरण उत्तरीय अमरीका के आदि-निवासियों की भाषाओं में मिलता है। उनमें हज़ारों ऐसे वाक्य हैं जिनमें से पृथक् पृथक् शब्दों की कल्पना अब तक नहीं की गई है। उदाहरणार्थ, उन्हीं लोगों की चेरोकी (Cheroki) भाषा में तेरह वाक्य-स्वरूप क्रियायें ऐसी हैं जो भिन्न भिन्न प्रकार के 'धोने' के अर्थ में आती हैं; जैसे 'सिर धोना', 'हाथ धोना', 'अपने को धोना' इत्यादि। परन्तु उन तेरह क्रियाओं में से अब तक केवल 'धोने' अर्थ को रखने वाली एक स्वतन्त्र धातु की कल्पना नहीं की गई है।[1]

९—व्यवहार-दृष्टि से शब्द भाषा की चरम व्यक्ति है

ऊपर कहा गया है कि तात्पर्य की दृष्टि से वाक्य ही भाषा की स्वाभाविक अवस्था में उसकी चरम व्यक्ति हो सकता है,

---

१ देखो—Pickering, *Indian Languages*, पृ० २६

ठीक पढ़ने के लिये कई प्रकार के नियमों को पालना होता है। इन नियमों में से संधि को प्रायः तोड़ना[१] और 'कर्हि' जैसे शब्दों में 'र्' आदि के पश्चात् स्वर-भक्ति (= स्वर का अंश) का प्रायः उच्चारण करना मुख्य हैं। इस प्रकार वैदिक ऋचाओं के न पढ़ने से उनके छन्दों का सारा माधुर्य मारा जाता है, और उनका पढ़ना एक गद्यात्मक पुस्तक के पढ़ने के सदृश हो जाता है।

भाषा-विज्ञानी के लिये वर्ण-विज्ञान का बड़ा उपयोग इस बात में है कि वह वर्ण-विज्ञान से परिचित होने के कारण शब्दों के इतिहास के विषय में खोज करते हुए शब्दों के हिज्जों से धोखे में नहीं पड़ता। उसकी दृष्टि शब्दों के उच्चरित स्वरूपों की—न कि लिखित रूपों की—तुलना की तरफ़ रहती है। कम से कम तुलना करते समय वह किसका वस्तुतः क्या उच्चारण है या था इस बात के जानने की उपेक्षा नहीं करता। उदाहरणार्थ, वृद्ध = बुड्ढा, बूढ़ा; शृगाल = सियार; घृत = घी; कृष्ण = कन्हाई; ऋक्ष = रीछ; पृच्छति = पूछता है; इत्यादि शब्दों की तुलना करते हुए भाषा-विज्ञानी की दृष्टि 'वृद्ध' आदि संस्कृत शब्दों में आये हुए 'ऋ' के प्राचीन असली उच्चारण पर होनी चाहिये। तभी वह एक

१ देखो "व्यूहेदेकाक्षरीभावान् पादेषूनेषु संपदे। क्षैप्रवर्णांश्च संयोगान् व्यवेयात्सदृशैः स्वरैः।" (ऋक्प्रातिशाख्य १७।२२—२३)।

और इसी लिये यह कहा जा सकता है कि भाषा का प्रारम्भ वाक्यों से, न कि इकले शब्दों से, हुआ होगा। तो भी, ऊपर कहे के अनुसार, जैसे शब्दों से पृथक् वर्णों की स्वतन्त्र स्थिति न होते हुए भी शब्द का वर्णों में विश्लेषण किया जा सकता है, इसी तरह वाक्य का विश्लेषण भी, समझने के व्यावहारिक उपयोग को दृष्टि में रखकर, शब्दों में किया जा सकता है।

उपर्युक्त दृष्टि से शब्द भाषा की सब से स्पष्ट चरम व्यक्ति है। साधारण परिचित पदार्थों के नाम बहुत करके इकले शब्दों के होते हैं; जैसे 'घोड़ा', 'गाय', 'घर', 'मनुष्य' इत्यादि। यही बात बहुतसे गुणों के नामों के विषय में कही जा सकती है; जैसे 'काला', 'हरा', 'खट्टा', 'मीठा', 'चिकना', 'कड़ा' इत्यादि। गुणों और पदार्थों के विषय में जो हमारा अनुभव और ज्ञान होता है उसको हम उनके नामों के द्वारा ही स्मरण रखते हैं।

मनुष्य की ज्ञान-वृद्धि में भाषा से सबसे अधिक सहायता मिलती है। एक बच्चे के विषय में जब वह बोलना सीखता है यह स्पष्ट देखा जाता है कि उसके ज्ञान की उन्नति माता पिता आदि के शब्दों के अनुकरण से सीखे हुए पृथक् पृथक् शब्दों के द्वारा ही होती है। बचपन के बाद भी नये नये ज्ञान की वृद्धि नये नये शब्दों के द्वारा ही होती है।

विदेशी भाषाओं के सीखने में शब्द-संग्रह और बड़े-बड़े शब्द-कोशों से बहुत कुछ सहायता ली जाती है।

'ऋ' के स्थान में 'उ'; 'इ' आदि वर्ण कैसे हो सकते हैं, इस बात को समझ सकता है। नहीं तो, 'ऋ' का जो आज-कल प्रायः प्रचलित 'रि' उच्चारण है उसके आधार पर ऊपर के सारे वर्ण-विकार समझ में नहीं आ सकते। इसी प्रकार जब एक भाषा-विज्ञानी प्राचीन लैटिन शब्दों की तुलना दूसरी प्राचीन भाषाओं के शब्दों के साथ करता है, या प्राचीन लैटिन शब्दों से आधुनिक शब्द निकालता है, तब उसे उन प्राचीन लैटिन तथा अन्य भाषाओं के शब्दों के असली प्राचीन उच्चारण पर न कि उनके आधुनिक अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में प्रचलित उच्चारण पर—दृष्टि रखनी चाहिये। इसलिये तुलनार्थ किसी प्राचीन शब्द का उदाहरण देना ही काफ़ी नहीं; हमको उसके ठीक ठीक प्राचीन उच्चारण पर भी विचार कर लेना चाहिये।

यह ठीक है कि प्राचीन भाषाओं के प्राचीन उच्चारण का निर्धारण करना कभी कभी बड़ा कठिन होता है, परन्तु तो भी इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भाषा-विज्ञानी का मूलाधार शब्दों के इतिहास पर है। इसलिये यदि वह प्राचीन शब्दों के उच्चारण को उल्टा समझता है, तो उसका सारा काम उल्टे आधार पर होने से व्यर्थ होगा।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, कभी कभी शब्दों की तुलना में उनके उच्चरित रूप की अपेक्षा लिखित रूप से अधिक सहायता मिलती है। परन्तु इसका कारण यही है कि प्राचीन

शब्दों के वर्णन में प्रायः कहा जाता है कि वे वाक्य के स्वतन्त्र चरमावयव होते हैं। इसी प्रकार वाक्य के विषय में भी अक्सर यही समझा जाता है कि वह शब्दों के समुच्चय से बनता है।

साधारणतया शब्दों का भाषा की चरम व्यक्ति होना इससे भी सिद्ध है कि यदि कुछ मनुष्यों से उनकी परिचित भाषा के एक वाक्य का शब्दों में विच्छेद करने को कहा जावे तो सामान्यतया उनको इसमें कोई सन्देह नहीं होगा कि कौन शब्द कहाँ ख़त्म होता है और कहाँ से शुरू होता है, और वे सब उस वाक्य का शब्दों की एक निश्चित संख्या में विच्छेद कर देंगे।

परन्तु अनेक दशाओं में इस प्रकार वाक्य का पदच्छेद करना सरल नहीं होता। कभी कभी इसका निश्चय करना कठिन हो जाता है कि कौन शब्द कहाँ से शुरू होता है और कहाँ समाप्त होता है। प्रायः यह देखा जाता है कि छापने और लिखने में शब्दों के बीच में कुछ अन्तर छोड़ दिया जाता है। यह कहा जा सकता है कि यह अन्तर उच्चारण में शब्दों के बीच में होने वाले विराम के अनुसार ही होता है। बहुत करके इस कथन के ठीक होने पर भी यह ठीक नहीं कि सदा ही ऐसा होता हो। लिखने में पृथक् पृथक् लिखे हुए शब्द प्रायः मिलाकर भी बोले जाते हैं। संस्कृत और फ़्रेंच जैसी भाषाओं में तो, जिनमें शब्दों में सन्धि हो जाती है, प्रायः

समय में शब्दों के हिज्जे थोड़े बहुत मोटी रीति से वर्ण-विज्ञान के अनुसार ही नियत किये गये थे, और आजकल अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में शब्दों के प्रचलित हिज्जे प्रायः प्राचीन उच्चारण के ही अनुसार हैं।

५—उच्चारणोपयोगी शरीरावयव

वर्ण-विज्ञान में प्रवेश करने से पहिले विद्यार्थी को उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों की रचना और क्रिया को ठीक ठीक समझ लेना चाहिये। इसके लिये सबसे सरल उपाय यह है कि एक दर्पण को हाथ में लेकर उसके द्वारा मुख के अन्तरीय भागों की अच्छी तरह परीक्षा करे। ठीक ठीक परीक्षा के लिये प्रकाश की तरफ़ पीठ करके खड़ा होना चाहिये; और दर्पण इस तरह हाथ में लेना चाहिये जिससे दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर प्रकाश मुख के भीतर पड़े, और साथ ही परीक्षक दर्पण में अपने मुख के अन्तरीय भागों को अच्छी तरह देख भी सके। उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों की प्रतिमायें या मॉडेल भी आजकल बनने लगे हैं। दीवाल पर लटकाने के लिये उनके चित्र भी मिल सकते हैं। ये कक्षाओं के लिये अच्छे काम के होते हैं।

उच्चारणोपयोगी शरीरावयव इस प्रकार हैं:—(१) फेंफड़े, (२) कण्ठ-पिटक या टेंटुए के सहित श्वास-नालिका, (३) ओष्ठ, दाँत, कड़ा तालु, कोमल तालु और

शब्द विना किसी विराम के बोले जाते हैं। ऐसी अवस्थाओं में वाक्य के पदच्छेद करने में कठिनता हो सकती है।

किसी भाषा को लेख की सहायता के विना केवल मौखिक रीति से सीखने वाले लोग उस भाषा की अनेक उक्तियों को, उस भाषा की रचना को समझे विना ही, कण्ठस्थ कर लेते हैं। ऐसे लोग उस भाषा के शब्दों का विच्छेद प्रायः ठीक ठीक नहीं कर सकते। इसका कारण यही है कि स्वाभाविक भाषा में प्रायः व्यवहार में आने वाली उक्तियों (या वाक्यांशों या शब्द-समुदायों) के बोलने में कोई विराम शब्दों के बीच में नहीं होता। भाषा के साहित्य-संपन्न होने पर उसके लिखने और छापने में शब्दों का ठीक ठोक विच्छेद दिखला दिया जाता है। इसी से शिक्षित लोगों की बोली पर भी कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता है, और वे अपने उच्चारण में शब्दों के ठीक ठीक पृथक् उच्चारण का ध्यान रखते हैं। परन्तु अशिक्षित लोग अनेक शब्द-समुदायों को मिलाकर ही नहीं बोलते, किन्तु उनको एक शब्द ही समझने लगते हैं। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी भाषा के How do you do ? (= आप कैसे हैं ?) को सर्वसाधारण How d'ye-do या How-didoo इस प्रकार एक शब्द के सदृश बोलते हैं। इसी प्रकार हिन्दी में 'सब + ही', 'जब + ही' इत्यादि के स्थान में 'सभी', जभी' इत्यादि बोला जाता है।

साहित्य-शून्य और वैयाकरणों के नियमों के बन्धनों से

जिह्वा के सहित मुख, (४) मुख और नासिका को मिलाने वाले प्रदेश के सहित नासिका। इनमें से फेंफड़ों और (कण्ठ-पिटक को छोड़कर) श्वास-नालिका को वस्तुतः श्वास-प्रश्वास का साधन समझना चाहिये; और शेष को मुख्यतया उच्चारणोपयोगी शरीरावयव जानना चाहिये। इनमें से प्रत्येक का संक्षेप से वर्णन इस प्रकार है—

(१) फेंफड़े। प्रत्येक प्रकार की आवाज़ का मुख्य, मूल या उपादान कारण फेंफड़ों से निकली हुई वायु का प्रवाह होता है। फेंफड़ों का काम धौंकनी का जैसा होता है। उनके फैलने से वायु उनमें भर जाती है, और उनके सिकुड़ने से बाहिर निकल जाती है। लगभग प्रत्येक प्रकार के वर्ण की उत्पत्ति फेंफड़ों से निकलती हुई प्रश्वास-रूप वायु से होती है। साँस के साथ श्वास-रूप से भीतर जाने वाली वायु से उत्पन्न होने वाले शब्द या आवाज़ का एक उदाहरण 'सीसी' करना या सीत्कार है। इस प्रकार का शब्द जब मनुष्य पीडा में होता है तब करता है।

(२) कण्ठ-पिटक और श्वास-नालिका। श्वास-नालिका उस नाली को कहते हैं जिसमें होकर वायु फेंफड़ों से मुख या नासिका तक पहुँचती है। इसी नालिका का सबसे आवश्यक भाग कण्ठ-पिटक है। इसको एक सन्दूक या पिटारे की तरह समझना चाहिये। इसको स्वर-यन्त्र भी कह सकते हैं। इसके अन्दर स्वर-तन्त्रियाँ होती हैं। कण्ठ-पिटक

रहित भाषाओं में तो शब्दों का विच्छेद करना और भी कठिन होता है। अनेक शब्द परस्पर इतने गुथ जाते हैं कि उनमें कौन शब्द कहाँ से शुरू होता है और कहाँ समाप्त होता है यह कहना बड़ा दुष्कर हो जाता है।

१०—समस्त शब्द और विभक्त्यर्थक अव्यय

ऐसी भाषाओं में भी जिनका व्याकरण लिखा जा चुका है और जिनकी रचना अच्छी तरह समझी जा चुकी है कभी कभी समस्त शब्दों और हिन्दी 'का', 'के' इत्यादि के सदृश शब्दों के पीछे (या पहिले) आने वाले विभक्त्यर्थक अव्ययों के विषय में पदच्छेद करने में कठिनता प्रतीत होती है।

भाषा के विकास में समास से बड़ी सहायता मिलती है। संक्षेप और सुविधा के उद्देश्य से दो या अधिक स्वतन्त्र शब्दों को समास के द्वारा मिला देने से एक शब्द का रूप प्राप्त हो जाता है। इसी से उनमें उच्चारण-संबन्धी परिवर्तन की अधिक संभावना होती है। कभी कभी यह परिवर्तन इतना अधिक हो जाता है कि समस्त शब्दों को वस्तुतः एक शब्द ही समझने लगते हैं; और उनमें कितने शब्द मिले हुए हैं यह कहना कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ हिन्दी के 'सौत' (=सपत्नी), 'सलूना' (=सलवण), 'सोना' (=सुवर्ण), 'साढ़े' (=सार्द्ध), 'पौन' (=पादोन) इत्यादि शब्दों को ही लीजिये। इनका अनेक शब्दों से बनना स्पष्ट नहीं दीखता।

(या टेंटुआ) गर्दन में बाहिर से उभरा हुआ प्रतीत होता है। पुरुषों में स्त्रियों की अपेक्षा इसका उभार अधिक होता है।

स्वर-तन्त्रियाँ रबर की भाँति स्थिति-स्थापक अर्थात् खिंचकर सिकुड़ जाने वाले दो परदे हैं। ये कण्ठ-पिटक के पिछले भाग से आड़े आकर सामने के किनारे से ज़रा नीचे इस तरह से जुड़ जाते हैं कि श्वास-नालिका को दोनों तरफ़ से घेरे रहते हैं। साधारण श्वास-प्रश्वास की अवस्था में ये श्वास-नालिका को नहीं ढाँपते; और वायु विना रोक टोक अन्दर बाहिर जा आ सकती है। परन्तु ये दोनों परदे इस तरह मिल भी सकते हैं कि श्वास-नालिका का मार्ग बिल्कुल बन्द हो जाता है। उस अवस्था में फेंफड़ों से आती हुई वायु को बाहिर आने के लिये ज़ोर लगाकर इन परदों के बीच से निकलना पड़ता है। वायु के ज़ोर से ये परदे उस अवस्था में कम्पन करने लगते हैं। टेंटुए पर हाथ रखकर इस कम्पन का अनुभव किया जा सकता है।

इन परदों के खुले (विवृत) रहने पर वायु विना किसी रुकावट के बाहिर निकल जाता है; और उस अवस्था में जो शब्द होता है उसको श्वास कहते हैं। यही श्वास आगे कहे गये अघोष वर्णों की प्रकृति है। परन्तु उक्त दोनों परदों के बन्द (संवृत) होने पर वायु के आघात से जब ये कम्पन करने

परन्तु कभी कभी दो या अधिक पृथक् (या असमस्त) शब्दों के समुदाय में और समस्त शब्दों में ठीक ठीक भेद करना असम्भव-सा हो जाता है। अंग्रेज़ी भाषा में समास से अभिप्राय प्रायः शब्दों के ऐसे समुच्चय से होता है जिसके लिखने और छापने में शब्दों के बीच में कोई अन्तर नहीं छोड़ा जाता, जैसे backbone (=रीढ़), millstone (= चक्की का पाट); या शब्द संयोजक-रेखा (-) से जुड़े हों, जैसे light-hearted (=प्रसन्न), Anglo-Indian, man-of-war (=लड़ाई का जहाज़)। संयोजक-रेखा से युक्त शब्दों के इतिहास और व्यवहार की परीक्षा से यह बात स्पष्ट है कि इनमें संयोजक-रेखा का लिखना या छापना किसी नियम पर आश्रित न होकर बहुत कुछ मनमाना ही होता है। इनसे मिलते-जुलते बहुत-से शब्दों में संयोजक-रेखा नहीं लिखी जाती।

उच्चारण में स्वर या लहजे के द्वारा समस्त शब्दों को असमस्त शब्द-समुदायों से अवश्य पृथक् किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, एक गाने वाले यूरोपीय पक्षि-विशेष के अर्थ में प्रयुक्त समस्त blackbird शब्द को असमस्त black bird (=काला पक्षी) से स्वर के भेद से ही पृथक् समझा जा सकता है। This horse is two years old (=यह घोड़ा दो साल का है) और This horse is a two-year-old......इन दोनों वाक्यों में भी स्वर के द्वारा समास अस-

लगते हैं तब जो शब्द होता है उसे **नाद** कहते हैं। यही नाद आगे कहे गये घोष या सघोष वर्णों की प्रकृति है।[1]

श्वास और नाद। साधारणतया प्रत्येक वर्ण या तो श्वासमय या नादमय होता है। श्वासमय वर्णों को **अघोष**, **श्वास-युक्त** या **श्वासानुप्रदान** कहते हैं; और नाद वालों को **घोष** (या **सघोष** या **घोषवान्**), **नाद-भागी** या **नादानुप्रदान** कहते हैं। दोनों में जो भेद है वह क्रम से 'प्', 'क्', 'स्' आदि और 'ब्', 'ग्', 'ज़्' आदि वर्णों को ध्यान से उच्चारण करने से प्रतीत हो जावेगा। 'प्', 'क्', 'स्' ये अघोष हैं। इनको उच्चारण करते हुए स्वर-तन्त्रियों के बीच में अच्छा अवकाश रहता है। एक विशेष प्रकार के अति छोटे दर्पण से, जिसको मुख के पिछले भाग तक ले जाते हैं, यह बात देखी जा सकती है। 'ब्', 'ग्', 'ज़्' ये सघोष हैं। इनके उच्चारण में स्वर-तन्त्रियाँ एक दूसरे से मिल जाती हैं, और अतएव वायु के टकराने से कम्पन करने लगती हैं।

सघोष और अघोष वर्णों को सुनकर पहिचानने के लिये अधिक अभ्यास की आवश्यकता नहीं है; तो भी इनकी परीक्षा करने में कुछ प्रसिद्ध उपाय बरते जा सकते हैं। अघोष और सघोष वर्णों को उच्चारण करते हुए यदि कानों को अँगु-

---

१ तु० "वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानं कण्ठस्य खे विवृते संवृते वा। आपद्यते श्वासतां नादतां वा वक्त्रीहायाम्।" (ऋक्प्रातिशाख्य १३।१)।

भास के निश्चय करने में सहायता मिलती है। इस जगह संयोजक-रेखा लिखने में समस्त शब्दों के लहजे को द्योतित कर देती है। इसके विपरीत, अनेक शब्द-समुदाय ऐसे होते हैं जिनके उच्चारण के लहजे से तो यह प्रतीत होता है कि उनको एक समस्त शब्द समझना चाहिये, परन्तु लिखने में न तो उनको समस्त शब्दों की तरह जोड़कर ही लिखा जाता है और न उनके बीच में संयोजक-रेखा ही लिखी जाती है, जैसे :—

The best of all trades is·········

(=·········सब से श्रेष्ठ तिजारत है)

The house of Lords.

इसी प्रकार forsooth (=सचमुच) शब्द के विषय में कोई पूछ सकता है कि इसको एक शब्द क्यों मानना चाहिये। पहिले इसको दो शब्दों में लिखते थे। यदि यह एक शब्द है, तो of course (=वास्तव में) दो शब्द क्यों हैं?

इसी प्रकार उर्दू में 'बन्दोबस्त', 'रूबरू'(=सामने) इत्यादि फ़ारसी शब्द एक एक शब्द ही माने जाते हैं। परन्तु यह प्रश्न रह जाता है कि क्या फ़ारसी में भी ये एक-शब्दवत् माने जाते हैं या 'बन्द+ओ+बस्त' और 'रू+ब+रू' से बनने के कारण तीन तीन शब्द। हिन्दी में भी यह विचारणीय हो सकता है कि 'ध्यान धरना', 'काम आना', 'राह चलना'

लियों से बन्द कर लिया जावे तो सघोष वर्णों के बोलने में एक ऊँची गूँज सुनाई देगी, परन्तु अघोषों को बोलते हुए ऐसा नहीं होगा। परीक्षा का दूसरा प्रकार, जैसा ऊपर कहा है, यह है कि कण्ठ पर अँगुली रखकर यदि देखा जावे तो सघोष वर्णों के उच्चारण करने में स्पष्ट कम्पन प्रतीत होता है, परन्तु अघोष वर्णों के बोलने में ऐसा नहीं होता।

कोई कोई अघोष वर्णों को कठोर और सघोषों को कोमल इस दृष्टि से कहते हैं कि सघोष वर्णों की अपेक्षा अघोष वर्णों के उच्चारण में, स्वरतन्त्रियों के खुले रहने से, वायु के प्रबल प्रवाह को बाहिर मुख में लाना अधिक सरल होता है और सघोष वर्णों के उच्चारण में स्वर-तन्त्रियों के बन्द रहने से इस प्रवाह की प्रबलता उतनी नहीं रहती। संस्कृत, हिन्दी आदि में इस दृष्टि से सघोष और अघोष वर्णों का स्पष्टतया भेद नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, संस्कृत 'क्', 'ग्' में वायु के प्रवाह की प्रबलता में स्पष्ट भेद प्रतीत नहीं होता। परन्तु अंग्रेज़ों आदि के उच्चारण में k, p और g, b आदि के उच्चारण में स्पष्टतया भेद किया जा सकता है। किसी अंग्रेज़ के बोलने पर एक हिन्दुस्तानी को प्रायः ऐसा सुनाई देता है कि वह k, p आदि को kh, ph आदि की तरह बोल रहा है।

वस्तुतः सघोष और अघोष वर्णों के उच्चारण में उक्त आपेक्षिक भेद रहने पर भी यह आवश्यक नहीं कि वायु के

इत्यादि को समस्त मानना चाहिये या असमस्त। लिखने में तो इनको असमस्त ही लिखते हैं।

संस्कृत जैसी विभक्ति-युक्त भाषाओं में, जिनमें भिन्न भिन्न कारकों और लकारों के लिये तथा भिन्न भिन्न वचनों आदि के लिये भिन्न भिन्न प्रत्यय होते हैं, साधारणतया समस्त और असमस्त शब्दों का भेद तत्काल प्रतीत हो जाता है, क्योंकि समास में विभक्ति केवल अन्तिम शब्द के आगे ही लगती है। शब्दों का इस प्रकार समास करना संस्कृत भाषा में अति प्राचीन समय से पाया जाता है। समासों का विशेष लक्षण स्वर की एकता और अन्तिम शब्द को छोड़-कर अन्य समस्त शब्द या शब्दों का विभक्ति-रहित होना ही है। परन्तु कभी कभी ये लक्षण लौकिक और विशेषतः वैदिक संस्कृत में समासों में नहीं पाये जाते। उदाहरणार्थ, 'मातरापितरा', 'मित्रावरुणौ', 'इन्द्रावरुणौ', 'द्यावापृथिवी' इत्यादि समस्त शब्दों में उपर्युक्त दोनों बातें नहीं पाई जातीं। वैदिक व्याकरण के अनुसार ऊपर के उदाहरणों में 'मित्रा' आदि के अन्त में दीर्घ 'आ' लौकिक संस्कृत के द्विवचनार्थक 'औ' का ही स्थानीय है। यही नहीं, कभी कभी वैदिक संस्कृत में समस्त शब्दों के बीच में अन्य शब्द भी आ जाते हैं; जैसे 'नरा वा शंसम्' (ऋग्वेद १०।६४।३) = नराशंसम्। वा। यह स्पष्ट है कि ऐसे उदाहरणों में समस्त और असमस्त

प्रवाह की प्रबलता अघोष वर्णों में ही पाई जावे। यह भेद सघोष और अघोष दोनों प्रकार के वर्णों में हो सकता है। उदाहरणार्थ, संस्कृत, हिन्दी आदि में अघोष 'क्' का महा-प्राणरूप 'ख्', और सघोष 'ग्' का 'घ्' होता है। संस्कृत वर्णोच्चारण-शिक्षा में इसी दृष्टि से वर्णों में महाप्राण और अल्पप्राण का भेद किया गया है। महाप्राण वर्णों को हम प्रबल और अल्पप्राण वर्णों को दुर्बल भी कह सकते हैं।

(३) जिह्वा। यह एक अत्यन्त कोमल शरीरावयव है और अनेक प्रकार के आकारों को धारण कर सकता है। इसी के द्वारा इसके और मुख के अन्दर की दीवालों के बीच में जो अवकाश है उसके आकार में भी अनेक परिवर्तन हो सकते हैं। जिह्वा के द्वारा ही वायु के बाहिर आने के मार्ग की ऐसी शक्ल हो सकती है कि वह आगे से संकुचित और पीछे से फैला हुआ हो, जैसा कि 'इ' के उच्चारण में होता है; या पीछे से संकुचित और आगे से चौड़ा हो, जैसा कि 'उ' के उच्चारण में।

जिह्वा के द्वारा ही मुख के अन्दर भिन्न भिन्न दन्त, तालु आदि स्थानों को इस प्रकार स्पर्श किया जा सकता है कि अन्दर से आती हुई वायु का प्रवाह बिल्कुल रुक जावे और फिर उस स्पर्श के एकाएक दूर करने पर उस रुकी हुई वायु के निकलने से एक प्रकार का स्फोटन-रूप शब्द हो। इस

शब्दों का भेद करना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार यहाँ 'देवानांप्रियः',[१] 'मातुःष्वसा'[२] इत्यादि अलुक्समासों के उदाहरण दिये जा सकते हैं।

'को', 'का', 'की', 'ने' इत्यादि विभक्त्यर्थक अव्ययों को हिन्दी में शब्दों का भाग मानना चाहिये या नहीं, इस बात का कोई सर्व-सम्मत निर्णय अभी तक नहीं हुआ है। कोई इनको शब्दों से सटाकर और कोई पृथक् ही लिखते हैं। सामान्यतया पृथक् लिखने वाले भी प्रायः सर्वनामों के साथ सटाकर लिखते हैं, यद्यपि इस भेद-भाव का कोई विशेष कारण स्पष्ट प्रतीत नहीं होता।

ऊपर के लेख से यह स्पष्ट हो गया होगा कि लिखी जाने वाली और अतएव अपने बोलने वालों द्वारा परीक्षित भाषाओं में भी पदच्छेद करने के विषय में कभी कभी संदेह हो सकता है। फिर असभ्य लोगों की भाषाओं के विषय में तो, जो अब तक लेख में नहीं आई हैं और जिनमें अभी तक प्रारम्भिक खोज भी नहीं हुई हैं, कहना ही क्या है। उनमें पदच्छेद करना कितना कठिन है इसके कहने की आवश्यकता नहीं।

---

१ देखो :—"देवानांप्रिय इत्यत्र च षष्ठ्या अलुग्वक्तव्यः" (वार्त्तिक ६।३।२१)।

२ देखो :—"विभाषा स्वसृपत्योः" (अष्टाध्यायी ६।३।२४)।

प्रकार जिन वर्णों का उच्चारण होता है उनको **स्फोटक** या **स्पर्श** कहते हैं; जैसे 'क्', 'ग्' इत्यादि।

यह भी हो सकता है कि वायु के बहिर्निस्सरण के मार्ग को जिह्वा पूरा पूरा न रोककर थोड़ा थोड़ा खुला रक्खे और वायु उस थोड़े खुले हुए मार्ग से दोनों ओर घर्षण करता हुआ बलात्कार बाहिर निकल सके, जैसा कि 'स्' या 'ज़्' के उच्चारण में होता है। इस प्रकार से उच्चरित वर्णों को **घर्षक** कहते हैं।[1]

ऐसा भी हो सकता है कि जिह्वा मुख के आभ्यन्तर स्थानों से बिलकुल दूर रहे और वायु को अधिक स्वच्छन्द रीति से बाहिर निकलने दे। स्वरों के उच्चारण में ऐसी ही अवस्था होती है। इस प्रकार से उच्चरित वर्णों को **विवृत** कहते हैं।[2]

---

१ यह स्पष्ट है कि ऊपर दिखलाये हुए 'स्पर्श' और नीचे दिखलाये हुए 'विवृत' वर्णों के बीच में वर्ण-स्थानों के साथ जिह्वा के स्पर्शास्पर्श की अवस्था के भेद से 'घर्षक' वर्णों के कई अवान्तर भेद हो सकते हैं। इसी दृष्टि से संस्कृत शिक्षाकारों ने प्रायः अन्तःस्थाओं का प्रयत्न **ईषत्स्पृष्ट** और ऊष्माओं का **ईषद्विवृत** माना है। यहाँ हम दोनों प्रकार के वर्णों को 'घर्षक' कह सकते हैं। तु० "स्पृष्टं स्पर्शानां करणम्। ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्। विवृतमूष्मणाम्। ईषदित्येवानुवर्तते। स्वराणां विवृतम्। ईषदिति निवृत्तम्।" (महाभाष्य १।१।१०)।

२ संस्कृत शिक्षाकार प्रायः ह्रस्व 'अ' को विवृत न कहकर

११—शब्द का वाच्य क्या होता है ?

शब्द के वर्णन में प्रायः बहुत लोग ऐसा कहते हैं कि शब्द हमारे चिन्तन के 'भाव'-रूप स्वतन्त्र चरमावयव का निर्देशक होता है। इसी प्रकार वाक्य के विषय में कहा जाता है कि शब्द-समुच्चय रूप वाक्य हमारे 'भावों' के समुच्चय का निर्देश करता है।

भाषा का प्रारम्भ वाक्यों से हुआ है इसका प्रतिपादन करते हुए हम कह चुके हैं कि 'विचार' से पृथक् स्वतन्त्र रीति से 'भाव' हमारे मन में नहीं रहते। परन्तु शब्द के उप-र्युक्त वर्णन में 'भावों' की हमारे मन में स्वतन्त्र स्थिति मान ली गई है। ऐसे मानने का कारण पश्चिमीय तर्क-शास्त्र का चिन्तनाणुवाद ही है। यह वाद आज-कल नहीं माना जाता। प्राचीन तार्किक लोग इसको मानते थे। इस वाद का खण्डन करने से पहिले हम इसका स्वरूप बतलाते हैं।

चिन्तनाणु-वाद का आशय यह है कि हम अपने चिन्तन को कुछ स्वतन्त्र स्थिति रखने वाले अन्तिम भागों में, जिनको हम 'भाव' कह सकते हैं, विभक्त कर सकते हैं। ये 'भाव' हमारे मन में पृथक् पृथक् रहते हैं और सोचने में किसी प्रकार इकट्ठे हो जाते हैं। जेवन्स (Jevons) महाशय कहते हैं :— "केवल-ग्रहण से आशय मन की उस क्रिया से है जिसके द्वारा हमको किसी पदार्थ का भासमात्र होता है, या

ओष्ठ। जिह्वा की तरह ओष्ठों के द्वारा भी वायु को रोक-कर सशब्द स्फोटन हो सकता है। उदाहरणार्थ, 'प्', 'ब्' के उच्चारण में जो वायु का क्षणिक निरोध होता है वह ओष्ठों के द्वारा ही होता है। 'व्' के उच्चारण में ओष्ठों के कुछ खुले रहने से वायु घर्षण करता हुआ बाहिर निकलता है। इसी प्रकार भिन्न भिन्न स्वरों के उच्चारण में ओष्ठों को भिन्न भिन्न आकारों में रखना पड़ता है। उदाहरणार्थ 'आ' के उच्चारण में ओष्ठ खूब खुले रहते हैं; 'इ' के उच्चारण में कुछ संकुचित और 'उ' के उच्चारण में गोलाकार हो जाते हैं।

दाँत। ऊपर के दाँतों के साथ जिह्वा के अग्र-भाग के कम या अधिक सटने से या दूर रहने से दन्त-स्थानीय स्पर्श, घर्षक और विवृत वर्णों का उच्चारण किया जाता है। इस काम में दाँतों के एक ही प्रदेश से काम नहीं लिया जाता। ऊपरी दाँतों के पीछे की तरफ़ नीचे का भाग, दाँतों की जड़ या उससे भी पीछे जो उभरा हुआ खुरखुरा स्थान है इन सबकी सहायता से भिन्न भिन्न वर्णों का उच्चारण होता है। 'त्', 'र्' और अंग्रेज़ी t इनके उच्चारण में क्रम से दाँतों के उक्त तीनों भागों से काम लिया जाता है। दाँतों के पीछे जो

'संवृत' कहते हैं, क्योंकि इसका उच्चारण 'आ' की अपेक्षा अधिक दबा हुआ (=संवृत) होता है। दूसरे स्वरों की अपेक्षा इसके उच्चारण में जिह्वा बहुत कुछ अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहती है।

जिसके द्वारा हमारे मन में किसी पदार्थ के विषय में प्रत्यय, भाव या वृत्ति पैदा होती है। इस प्रकार 'लोहा' शब्द से हमारे मन में एक दृढ़ और बड़े काम की धातु का ध्यान आ जाता है, परन्तु यह शब्द लोहे के विषय में कुछ नहीं बतलाता और न उसकी किसी दूसरी वस्तु से तुलना ही करता है।... 'विचार' मन की दूसरे प्रकार की क्रिया है। इसमें केवल-ग्रहण से पदार्थों के विषय में प्राप्त हुए दो 'भावों' या 'प्रत्ययों' की यह निश्चय करने के लिये तुलना की जाती है कि वे परस्पर मिलते हैं या नहीं।" यही विद्वान् आगे कहते हैं कि इस प्रकार के उद्देश्य-विधेयात्मक 'विचारों' को हम मन की एक निर्णय नाम की तीसरे प्रकार की क्रिया के द्वारा इकट्ठा कर लेते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त चिन्तनाणुवाद के अनुसार मन में केवल-ग्रहण, विचार और निर्णय नाम की तीन प्रकार की क्रियायें एक एक के पीछे स्वतन्त्र-रूप से हो सकती हैं।

परन्तु विचार-पूर्वक देखने पर मन की क्रियाओं और चिन्तन के प्रकार के विषय में यह वाद ठीक नहीं मालूम होता। आज-कल पश्चिमीय तर्क-शास्त्र में ऐसा न मानकर यह माना जाता है कि हमारे 'भावों' की उत्पत्ति में, 'विचारों' में और निर्णय में स्वतन्त्र-रूप से पृथक् पृथक् रहने वाली और एक के पीछे एक करके आने वाली क्रियायें नहीं होतीं। किन्तु इन सब में वस्तुतः एक ही मानसिक क्रिया या व्यापार की उन्नति और विकास होता है। वस्तुतः देखा जावे तो

उभरा हुआ खुरखुरा स्थान है वह वस्तुतः नीचे वर्णन किये गये तालु का ही एक भाग है।

नीचे के ओष्ठ और ऊपर के दाँतों के द्वारा भी वायु को कम या अधिक रोकने से वर्णों का उच्चारण किया जाता है। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी के v, f का उच्चारण इसी तरह होता है। संस्कृत 'व्' का उच्चारण भी, जब एक ही अक्षर में इस के पूर्व कोई दूसरा व्यञ्जन नहीं होता, इसी तरह होता है।

तालु। मुख के अन्दर जो छत है उसको तालु कहते हैं। इसको मुख्यतया दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। अगले भाग को कठोर तालु, और पिछले को कोमल तालु कहते हैं। इन दोनों को जिह्वा या अँगुली से छूकर देखा जा सकता है। अगले भाग के कठोर होने का कारण इसका अस्थिमय होना है।

भिन्न भिन्न प्रकार के वर्णों के उच्चारण की दृष्टि से कठोर तालु को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। सबसे अगला भाग जो दाँतों के पीछे उभरा हुआ है उसका वर्णन ऊपर दाँतों के साथ किया जा चुका है। इसको ऋग्वेद-प्रातिशाख्य (पटल १, सूत्र ४६) में बर्स्व[1] नाम दिया है। द्वितीय

---

१ 'बर्स्व' के स्थान में 'वर्त्स' तथा 'बर्स्व्य' वर्णों के लिये 'वर्त्स्य' शब्दों का प्रयोग प्रायः आजकल किया जाने लगा है। आधुनिक संस्कृत कोशों में भी ये शब्द प्रवेश कर गये हैं। इसका आधार ऋक्-

किसी पदार्थ का केवल-ग्रहण भी तद्विषयक 'विचार' के विना नहीं होता।[1] लोहे के विषय का 'भाव' भी तद्विषयक ऐसे 'विचारों' से ही होता है कि लोहा कड़ा, भारी आदि होता है।

इसलिये जैसा हम ऊपर कह चुके हैं 'भावों' की 'विचार' से पृथक् मन में स्वतन्त्र स्थिति न मानकर यही मानना चाहिये कि 'भाव' हमारे चिन्तन में पृथक् रहने के अयोग्य काल्पनिक अंश-मात्र होते हैं।

इसलिये इस अधिकरण के आरम्भ में दिया हुआ शब्द का वर्णन ठीक नहीं हो सकता। हम शब्द को चिन्तन के 'भाव'-रूप स्वतन्त्र चरमावयवों का निरूपक न कहकर यही कह सकते हैं कि शब्द भाषा की उस चरम व्यक्ति को कहते हैं जिसका सम्बन्ध अर्थ-दृष्टि से एक वाक्य के द्वारा प्रकट किये जाने वाले 'विचार' के एक अंश से होता है।

१२—श्रवणीय रूप की दृष्टि से शब्द का वर्णन

ऊपर कहा गया है कि शब्द के शाब्दिक या श्रोतव्य रूप को दृष्टि में यदि रक्खा जावे तो अक्षरों या वर्णों के समुदाय विशेष को शब्द कहा जा सकता है। यहाँ इतना ध्यान में रखना चाहिये कि एक शब्द में अनेक वर्णों का होना आव-

---

१ तु०—"वाक्यभावमवाप्तस्य सार्थकस्यावबोधतः। संपद्यते शाब्द-बोधो न तन्मात्रस्य बोधतः॥" (शब्दशक्तिप्रकाशिका १२)।

भाग को संस्कृत-वर्णोच्चारण-शिक्षा में तालु का नाम दिया है। तृतीय भाग को संस्कृत में मूर्धा के नाम से पुकारते हैं।

कोमल तालु के लिये संस्कृतशिक्षाकारों में कण्ठ नाम प्रसिद्ध है।

कोमल तालु का अन्तिम भाग हिल जुल सकता है। अननुनासिक वर्णों के उच्चारण में यह ऊपर उठ जाता है और वायु को नासिका में जाने से रोकता है। इसके पूँछ-रूपी नीचे लटकने वाले भाग को 'काग' या 'कौआ' कहते हैं।

(४) नासिका। कोमल तालु का अन्तिम भाग जब नीचे लटकता रहता है तब नासिका तक वायु के जाने का मार्ग खुल जाने से वायु नासिका में होकर निकल सकती है। ओष्ठों के बन्द रहने पर साँस बाहिर निकालने में वायु नासिका में से ही निकलती है। परन्तु साथ ही यदि स्वर-तन्त्रियाँ परस्पर मिलकर श्वास-नालिका को ढाँप दें और अतएव उनमें कम्पन होने लगे, उस दशा में जो वर्ण नासिका

प्रातिशाख्य (१।४६) में, अनेक पोथियों में, 'वर्त्स्य' पाठ का पाया जाना ही है। पर यह पाठ वास्तव में अशुद्ध है। इस पर उक्त ग्रन्थ के हमारे संस्करण के तृतीय भाग के पृ० १५०-१५१ देखो।

श्यक नहीं। केवल एक वर्ण से भी शब्द बन सकता है। और उसमें अनेक वर्ण भी हो सकते हैं। अतएव केवल वर्णों या अक्षरों के सहारे किसी वाक्य में किसी शब्द की इयत्ता का निर्धारण नहीं किया जा सकता।

हाँ अर्थ पर दृष्टि देने से किसी वाक्य या समास में कौन शब्द कहाँ से शुरू होता है और कहाँ समाप्त होता है इसके निर्धारण करने में बड़ी सहायता मिल सकती है।

१३—प्रकृतिप्रत्यययोगात्मक दृष्टि से शब्द का वर्णन

कभी कभी ऐसा कहा जाता है कि प्रत्येक शब्द एक प्रकृति और एक या अधिक प्रत्ययों से बनता है। भाषा के विकास और स्वरूप को समझने के लिए प्रकृति और प्रत्यय के भेद को जानना बड़ा ही आवश्यक है। प्रत्येक शब्द प्रकृति और प्रत्यय के मेल से बना है इस कथन की जड़ में शब्दों की रचना के सामान्य इतिहास के विषय में एक विशेष सिद्धान्त झलकता है। इसका विशेष विचार भाषा की रचना (परिच्छेद ४) पर विचार करते हुए हम करेंगे। यहाँ हमारा उद्देश्य प्रकृति और प्रत्यय के भेद को उदाहरण द्वारा दर्शाते हुए केवल इस बात पर विचार करने का है कि प्रकृति-प्रत्यय-भेद के द्वारा हमको एक वाक्य के शब्दों की इयत्ता के निर्धारण करने में सहायता मिल सकती है या नहीं।

द्वारा उच्चरित होता है उसे अनुस्वार कहते हैं। जब मुख और नासिका दोनों का मार्ग खुला रहता है तब वायु का कुछ अंश मुख से और कुछ अंश नासिका के द्वारा निकलता है। 'अँ' जैसे अनुनासिक स्वरों के उच्चारण में यही अवस्था होती है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि 'अँ' आदि अनुनासिक स्वर दो दो वर्ण न होकर वस्तुतः एक एक ही वर्ण हैं।

६—वर्णों का वर्गीकरण

वर्णों के वर्गीकरण के लिये या किसी वर्ण-विशेष के वर्णन के लिये जिन मुख्य बातों की आवश्यकता है वे उच्चारणोपयोगी शारीरिक अवयवों के उपर्युक्त वर्णन में गतार्थ हो जाती हैं। यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त शरीरावयवों की स्थिति और क्रिया की विशेषता से वर्णों में असंख्य भेद हो सकते हैं। परन्तु किसी भी भाषा में समस्त संभव या वास्तविक वर्णों का पाया जाना असंभव है। इसलिये विद्यार्थी को सब से पहिले किसी ऐसी भाषा के वर्णों का अध्ययन करना चाहिये जिससे वह बहुत अच्छी तरह परिचित है।

वर्णों का वर्गीकरण साधारणतया निम्न-लिखित कोष्ठक के द्वारा दिखलाया जा सकता है :—

प्रत्येक भाषा में ऐसे शब्दों के वर्ग पाये जाते हैं जिनका कुछ अंश बिल्कुल या लगभग एकसा होता है और जिनके अर्थों में भी परस्पर संबन्ध स्पष्ट होता है। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी के cost (=मूल्य, लागत), costs, costing, costly इन शब्दों को लीजिये। इनमें cost इतना अंश सबमें वर्तमान है और प्रत्येक शब्द के अर्थ के मुख्य अंश को बतलाता है। साथ ही-ing,-ly आदि का गौण होना स्पष्ट है। इनमें cost को हम **मौलिक अंश** या **प्रकृति** कह सकते हैं, और-ing आदि को **साधक अंश** या **प्रत्यय**। इसी प्रकार संस्कृत में 'चलति', 'चलसि', 'चलितुम्', 'चलितव्यम्' इत्यादि उदाहरणों को जानना चाहिये। इसलिये यह स्पष्ट है कि एक वाक्य में भिन्न भिन्न प्रकृतियों और प्रत्ययों के पता लगा लेने से उसका पदच्छेद बड़ी सरलता से किया जा सकता है।

परन्तु प्रकृति-प्रत्यय-भेद से भी समासों में शब्दों के विच्छेद करने की तथा उनकी इयत्ता के निर्धारण करने की कठिनता पूरी पूरी दूर नहीं हो जाती। यही दशा उन शब्दों के विषय में होती है जिनमें प्रकृति और प्रत्यय का भेद हम नहीं कर सकते। इस अशक्तता का कारण या तो यह हो सकता है कि किसी शब्द में धीरे धीरे उसके प्रत्यय-भाग का ह्रास होकर केवल प्रकृत्यंश ही शेष रह जाता है या उस शब्द में कभी प्रत्ययांश रहा ही न हो। उदाहरणार्थ, संस्कृत 'अस्ति'

		ओष्ठ्य या दन्तोष्ठ्य	दन्त्य	वर्त्स्य या दन्तमूलीय	तालव्य	मूर्धन्य	कण्ठ्य	कण्ठमूलीय या जिह्वामूलीय
व्यञ्जन	स्पर्श या स्फोटक							
	घर्षक (ऊष्म-स्पृष्ट और ईषद्विवृत)							
स्वर	विवृत							

इन विशेषताओं के साथ साथ प्रत्येक वर्ण के विषय में यह भी दिखलाना चाहिये कि वह सघोष है या अघोष, तथा वह अनुनासिक या नासिक्य है या नहीं। वर्णों के नीचे रेखा आदि चिह्नों के द्वारा या और किसी प्रकार से यह ऊपर जैसे कोष्ठक में ही वर्णों के साथ साथ दिखलाया जा सकता है।

स्वर और व्यञ्जन का भेद। वर्णों के ऊपर दिखलाये हुए वर्गीकरण में स्वर और व्यञ्जन का भेद प्रसिद्ध है। स्वर ऐसी सघोष आवाज़ को कहते हैं जिसके उच्चारण में वायु के प्रवाह की गति मुख में विना किसी रुकावट के होती है, और किसी प्रकार का सुनने में आने वाला मौखिक अवयवों का

और अंग्रेज़ी is दोनों एक ही शब्द के दो रूप हैं। इनमें यह स्पष्ट है कि is केवल 'अस्' का स्थानीय है और इसमें प्रत्ययांश बिल्कुल लुप्त हो गया है। इसी प्रकार हिन्दी 'चल', 'हट' और अंग्रेज़ी cost में अब केवल प्रकृत्यंश ही शेष रह गया है। दूसरे प्रकार के शब्दों के उदाहरण के लिये जिनमें कभी प्रत्ययांश रहा ही न हो हम अंग्रेज़ी के burke (= गला घोंट कर मार डालना), और gas शब्दों को ले सकते हैं। Burke शब्द का प्रारम्भ एक बर्क (Burke) नामक आइरिश मनुष्य के नाम पर हुआ है। यह डाक्टरी चीर-फाड़ के लिये लाशों को बेचने के निमित्त मनुष्यों को मार डालता था। १८२६ ईसवी में इसको फाँसी दी गई। gas शब्द की कल्पना हालैण्ड देश के रसायन-शास्त्रज्ञ जे० बी० फ़ान हेल्मोन्ट (J. B. Van Helmont, १५७७—१६४४) नामक विद्वान् ने की थी।

घर्षण नहीं होता। तालु की ओर जिह्वा के कुछ उठाने से नाद में कुछ परिवर्तन चाहे हो, परन्तु जिह्वा तथा स्थानों के बीच में वायु के निकल जाने के लिये इतना काफ़ी अवकाश रहता है कि अवयवों का घर्षण या वायु का अवरोध नहीं होने पाता।

जिन वर्णों में यह बात नहीं होती उनको व्यञ्जन कहना चाहिये। अतएव व्यञ्जनों में (१) समस्त 'क्', 'प्' आदि अघोष वर्ण, (२) सारे ऐसे वर्ण जिनके उच्चारण में नाद-युक्त वायु की गति में मुख में रुकावट होती है (जैसे 'ग्', 'ब्'), (३) ऐसे वर्ण जिनके उच्चारण में वायु मुख से नहीं निकलता (जैसे अनुस्वार), और (४) ऐसे वर्ण जिनके उच्चारण में मुख में घर्षण होता है (जैसे 'स्', 'ज़्') सम्मिलित हैं।

स्वरों और व्यञ्जनों के भेद का आधार उनके उच्चारण में याहच्छिक शारीरिक विशेषता ही नहीं है। वस्तुतः इन दोनों के पारस्परिक भेद का आधार सुनने में उनकी आपेक्षिक परिस्फुटता ही है। कुछ वर्ण दूसरों की अपेक्षा सुनने में अधिक परिस्फुट होते हैं, अर्थात् वे दूसरों की अपेक्षा अधिक दूर से सुने जा सकते हैं। यह स्पष्ट है कि और वर्णों की अपेक्षा स्वरों के श्रवण में परिस्फुटता अधिक होती है।

अन्तःस्था। परन्तु कुछ दशाओं में उपर्युक्त दृष्टि से व्यञ्जनों और स्वरों में भेद करना ज़रा कठिन हो जाता है। ऐसा प्रायः तब होता है जब एक स्वर के बाद ही उससे अधिक परिस्फुट स्वर आता है और अतएव पहिला स्वर

चौथा परिच्छेद
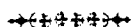
भाषा की रचना

भाषा की रचना के विषय पर विचार करने के लिये दो बातों पर विचार करना आवश्यक है :—(१) प्रथम, वाक्यान्तर्गत शब्दों का परस्पर संबन्ध; (२) द्वितीय, शब्दों के अवयवों का परस्पर सम्बन्ध। वाक्यान्तर्गत शब्दों के परस्पर संबन्ध-विषयक विचार को **वाक्य-विचार** कहते हैं; और शब्दों के अवयवों के परस्पर संबन्धविषयक विचार को **शब्द-व्युत्पत्ति-विचार** या **प्रकृति-प्रत्यय-विचार** कहा जा सकता है।

१—वाक्य-विचार

ऊपर कहा जा चुका है कि भाषा हमारे विचारों का एक बाह्य रूप है। हमारे विचार भाषा द्वारा वाक्य-रूप में ही प्रकट किये जा सकते हैं। इसलिये यह स्पष्ट है कि भाषा की रचना पर विचार करते हुए हमें सबसे पहिले वाक्य की रचना पर विचार करना चाहिये। हमारी विचार-शैली का भेद वाक्य से ही प्रकट होता है। इसलिये भिन्न भिन्न भाषाओं में वाक्य-रचना के भेद से या वाक्य में कर्ता, कर्म, क्रिया आदि के

अति ह्रस्व उच्चरित होता है। ऐसी दशाओं में पूर्ववर्ती स्वरों को अन्तःस्था कहा जाता है; और उनका वर्गीकरण व्यञ्जनों के साथ ही प्रायः किया जाता है। उनके लिये लिखने में भी प्रायः विशेष संकेतों का प्रयोग किया जाता है। परन्तु उनको अन्तःस्था कहने का अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि उनका स्थान स्वरों और व्यञ्जनों के मध्य में समझा जावे।

तो भी अन्तःस्थाओं का उच्चारण भिन्न भिन्न देशों में स्वरों या व्यञ्जनों की ओर अधिक झुकता हुआ होता है। उदाहरणार्थ, अंगरेज़ी में y i (इ) से बहुत कुछ मिलता है, परन्तु उच्चारण में अंगरेज़ी y का स्थानीय जर्मन j अधिक घर्षकता रखने से व्यञ्जनों से अधिक समानता रखता है। यही दशा संस्कृत 'य्' की प्रतीत होती है। परन्तु हिन्दी में 'गई' जैसे शब्दों को 'गयी' जैसा भी लिखते हैं। इससे ऐसे स्थानों में 'य्' के स्वरूप की अस्पष्टता स्पष्ट ही है।

वर्णों के स्थान। ओष्ठ, दन्त आदि जिन स्थान-विशेषों की सहायता से अन्दर से आते हुए श्वास या नाद में विशेषता उत्पन्न होकर भिन्न भिन्न वर्णों का स्वरूप निष्पन्न होता है उनके लिये पारिभाषिक शब्द **स्थान** प्रसिद्ध है।

जिन वर्णों के स्थान ओष्ठ हैं उनको **ओष्ठ्य** कहते हैं। **दन्तोष्ठ्य** वर्ण ऊपर के दाँत और नीचे के ओष्ठ की सहायता से बोले जाते हैं। ऊपर के दाँतों की सहायता से बोले जाने

परस्पर सम्बन्धों के प्रकट करने के भिन्न भिन्न प्रकारों से उनके स्वभाव और रचना का बहुत कुछ पता लग सकता है। अतएव तुलनात्मक वाक्य-विचार से भाषाओं के वर्गीकरण में बड़ी सहायता मिलती है। वाक्य द्वारा प्रकट किये गये 'भावों' में परस्पर कैसा सम्बन्ध है, यह बात उन पदार्थों के प्रति जिनके विषय में हम सोचते या कहते हैं हमारी दृष्टि पर निर्भर है। उदाहरणार्थ, भिन्न भिन्न पदार्थों से पृथक् हमारी स्वतन्त्र स्थिति है, यदि इस भेद पर हमारी स्पष्टतया दृष्टि नहीं है तो यह स्वाभाविक है कि उनके विषय में कुछ कहते हुए हम अपना निर्देश नहीं करेंगे। हिन्दी 'मैं दौड़ रहा हूँ' और अंग्रेज़ी I am running में वक्ता की दृष्टि इस बात पर है कि वह दौड़ने की क्रिया से भिन्न है। इसीलिये 'मैं' और I का पृथक् प्रयोग किया जाता है। इसके विरुद्ध, लैटिन भाषा में इसी अर्थ में केवल curro बोलेंगे। इसके साथ 'मैं' वाची कोई शब्द नहीं बोला जाता।

संसार की भिन्न भिन्न मनुष्य-जातियों की विचार-शैली भिन्न भिन्न होती है। पदार्थों के प्रति उनकी दृष्टियाँ भी भिन्न भिन्न होती हैं। यही कारण है कि भिन्न भिन्न भाषाओं में वाक्य-रचना एकसी न होकर भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। चीनी जैसी भाषाओं में वाक्यान्तर्गत शब्दों का परस्पर गौण-मुख्य-भाव न होकर प्रत्येक शब्द अपनी पृथक् स्वतन्त्र स्थिति रखता है। एक 'भाव' दूसरे 'भाव' से न गुथकर या

वाले वर्णों को दन्त्य कहते हैं। ऊपर के दाँतों की जड़ से बोले जाने वालों को दन्तमूलीय, और उनके पीछे के खुर-खुरे तथा उभरे प्रदेश से बोले जाने वाले वर्णों को बर्स्व्य कहते हैं। किन्हीं किन्हीं के मत में संस्कृत 'र्' बर्स्व्य है[1]। अँग्रेज़ी t, d भी बर्स्व्य ही हैं। कठोर तालु के अग्र भाग से उच्चरित वर्णों को तालव्य, और पिछले मूर्धा भाग से उच्चरित वर्णों को मूर्धन्य कहते हैं। कोमल तालु से उच्चरित वर्णों को कण्ठ्य कहते हैं। कण्ठमूलीय उन वर्णों को कहते हैं जो मुख तक वायु के पहुँचने से पहिले ही श्वास-नालिका के ऊपरी भाग में उच्चरित होते हैं। अंग्रेज़ी h और अरबी का हमज़ा दोनों कण्ठमूलीय ही हैं। इसी प्रकार जिह्वा की जड़ में उच्चरित वर्ण को जिह्वामूलीय कहते हैं।

वर्णों के प्रयत्न। भिन्न भिन्न वर्णों के उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों का व्यापार भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। स्वर-तन्त्रियों के परस्पर सन्निकर्ष की तथा जिह्वा आदि का जो वर्णस्थानों के साथ संनिकर्ष होता है उसकी कमी या अधिकता के लिये संस्कृत-वर्ण-विज्ञानियों में प्रयत्न शब्द प्रसिद्ध है। वायु के वेग की प्रबलता या दुर्बलता से जो वर्णों के स्वरूप में भेद होता है वह भी प्रयत्न-भेद से समझा जाता है।

---

१ तु० "दन्तमूलीयस्तु तकारवर्गः। सकाररेफलकाराश्च। रेफं बर्स्व्यमेके।" (ऋक्प्रातिशाख्य १।४४-४६)।

उस पर आश्रित न होकर अपनी पृथक् स्थिति रखता है। उदाहरणार्थ, 'मौसम ठण्डा होने लगा' (= The weather began to be cold) के स्थान में चीनी भाषा में 'आकाश-वायु ठंडा प्रारम्भ-होना-उठना-आना' (= Heaven-air cold begin-rise-come') के समानार्थक अविभक्तिक और प्रकृति-प्रत्यय-विभाग-रहित स्वतन्त्र शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है।

इसके विरुद्ध तुर्की जैसी भाषाओं में वाक्य द्वारा प्रकट किये गये 'भाव' स्पष्ट और स्वतन्त्र रहते हुए भी एक दूसरे से बिलकुल असंबद्ध और पृथक् नहीं रहते। प्रकृति या धातु अपने रूप में स्पष्टतया स्थिर रहता है। इसी प्रकार संबन्ध-द्योतक प्रत्यय भी अपने रूप को स्पष्ट रखता है। ऐसा होने पर भी प्रकृति और प्रत्यय में जो थोड़ा सा अर्थ-संबन्धी गौण-मुख्य-भाव पाया जाता है उसको उनकी शाब्दिक या श्रवणीय अनुरूपता प्रकट करती है। इसी कारण से इन भाषाओं में प्रकृति और प्रत्यय दोनों में स्वर एक ही प्रकार के या मिलते-जुलते होने चाहियें। उदाहरणार्थ, तुर्की भाषा में sev- (= प्यार) प्रकृति के साथ भाव-वाचक-mak को-mek हो जाता है। इसी प्रकार at-lar (= घोड़े) में आने वाले बहुत्व-द्योतक-lar को ev-ler (= अनेक घर) में-ler हो जाता है।

संस्कृत या लैटिन जैसी भाषाओं में संबन्ध-द्योतक प्रत्यय न तो अपनी स्वतन्त्र स्थिति ही रखते हैं और प्रायः न

प्रयत्न के आभ्यन्तर और बाह्य ये दो भेद किये जा सकते हैं। स्वर-तन्त्रियों की समीपता (संवार, संवृतता) या दूरी (विवार, विवृतता) से और वायु-वेग की प्रबलता या दुर्बलता से जो वर्णों में सघोष, अघोष, महाप्राण, अल्प-प्राण ये भेद होते हैं, इनको बाह्य प्रयत्न इसलिये कहते हैं कि ये मुख या आस्य[1] के बाहिर (अर्थात् मुख के प्रारम्भ होने से पूर्व) होते हैं। वर्णों में स्पर्श, घर्षक आदि का भेद मुख के अभ्यन्तर होने से आभ्यन्तर प्रयत्न में गिना जाता है।[2]

७—संस्कृत वर्णमाला

वर्णों के विषय में सामान्यरूप से जो कुछ ऊपर कहा है उसको विशेषरूप से किसी भाषा की वर्णमाला को लेकर दिखलाया जा सकता है। यहाँ हम संस्कृत वर्णमाला का कुछ थोड़ा विचार करेंगे। विशेष विचार के लिये सिद्धान्त-कौमुदी, प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थ देखने चाहियें।

---

१ तु० "किं पुनरास्यम् । लौकिकमास्यम्—ओष्ठात्प्रभृति प्राक् काकलकात् ।" (महाभाष्य १।१।९)। "काकलकं हि नाम ग्रीवायामुन्नतप्रदेशः" (उक्त स्थल पर कैयट की टीका)।

२ तु० "सन्ति ह्यास्याद् बाह्याः प्रयत्नाः । ·····के पुनस्ते । विवार-संवारौ । श्वासनादौ । घोषवदघोषता । अल्पप्राणता महाप्राणतेति ।" (महाभाष्य १।१।६)।

अपने रूप को ही सदा स्पष्ट रख सकते हैं। वस्तु और क्रिया के वाचक नाम और आख्यातों के साथ गौण-भाव से ही ये प्रयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ 'चलति' और 'रामः' में विभक्तियाँ अपना कोई स्वतन्त्र अर्थ न रखकर प्रकृतियों के साथ गौण-रूप से ही प्रयुक्त होती हैं।

प्रत्येक भाषा के सर्वाङ्ग-पूर्ण व्याकरण में एक भाग में उस की वाक्य-रचना पर विचार करना आवश्यक है। भारतवर्ष, ग्रीस आदि देशों में प्राचीन समय से व्याकरण के साथ वाक्य-विचार का घनिष्ठ संबन्ध रहा है। तो भी, भाषा-विज्ञान में, जिसको 'व्याकरणों का व्याकरण' या 'तुलनात्मक व्याकरण' भी प्रायः कहा जाता है, वाक्य-विचार पर विद्वानों की दृष्टि थोड़े काल से ही गई है। परस्पर संबन्ध-युक्त भाषाओं की वाक्य-रचना का तुलनात्मक अध्ययन भाषा-विज्ञान के नये उन्नति-प्राप्त अंशों में से एक है। प्रारम्भ में भाषा के उच्चारण-संबन्धी और प्रकृति-प्रत्यय-संबन्धी विचार को ही अधिक प्रधानता दी गई, और वाक्य की रचना के भेदों के विचार की उपेक्षा ही की गई। पिछले कोई ५० वर्षों से ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से वाक्य-विचार की ओर भाषाविज्ञानियों का ध्यान आकर्षित हुआ है। वाक्य-रचना के विचार को अब भाषा-विज्ञान का एक मुख्य और आवश्यक भाग समझा जाने लगा है।

तुलनात्मक वाक्य-विचार के द्वारा एक भाषा की वाक्य-

संस्कृत वर्णमाला के विषय में सबसे प्रथम यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि यह वर्णमाला अपने लिखित संकेतों की कल्पना से बहुत पहिले अपने रूप में आ चुकी थी। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की आवाज़ों की पूरी पूरी विवेचना करने के बाद ही इस वर्णमाला की कल्पना की गई थी। भारतवर्ष में प्राचीन तथा आधुनिक ब्राह्मी, खरोष्ठी, देवनागरी आदि लिपियों के लिखित वर्णों की कल्पना मुख्य करके वस्तुतः उस प्राचीन उच्चरित वर्णमाला के अनुसार ही की गई। पीछे से ऐसे वर्णों के लिये जो संस्कृत में नहीं पाये जाते अन्य लिखित संकेतों की कल्पना कर ली गई; जैसे देवनागरी में 'फ़', 'ज़' आदि।

संस्कृत वर्णमाला का वस्तुतः आधार उच्चरित भाषा ही है, यह प्रत्येक वर्ण के नाम से स्पष्ट है। जहाँ अंग्रेज़ी, अरबी आदि भाषाओं में वर्णों का नाम और वास्तविक उच्चारण भिन्न भिन्न है, वहाँ संस्कृत वर्णमाला में वर्णों का नाम वही है जो उनका उच्चारण भाषा में होता है। इसी कारण से जहाँ और अनेक भाषाओं की वर्णमालाओं में किसी प्रकार का वैज्ञानिक क्रम नहीं दीखता, वहाँ संस्कृत वर्णमाला का क्रम वर्ण-विज्ञान के बिल्कुल अनुकूल है, जैसा कि नीचे के कोष्ठक से स्पष्ट है :—

गत पद-योजना का--जैसे कारकों का प्रयोग, क्रियाओं के काल और लकारों का प्रयोग इत्यादि का--संबन्ध दूसरी भाषा की समान पद-योजना के साथ ढूँढकर निकाला जा सकता है। परस्पर संबन्धी दो भाषाओं की वाक्य-रचना के तुलनात्मक विचार से प्राय: इस बात का पता लगाया जा सकता है कि उन भाषाओं की वाक्य-रचना का कौनसा अंश उनकी मूल-भाषा से निकला है और कौनसा उनके अपने अपने इतिहास में उन्नत हुआ है। वाक्य-रचना की वे विशेषतायें जो अनेक संबन्धी भाषाओं में पाई जाती हैं प्राचीन काल से चली आती हैं; परन्तु जो एक विशेष भाषा में ही मिलती हैं उनके विषय में सामान्य रूप से यही कहना चाहिये कि वे थोड़े काल से ही चल पड़ी हैं।

परन्तु वाक्य-रचना-संबन्धी सामान्य सिद्धान्तों के निर्णय करने के लिये हमको दो चार परस्पर संबन्धी भाषाओं की ही वाक्य-रचना के विचार से सन्तुष्ट न होकर, परस्पर कोई संबन्ध न रखने वाली भिन्न भिन्न भाषा-परिवारों की भिन्न भिन्न भाषाओं की वाक्य-रचना की तुलना करनी चाहिये। हमारी दृष्टि के इस प्रकार अति विस्तीर्ण करने की इसलिये आवश्यकता है कि किसी एक ही भाषा-परिवार के आधार पर निश्चित किये हुए सिद्धान्तों के विषय में यह बहुत संभव है कि वे दूसरे भाषापरिवारों के विषय में सच न निकलें। उदाहरणार्थ, यह हो सकता है कि केवल भारतयूरोपीय

स्वर	समानाक्षर		अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ				
	संध्यक्षर		ए ऐ ओ औ				
व्यञ्जन	स्पर्श	कण्ठ्य	क	ख	ग	घ	ङ
		तालव्य	च	छ	ज	झ	ञ
		मूर्धन्य	ट	ठ	ड	ढ	ण
		दन्त्य	त	थ	द	ध	न
		ओष्ठ्य	प	फ	ब	भ	म
	व्यापक	अन्तःस्था	य	र	ल	व	
		ऊष्मा	श ष स ह				

ऊपर के कोष्ठक में प्रत्येक व्यञ्जन में उच्चारण की सुविधा के लिये ह्रस्व 'अ' मिला हुआ है। इस वर्णमाला के साथ वैज्ञानिक दृष्टि से अंग्रेज़ी, फ़ारसी आदि की वर्ण-मालाओं की तुलना की ही नहीं जा सकती।

प्राचीन उच्चारण में भेद। यहाँ पर इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये कि प्राचीन समय में भी ऊपर दिखलाये हुए लिखित वर्णों का उच्चारण वस्तुतः ऐसा ही होता था जैसा अब होता है। इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि इनमें से कई वर्णों का उच्चारण पहिले और प्रकार का था।

भाषापरिवार के अध्ययन के आधार पर निश्चित किये गये वाक्य-रचना-संबन्धी सिद्धान्त अन्य भाषा-परिवार से संबन्ध रखनेवाली अरबी भाषा में ठीक न निकलें। चीनी आदि भाषाओं में तो उनका नाम भी नहीं मिलेगा।

'वह राजा है' इस वाक्य में 'राजा' निस्सन्देह कर्ता कारक में है। इस बात की पुष्टि कर्ता कारक के लिये विशेष रूप रखनेवाली भारत-यूरोपीय भाषापरिवार की प्रत्येक भाषा की वाक्य-रचना की शैली से हो सकती है; जैसे संस्कृत 'स राजास्ति', अंग्रज़ी He is a king, जर्मन Er ist ein König इत्यादि में 'राजा', king आदि शब्द कर्ता कारक में ही हो सकते हैं।

परन्तु अरबी भाषा में यह बात नहीं है। 'कान ज़ैदुन मलिकन' (=ज़ैद राजा था या है) इस वाक्य में 'ज़ैदुन' कर्ता कारक में है; परन्तु 'मलिकन' कर्म कारक में। अरबी व्याकरण के नियमानुसार 'मफ़ऊल' (=कर्म) के ऊपर ज़बर (='अ' की मात्रा) आता है और 'फ़ाइल' (=कर्ता) के ऊपर पेश (='उ' की मात्रा) लगता है। इस कारण से यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त वाक्य में 'मलिकन' कर्ता कारक में न होकर कर्म कारक में ही है। इसी प्रकार 'कान ज़ैदुन आलिमन' (=ज़ैद विद्वान् था या है) में 'आलिमन' कर्म कारक में है।

भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार की वाक्यरचना के संबन्ध में विचार करने में नाम और आख्यात, तथा विशेष्य और

उदाहरणार्थ, 'ऋ' का उच्चारण आजकल प्रायः 'रि' की तरह होता है। यदि प्राचीन समय में भी ऐसा ही होता तो यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि 'ऋ' की कल्पना की ही क्या आवश्यकता थी, क्योंकि 'रि' से ही उसका काम निकल सकता था। प्राकृत और पालि में संस्कृत 'ऋ' के स्थान में होने वाले परिवर्तनों का उदाहरण इसी बात की पुष्टि में हम ऊपर (पृ० २३२) दे चुके हैं।

इसी प्रकार 'ए', 'ओ' को यद्यपि संध्यक्षर कहा जाता है, तो भी इनका उच्चारण आजकल संध्यक्षर की तरह न होकर एक दीर्घ समानाक्षर की तरह होता है। परन्तु अति प्राचीन समय में इनका उच्चारण वस्तुतः एक संध्यक्षर के सदृश होता था। तभी तो 'ए', 'ओ' के स्थान में संधि में क्रम से 'अय्', 'अव्' हो सकता था। 'अ + इ' और 'अ + उ' के स्थान में क्रम से 'ए' और 'ओ' आदेश होते हैं, इससे भी इनका वास्तव में संध्यक्षर होना स्पष्ट है।

'अ' का उच्चारण प्राचीन वैदिक समय में संवृत न होकर विवृत होता था यह हम ऊपर (पृ० २३१) दिखला ही चुके हैं।

जैसा ऊपर के कोष्ठक से विदित होगा, प्राचीन भारतीय वर्ण-विज्ञानियों के अनुसार टवर्ग का उच्चारण जिह्वा के अग्रभाग को ऊपर फेरकर उससे मूर्धा को छूकर करना

विशेषण आदि के परस्पर संबन्ध-विषयक, तथा कारकों और क्रिया के कालों और लकारों के प्रयोगविषयक अनेक नियमों पर विचार करना होता है। इसके विपरीत, चीनी भाषा में शब्दों में कारक, लिङ्ग, या वचन के अनुसार, और क्रिया में काल और लकार आदि के अनुसार कोई भेद नहीं होता। यही नहीं, हूबहू एक ही शब्द नाम, आख्यात, विशेषण या क्रिया-विशेषण का काम दे सकता है।

इसलिये वाक्य-रचना-संबन्धी सामान्य सिद्धान्तों के निश्चय करने में भिन्न भिन्न भाषा-परिवारों की वाक्य-रचना का विचार करना आवश्यक है।

२—प्रकृति-प्रत्यय-विचार

शब्दों के मौलिक या सार्थक अंश या प्रकृति और उनके स्वरूप-साधक या परिणामी अंश या प्रत्यय में जो भेद है उसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। शब्दों में प्रकृति और प्रत्यय का भेद सदा स्पष्ट नहीं होता यह भी हम ऊपर कह चुके हैं। भिन्न भिन्न भाषाओं में इस भेद की स्पष्टता की मात्रा भिन्न भिन्न होती है। प्रत्येक भाषा में इस भेद का होना भी आवश्यक नहीं। इसी प्रकार प्रत्ययों के बदलने से अर्थों के बदलने की योग्यता भी भिन्न भिन्न भाषाओं में न्यूनाधिक होती है। किसी पेचीदा अर्थ को प्रकट करने का प्रकार भी भिन्न भिन्न भाषाओं में एकसा नहीं होता।

चाहिये[1]। परन्तु आजकल भारतीय आर्य-भाषाओं में इनका उच्चारण कहीं मूर्धन्य और कहीं बर्त्स्य होता है। अंग्रेज़ी में t, d मूर्धन्य न होकर बर्त्स्य ही हैं। उनको देवनागरी आदि में 'ट्', 'ड्' के द्वारा ही लिखा जाता है।

प्राचीन वर्ण-विज्ञान-विषयक भिन्न भिन्न प्रातिशाख्य तथा शिक्षाओं में कई वर्णों के स्थान आदि के विषय में भिन्न भिन्न मत दिये हैं। यह मत-भेद मुख्यतया देश-भेद तथा काल-भेद से होने वाले वर्णों के उच्चारण-भेद को ही द्योतित करता है।

प्राचीन तथा आधुनिक वर्ण-विज्ञान। भारतवर्ष में प्राचीन समय में वर्ण-विज्ञान के विषय में यद्यपि बड़ा विचार किया गया था, तो भी यह न समझना चाहिये कि प्राचीन समय में वर्णों के परस्पर सम्बन्ध तथा भेदों पर इतना सूक्ष्म विचार किया गया था जितना आज-कल किया जाता है। एक दो उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा। संस्कृत-वर्ण-विज्ञानियों के अनुसार 'अ' और 'इ' का दीर्घ रूप क्रम से 'आ' और 'ई' है। परन्तु वास्तव में यदि देखा जावे तो ऐसा नहीं है। ह्रस्व और दीर्घ का भेद केवल काल-कृत होता है। परन्तु ह्रस्व 'इ' को कितनी ही देर तक हम उच्चारण करें वह 'ई' नहीं बन जायगा। इसी तरह 'ई' को कितनी भी शीघ्रता से उच्चारण करने से 'इ' सुनाई नहीं देगा। इसी

१ तु० "जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य मूर्धनि टवर्गे।" (तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य २।३७)।

(क) चीनी भाषा का उदाहरण

जैसा ऊपर कहा है, चीनी भाषा में प्रकृति और प्रत्यय के भेद का पता ही नहीं। चीनी भाषा का प्रत्येक शब्द एकाक्षर होता है जिसमें गिने-चुने वर्ण (स्वर और व्यञ्जन) होते हैं। उन एकाक्षर शब्दों में यह प्रकृति है और यह प्रत्यय इसका भेद करना असंभव है। उदाहरणार्थ, 目 (मु) एक चीनी शब्द है। इसके 'आँख', 'ख्याल करना', 'मुख्य', 'आवश्यक' ये अर्थ हैं। चीन देश के भिन्न भिन्न प्रान्तों में इसको भिन्न भिन्न प्रकार से उच्चारण करते हैं, जैसे 'मुक', 'मुङ्', 'मोक'। परन्तु जैसे हिन्दी में अर्थ-भेद से 'ख्याल करना' के स्थान में 'ख्याल किया' या 'आवश्यक' के स्थान में 'आवश्यकता' हो जाता है, चीनी भाषा में इस तरह अर्थ-भेद से 'मु' या 'मुक' शब्द में कोई परिवर्तन नहीं होता। संस्कृत आदि भाषाओं में 'पठितुम्', 'पठित्वा', 'पाठः', 'पठनम्', 'पाठनम्', 'पठति' इत्यादि की तरह अनेकानेक शब्द-समूह ऐसे मिलते हैं जो एक ही धातु से बने हैं और अर्थ में परस्पर संबन्ध रखते हैं। चीनी भाषा में प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना के ही न होने से यह स्पष्ट है कि ऐसे शब्द-समूह नहीं पाये जाते।

ऊपर कहा है कि चीनी भाषा का प्रत्येक शब्द एकाक्षर होता है। इसीसे चीनी भाषा की दूसरी विशेषता यह है कि भिन्न भिन्न अर्थों के वाचक स्वतन्त्र शब्दों की संख्या बहुत

प्रकार आज-कल जिस तरह 'अ' बोला जाता है वह 'आ' का ह्रस्व रूप नहीं हो सकता। 'अ' के बाद 'आ' के उच्चारण करने में यही नहीं कि देर तक 'अ' का उच्चारण करना चाहिये, किन्तु 'आ' के उच्चारण में मुख को 'अ' की अपेक्षा कुछ अधिक खोलने की आवश्यकता होगी तथा जिह्वा के पिछले भाग को कुछ ऊपर उठाना पड़ेगा।

कम है। क्योंकि दूसरी अनेकाक्षर शब्दों वाली भाषाओं में जैसे एक-से ही वर्णों के उलट-फेर से अनेक तरह के शब्द बन सकते हैं, वैसे केवल एकाक्षर शब्दों वाली चीनी भाषा में नहीं बन सकते। कैन्टन में बोली जाने वाली चीनी भाषा में एकाक्षरात्मक शब्दों की संख्या कोई ८०० और ९०० के बीच में होगी, और पेकिंग की सर्व-साधारण की भाषा में उनकी संख्या ४२० से अधिक न होगी। इस कमी को पूरा करने के लिये कई उपायों का आश्रय लिया जाता है; जैसे शब्दों के प्रारम्भ में आने वाले कुछ व्यञ्जनों और स्वरों के बीच में एक 'ह्' जैसा वर्ण और बढ़ा दिया जाता है; दूसरा बड़ा भारी उपाय लहजे के भेद से अर्थ-भेद का है। शब्दों की कमी ही के कारण एक ही शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। औसतन प्रत्येक शब्द दस अर्थों में प्रयुक्त होता है। अतएव अर्थ की अस्पष्टता को दूर करने के लिये समानार्थक पर भिन्नाकार दो दो शब्दों को इकट्ठा करके बोलते हैं। उदाहरणार्थ, tao (तो) और lu (लू) शब्द पृथक् पृथक् अनेक अर्थ रखते हुए भी दोनों 'रास्ता' अर्थ भी रखते हैं। इसलिये यद्यपि इनके अलहदा अलहदा प्रयोग करने में अर्थ का सन्देह हो सकता है, तो भी इन दोनों के 'तो लू' इस प्रकार इकट्ठा प्रयोग करने में अर्थ का कोई सन्देह नहीं रहता। इसी प्रकार ऊपर दिया हुआ 'मु' शब्द भिन्न भिन्न शब्दों के साथ 'जंगल', 'धोना', 'बुलाना', 'पर्दा', 'प्रेम', 'सायंकाल' आदि आदि भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है।

नवाँ परिच्छेद
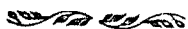
भाषाओं के परिवार

१—भाषाओं के वर्गीकरण के दो प्रकार

भाषाओं का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जा सकता है:—एक तो उनकी आकृति या रचना की समान-रूपता की दृष्टि से (=आकृति-मूलक वर्गीकरण) और दूसरे उनकी उत्पत्ति या परिवार की एकता की दृष्टि से (=पारिवारिक या उत्पत्तिमूलक वर्गीकरण)। पहिली दृष्टि में भाषाओं के इतिहास आदि की ओर ध्यान न देकर उनके शब्दों के रूप, आकृति या सामान्य रचना को ही देखकर वर्गीकरण किया जाता है। इस तरह के वर्गीकरण का वर्णन भाषा की रचना के वर्णन के साथ साथ ऊपर किया जा चुका है। उसके गुण-दोष को भी वहीं दिखला दिया गया है। यहाँ भाषाओं के पारिवारिक या उत्पत्ति-मूलक वर्गीकरण का वर्णन किया जायगा। इस प्रकार के वर्गीकरण का मुख्य आधार भाषाओं के वास्तविक ऐतिहासिक सम्बन्ध पर होता है। एक भाषापरिवार में उन्हीं भाषाओं का समावेश हो सकता है जिनके विषय में पर्याप्त प्रमाण इस बात का मिलता है कि

यही 'मु' शब्द दूसरे लहजे से उच्चारण करने पर 'माता', 'अँगूठा' इत्यादि अर्थों को प्रकट करता है।

इसके अतिरिक्त, कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो अपने मौलिक अर्थ में परिवर्तन द्वारा संस्कृत जैसी भाषाओं में विभक्तियों के द्वारा प्रकट किये जाने वाले शब्दों के परस्पर संबन्धों को द्योतित करते हैं। उदाहरणार्थ, 'मु' (=माता) और 'त्जु' (=पुत्र) शब्दों को 'छिह' शब्द द्वारा जोड़ देने पर "मु छिह त्जु" का अर्थ "माता का पुत्र" हो जाता है। 'छिह' शब्द यहाँ एक स्वतन्त्र शब्द के तुल्य ही पृथक् लिखा जाता है। और जगह 'छिह' शब्द 'जाना', 'वह', 'संबन्ध रखना' आदि भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। यद्यपि 'मु छिह त्जु' इस वाक्यांश में 'छिह' शब्द का प्रयोग षष्ठी विभक्ति या 'का', 'के', 'की' इनके अर्थ में किया गया है, तो भी इसको हम 'मु' शब्द का प्रत्यय या विभक्ति नहीं कह सकते। बहुत्व, भूत, वर्तमान आदि के आशयों को प्रकट करने के लिये प्रयुक्त किये गये और शब्दों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिये। आज-कल की बोल-चाल की चीनी भाषा में यह बात विशेषतया पाई जाती है।

(ख) तुर्की भाषा का उदाहरण

तुर्की भाषा में, जैसा ऊपर कहा है, प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना तो अवश्य होती है, परन्तु इनका भेद शब्दों की

वे किसी एक ही मूल-भाषा से निकली हैं। पारिवारिक वर्गीकरण में भाषाओं की आकृति या सामान्य रचना की समान-रूपता पर ही दृष्टि नहीं रहती, किन्तु यह भी देखा जाता है कि उन भाषाओं की उत्पत्ति या विकास कुछ समान मूल-शब्दों से हुआ है।

ऐसा होने पर भी यह जतला देना उचित होगा कि कुछ भाषा-परिवारों को छोड़कर प्रायः भाषा-परिवारों के विषय में, प्रमाणों की जाँच-पड़ताल ठीक ठीक न हो चुकने से या प्रमाणों के अपर्याप्त होने से, पूरी पूरी निश्चयात्मकता अभी तक नहीं है। अभी तक भारत-यूरोपीय और सेमिटिक इन दो भाषा-परिवारों की भाषाओं के विषय में जितनी छानबीन विद्वानों ने की है उतनी और भाषाओं के विषय में नहीं। इन दोनों परिवारों में से प्रत्येक की भाषाओं में रचना या आकृति की समानता के साथ साथ मूल-शब्दों की समानता भी बहुत अंश तक पाई जाती है। विद्वानों के वर्षों के परिश्रम ने इस बात को पूरी रीति से निश्चय कर लिया है। और भाषाओं के विषय में पारिवारिक वर्गीकरण का आधार बहुत करके केवल उनकी रचना की सामान्यतः समान-रूपता ही है। उनकी उत्पत्ति किन्हीं समान मूल-शब्दों से ही हुई इसका अभी तक पूरा पूरा निर्णय नहीं किया जा सका है। तो भी द्राविड़ आदि कई भाषा-परिवारों के विषय में बहुत कुछ अनुसन्धान विद्वानों ने किया है।

रचना में बहुत ही स्पष्ट होता है। यही नहीं कि शब्दों में उनकी धातु या प्रकृति का पता बड़ी सरलता से लग सकता है, शब्दों के स्वरूप-साधक अंश या प्रत्यय और विभक्ति भी आपस में एक दूसरे से और प्रकृति से मिले हुए भी अपने अपने रूप को स्पष्ट रखते हैं। निम्नलिखित उदाहरणों से यह बात भली भाँति स्पष्ट हो जावेगी। इनमें एक ही प्रत्यय अनेक शब्दों में आने पर भी अपने रूप को बराबर स्पष्ट रखता है। प्रत्ययों में केवल एक प्रकार का विकार हो सकता है जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। तुर्की भाषा में प्रकृति-स्वर की अनुरूपता प्रत्यय-स्वर में होनी आवश्यक है। इसलिये आवश्यकतानुसार प्रकृति-स्वर के प्रभाव से प्रत्यय का स्वर बदल जाता है। उदाहरणार्थ :—

ev = घर	evim = मेरा घर
arslān = शेर	arslānam = मेरा शेर

तुर्की भाषा में शब्द-रचना के और उदाहरण :—

ev = घर	evler = अनेक घर
evim = मेरा घर	evlerim = मेरे घर
evimin = मेरे घर का	evlerimin = मेरे घरों का
evin = तुम्हारा घर	evlerin = तुम्हारे घर
evinin = तुम्हारे घर का	evlerinin = तुम्हारे घरों का

उपर्युक्त लेख से यह स्पष्ट है कि भाषाओं का पारिवारिक या उत्पत्ति-मूलक वर्गीकरण करना कोई सरल बात नहीं है। विद्वानों के वर्षों तक निरन्तर परिश्रम से ही यह साध्य हो सकता है। वस्तुतः भाषा-विज्ञान का एक मुख्य उद्देश्य यही है कि भाषाओं के तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन के द्वारा भाषाओं का निश्चय-पूर्वक पारिवारिक वर्गीकरण किया जा सके। विभिन्न मनुष्य-जातियों के ऐतिहासिक सम्बन्ध के निर्णय करने में इससे कितनी सहायता मिल सकती है इसका हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं।

२—भाषाओं के पारिवारिक संबन्ध का स्वरूप

यह सब कोई जानता है कि कुछ दूरी के बाद भाषा बदल जाती है। अपनी भाषा में जो स्थानीय भेद पाये जाते हैं उनको प्रत्येक मनुष्य ने अनुभव किया होगा। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि उच्चारण या लहजे की थोड़ी-सी विशेषता, विशेष स्थानीय शब्द या शब्द-समूह से बोलने वाले के ज़िले की ही नहीं, किन्तु कभी कभी नगर की भी तत्काल प्रतीति हो जाती है। परन्तु इस प्रकार की छोटी छोटी विशेषताओं से हमारे उस मनुष्य के भाव को समझने में कोई बाधा नहीं पड़ती। हम उसकी बोली को 'रूखी', 'कड़ी', 'गँवारू', 'मीठी', या 'कोमल' भले ही समझें, परन्तु हम उसको अपनी भाषा से भिन्न भाषा नहीं कहते। यदि दूसरे की बोली में

(ग) संस्कृत भाषा का उदाहरण

जैसा ऊपर कहा है, संस्कृत भाषा में अनेकानेक शब्द-समूह ऐसे मिलते हैं जिनमें एक ही प्रकृति या मौलिक अंश पाया जाता है। अनेक उपसर्गों और प्रत्ययों के कारण ही उन समान प्रकृति वाले शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है। ऐसा होते हुए भी, प्रकृति और प्रत्यय का भेद प्रायः अस्पष्ट होता है। प्रकृति और प्रत्यय के आपस में अधिक सट जाने से प्रायः प्रकृत्यंश भी परिवर्तित हो जाता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित शब्दों को लीजिये :—

'नी' धातु से 'नयति', 'निनाय', 'निन्युः', 'निनेथ'। 'वच्' धातु से 'उवाच', 'उवक्थ', 'ऊचुः'। 'कृ' धातु से 'करोति', 'चकार', 'चक्रुः', 'चकृवांसम्', 'अकार्षीत्', 'अकः'।

इन रूपों में से प्रत्येक का हम प्रकृत्यंश और प्रत्ययांश में विश्लेषण या पृथक्करण कर सकते हैं; जैसे 'नयति' = नय् + अ + ति = ने + अ + ति = नी + अ + ति, 'निनाय' = निनाय् + अ = निनै + अ = निनी + अ = नी + अ, 'ऊचुः' = उ + उच् + उः = व + वच् + उः। वच् + उः, इत्यादि।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इन उदाहरणों में प्रकृति और प्रत्यय का भेद तुर्की भाषा की अपेक्षा अत्यन्त अस्पष्ट है। इसी कारण से तुर्की भाषा की तरह प्रत्येक अंश का ठीक ठीक अर्थ-निर्देश नहीं किया जा सकता। उदाहर-

कुछ अधिक विशेषतायें पाई जाती हों, या उसकी बात-चीत के अधिकतया समझ पड़ने पर भी पूरे पूरे समझने में कठिनता हो, तो अधिक से अधिक हम कदाचित् यह कह सकते हैं कि वह मनुष्य हमारी भाषा की एक विशेष बोली या प्रादेशिक भाषा बोल रहा है।

परन्तु यदि दूसरे की भाषा में हम इतना भेद पायें कि हम एक दो शब्द ही कहीं कहीं समझ सकें और वक्ता के भाव को न समझ सकें, उस दशा में हम यह सन्देह कर सकते हैं कि वह मनुष्य हमारी भाषा की ही एक प्रान्तीय बोली बोल रहा है या कोई हमारी भाषा से कुछ कुछ समानता रखने वाली भिन्न ही भाषा बोल रहा है।

ऊपर कही हुई बातों को हम उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं। यदि कोई मनुष्य धीरे धीरे एक गाँव से दूसरे गाँव में होता हुआ और प्रत्येक गाँव में खुल्लम-खुल्ला वहाँ के रहने वालों के साथ बात-चीत करता हुआ लाहौर से कलकत्ते की पैदल यात्रा करे, तो उसके लिये, यदि उसने काफ़ी धीरे धीरे यात्रा की होगी, बंगाल पहुँचने पर यह संभव होगा कि वह ग्रामीण बंगाली समझ सके; साथ ही उसको यह पता नहीं लगेगा कि उसने पहिले-पहिल बंगाली भाषा कहाँ और कब सुनी। पंजाबी की स्थानीय बोलियों के बाद दिल्ली के आस-पास बोली जाने वाली हिन्दी से पश्चिमीय हिन्दी की स्थानीय बोलियों में से गुज़रता हुआ

णार्थ यदि यह मान लिया जावे कि 'नी' का अर्थ 'ले जाना' है, तो 'ने', 'नय्' या 'नय' का क्या अर्थ है ?

यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि ऐसी भाषाओं में जिनमें प्रकृति-प्रत्यय का भेद स्पष्ट नहीं होता, संस्कृत सबसे अधिक स्पष्ट रचना वाली भाषा है। ग्रीक और लैटिन भाषाओं में प्रकृति और प्रत्यय का पृथक्करण करना और भी कठिन और अनिश्चित होता है।

३—रचना (या शब्दों की आकृति) की दृष्टि से भाषाओं के तीन वर्ग

चीनी, तुर्की और संस्कृत भाषाओं की शब्द-रचना के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि शब्दरचना (या शब्दाकृति) की दृष्टि से मनुष्य-जाति की भाषाओं को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। अयोगात्मक, योगात्मक, और विभक्ति-युक्त इन नामों से हम उनका निर्देश कर सकते हैं। इन तीनों प्रकार की भाषाओं के आदर्श उदाहरण क्रमशः चीनी, तुर्की और संस्कृत भाषायें ही हैं। चीनी आदि भाषाओं के उपर्युक्त उदाहरणों से यद्यपि इन वर्गों का स्वरूप बहुत कुछ समझ में आ गया होगा, तो भी प्रत्येक वर्ग के विषय में थोड़ा थोड़ा विचार करना अच्छा होगा।

वह धीरे धीरे, विशेष-रूप से बोलियों के भेदों को अनुभव न करता हुआ, पूर्वीय हिन्दी के प्रदेश में, और वहाँ से इसी तरह धीरे धीरे चलता हुआ प्रथम बिहारी के और फिर पश्चिमीय बंगाली के प्रदेश में पहुँच जायगा।

दूसरी ओर यदि कोई लाहौर से पेशावर की यात्रा इसी प्रकार करे तो उसको पंजाबी के प्रदेश से पश्तो भाषा के प्रदेश में जाने पर जो भेद प्रतीत होगा वह लाहौर से कलकत्ता जाने में प्रतीत होने वाले भाषा-भेद की अपेक्षा कहीं अधिक और एकाएक होगा।

इसके अतिरिक्त यदि वही यात्री शिमला से उत्तर की ओर हिमालय में कुछ आगे चला जावे तो वह एकाएक ऐसे प्रदेश में पहुँच जायगा जहाँ की भाषा वह कुछ भी न समझ सकेगा। कनावड़ी भाषा जो वहाँ बोली जाती है तिब्बत-बर्मीय भाषा-परिवार से संबन्ध रखने वाली एक बोली है। हिन्दी से मिलने-जुलने वाली पहाड़ी बोलियों से वह इतनी भिन्न है कि उनमें परस्पर कुछ भी समानता नहीं पाई जाती। उनकी सीमा पर पहुँचकर यात्री को मानों ऐसा प्रतीत होगा कि वह एक ऐसी अगाध खाई पर आ गया है जिसका कोई पुल नहीं है।

एक पंजाबी ग्रामीण पुरुष साधारणतया बंगाली, पश्तो, या कनावड़ी को न तो समझ ही सकता है और न बोल सकता है। परन्तु उपर्युक्त काल्पनिक उदाहरण से यह स्पष्ट

(क) अयोगात्मक भाषायें

इनको अयोगात्मक कहने का आशय यही है कि इन भाषाओं में प्रत्येक शब्द स्वतन्त्र रीति से पृथक् पृथक् प्रयुक्त होता है और उसमें प्रकृति और प्रत्यय के योग की कल्पना नहीं हो सकती। कोई कोई इनको एकाक्षरात्मक भाषायें भी कहते हैं—क्योंकि यह समझा जाता है कि इन भाषाओं के शब्द एक अक्षर अर्थात् प्रायः एक स्वर और एक या अनेक व्यञ्जनों से बने हुए होते हैं। परन्तु दूसरे वर्गों के नामों की अनुरूपता से पहिला नाम ही अधिक उचित प्रतीत होता है। अयोगात्मक भाषाओं के मुख्य उदाहरण चीन, तिब्बत, बर्मा, स्याम आदि देशों की भाषायें हैं।

इन भाषाओं की शब्द-रचना और सब भाषाओं की अपेक्षा अत्यन्त सरल है। इनके विषय में यह कह सकते हैं कि इन भाषाओं में केवल प्रकृतियाँ ही होती हैं; वही शब्दों का काम देती हैं; और प्रत्यय होते ही नहीं। और भाषाओं में जैसे शब्द के अर्थ का प्रधानांश प्रकृति से और गौणांश प्रत्यय से द्योतित होता है वैसा इन भाषाओं में नहीं होता। शब्दों में केवल प्रकृति-भाग होने से उनमें विभक्तियों के सदृश कोई परिवर्तन भी नहीं होते। प्रत्येक शब्द वाक्य में, प्रत्येक अवस्था में, अव्ययों की तरह एक ही रूप में रहता है। इसी लिये इन भाषाओं में, और भाषाओं के सदृश, शब्दों का नाम, विशे-

है कि उसके और पश्तो के बीच में जो खाई है वह उसको बंगाली से पृथक् करने वाली खाई की अपेक्षा कहीं अधिक गहरी है; परन्तु कनावड़ी के साथ तो उसका कोई संबन्ध ही नहीं है। इसी बात को दूसरे शब्दों में इस तरह कहा जा सकता है कि पंजाबी का बंगाली और पश्तो दोनों के साथ पारिवारिक संबन्ध होते हुए भी बंगाली की अपेक्षा पश्तो के साथ अधिक दूर का संबन्ध है, परन्तु कनावड़ी के साथ तो उसका कोई पारिवारिक संबन्ध ही नहीं है।

३—पारिवारिक वर्गीकरण के लिये केवल शब्दों की समानता पर्याप्त नहीं

एक साधारण यात्री की दृष्टि से ऊपर यह दिखलाया है कि भाषाओं या बोलियों की ऊपरी समानता और परस्पर समझा जाना ये दो बातें ही उनके परस्पर संबन्ध का निश्चय करा सकती हैं। परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से इतना कहना पर्याप्त नहीं। एक साधारण यात्री की अपेक्षा भाषा-विज्ञानी के लिये अधिक गम्भीर दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता होती है।

भाषाओं के परस्पर संबन्ध के पता लगाने या उनको उनके संबन्ध के अनुसार भिन्न भिन्न वर्गों में बाँटने के लिये साधारण दृष्टि से सबसे पहिली प्रक्रिया यह समझी जा सकती है कि उन भाषाओं के शब्दों की तुलना की जावे। इस प्रक्रिया के अनुसार कुछ थोड़ेसे साधारण विचार या

षण, सर्वनाम, क्रिया, क्रियाविशेषण इत्यादि प्रकार का विभाग भी नहीं किया जाता।

अर्थ-दृष्टि से कुछ प्रकृतियाँ ही दूसरी भाषाओं में जिनको विभक्ति, प्रत्यय और उपसर्ग कहते हैं उनका काम दे देती हैं। शब्द-रचना की दृष्टि से इन भाषाओं में नाम, विशेषण, क्रिया इत्यादि का भेद न होते हुए भी, वाक्य में शब्दों के स्थान-विशेष के अनुसार उनमें नाम, विशेषण, क्रिया इत्यादि का भेद किया जा सकता है। इसी लिये अयोगात्मक भाषाओं के व्याकरण का विषय केवल वाक्य-रचना तक परिमित रहता है। उदाहरणार्थ, चीनी भाषा में यह नियम है कि कर्ता सदा वाक्य के आरम्भ में आता है। अधिकरण, संप्रदान, करण इत्यादि कारकों का भाव या तो विशेष विशेष स्वतन्त्र शब्दों की सहायता से या वाक्य में शब्द के स्थान-विशेष से प्रतीत होता है।

जैसा चीनी भाषा के वर्णन में ऊपर कहा है, अयोगात्मक भाषाओं में लहजा एक बड़ा आवश्यक अंग होता है। लहजे के भेद से समानाकार पर अनेकार्थक शब्दों के भिन्न भिन्न स्थलों में अर्थ के निर्णय करने में बड़ी सहायता मिलती है। क्योंकि यह स्मरण रखना चाहिये कि इन भाषाओं में यह एक साधारण बात है कि वर्णानुपूर्वी की दृष्टि से एक ही शब्द अनेक अर्थ रखता है। उदाहरणार्थ, चीनी भाषा में tao शब्द के 'पहुँचना', 'ढाँपना', 'झंडा', 'धान्य'. 'रास्ता'

भाव और पदार्थ चुन लिये जाते हैं और उनके वाचक शब्दों को (देखो पृ० १६०) भिन्न भिन्न भाषाओं से लेकर उनकी तुलना की जाती है।

उदाहरणार्थ,

संस्कृत	पंजाबी	फ़ारसी	ग्रीक	लैटिन	फ्रेंच
पिता	पिउ	पिदर	patér	pater	père

स्पैनिश	अंग्रेज़ी	जर्मन
padro	father	Vater

संस्कृत	पंजाबी	हिन्दी	फ़ारसी	ग्रीक
त्रयः, त्रीणि, तिस्रः	तिन्न	तीन	सिह	treîs (नपुं०tría)

लैटिन	फ्रेंच	अंग्रेज़ी	जर्मन	रूसी
tres (नपुं०tria)	trois	three	drei	tri (बहुत्र०troe)

संस्कृत	हिन्दी	फ़ारसी	ग्रीक	लैटिन
भ्राता	भाई	बिरादर	fráter	frater

गाथिक	अंग्रेजी	जर्मन	आइरिश
brōther	brother	Bruder	bráthair

संस्कृत	हिन्दी	फ़ारसी	ग्रीक	लैटिन
सप्त	सात	हफ़्त	heptá	septem

गाथिक	जर्मन	अंग्रेज़ी	वेल्श
sibun	sieben	seven	saith

इत्यादि अनेक अर्थ हैं। इसी प्रकार lu (लू) के 'गाड़ी', 'जवाहिर', 'ओस', 'त्याग करना', 'रास्ता' इत्यादि अनेक अर्थ हैं। यह हम ऊपर बतला चुके हैं कि इस प्रकार के किसी एक अर्थ में समानता रखने वाले शब्दों को इकट्ठा करके बोलने से उनका अर्थ उस स्थल में निश्चित हो जाता है।

(ख) योगात्मक भाषायें

अयोगात्मक भाषाओं में प्रत्येक शब्द स्वतन्त्र रीति से पृथक् पृथक् प्रयुक्त होता है और उसमें प्रकृति-प्रत्यय के योग की कल्पना नहीं हो सकती। इसके विरुद्ध योगात्मक भाषाओं में प्रकृति और प्रत्यय के योग से शब्दों की रचना होती है। इनके शब्द प्रकृति-रूप ही न होकर प्रकृति और प्रत्यय के जोड़ने से बनते हैं। इसी से इनको योगात्मक कहते हैं। ऐसा कहा जाता है कि सब प्रकार की भाषाओं में योगात्मक भाषाओं की संख्या सबसे अधिक है। संसार की भिन्न भिन्न जातियों में जिनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं इस वर्ग की भाषायें पाई जाती हैं। परन्तु टर्की, हंगरी, फ़िनलैंड आदि देशों की भाषायें इस वर्ग की मुख्य उदाहरण हैं।

योगात्मक भाषाओं को अयोगात्मक भाषाओं से पृथक् करनेवाली विशेषता उनके नाम से ही स्पष्ट है। योगात्मक भाषाओं के शब्द एक से अधिक अंशों के मेल से बनते हैं। इन अंशों में से एक अंश का अर्थ प्रधानतया स्थिर रहता है;

इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की तुलना से ऐसी भाषाओं में भी जिनमें आपाततः कोई समानता नहीं दीखती अनेक समानताओं का पता लग जाता है, और परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाली भाषाओं के वर्गीकरण में बहुत कुछ सहायता मिलती है। ऐसी तुलना के आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि जितनी ही अधिक संख्या में इस प्रकार समान शब्द जिन भाषाओं में पाये जाते हैं और जितना ही कम उनके उच्चारण में भेद होता है उतना ही अधिक उन भाषाओं में परस्पर संबन्ध होता है। तो भी यह प्रक्रिया सर्वथा दोषशून्य नहीं है। इसका संक्षेप से वर्णन ऊपर भाषाओं की तुलना की रीति के प्रसङ्ग में भी किया जा चुका है। नीचे दिखलाये हुए दोषों से यह स्पष्ट हो जायगा कि पारिवारिक वर्गीकरण के लिये केवल शब्दों की समानता पर्याप्त नहीं।

यह हो सकता है कि सम्बद्ध शब्दों के स्थान में हम भिन्न भिन्न भाषाओं के ऐसे शब्दों की तुलना करें जिनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी dog शब्द का हिन्दी 'कुत्ता' शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है; परन्तु अंग्रेज़ी hound का संस्कृत 'श्वन्' से सम्बन्ध है। इसी तरह फ्रेंच cheval (= घोड़ा) और इटैलियन भाषा के cavallo का हिन्दी 'घोड़ा' शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है; परन्तु लैटिन equus और संस्कृत 'अश्वः' या फ़ारसी 'अस्प' सम्बन्धी शब्द हैं।

परन्तु दूसरे अंशों का स्वतन्त्र अर्थ अपनी प्रधानता को छोड़कर प्रधानार्थ के साथ गुणीभूत होकर रहता है।

जिन अनेक अंशों के मेल या जोड़ से योगात्मक भाषाओं के शब्द बनते हैं उनमें से एक अंश सदैव एक ही रूप में रहता है। उसमें किसी प्रकार का थोड़ा-सा भी परिवर्तन या विकार नहीं होता। इस अंश को हम प्रकृति कह सकते हैं। इसी अंश के अर्थ की प्रधानता शब्द में होती है। इस प्रकृत्यंश से जुड़े हुए दूसरे अंशों में थोड़ा परिवर्तन हो सकता है। परन्तु यह परिवर्तन इतना अधिक नहीं होता कि उन अंशों के वास्तविक स्वरूप के विषय में किसी को ज़रा भी सन्देह हो सके। विभक्तियुक्त भाषाओं की परिभाषा में इन अंशों को हम प्रत्यय या विभक्ति भी कह सकते हैं; परन्तु इन अंशों में और विभक्तियुक्त भाषाओं के प्रत्ययों और विभक्तियों में पूरी पूरी अनुरूपता नहीं है। जहाँ विभक्ति-युक्त भाषाओं में प्रकृति और प्रत्यय का भेद-भाव प्राय: बिल्कुल मिट जाता है, वहाँ योगात्मक भाषाओं के शब्दों के अंश जुड़े होने पर भी स्पष्टत: अपने स्वरूप को पृथक् रखते हैं। इन अंशों को बड़ी आसानी से एक दूसरे से पृथक् किया जा सकता है, और समस्त शब्दार्थ में किसका क्या और कितना उपयोग है यह समझा जा सकता है। तो भी प्रकृत्यंश से पृथक् स्वतन्त्र रीति से प्रत्ययांश का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

प्रकृत्यंश से जुड़े हुए अंशों में जो कभी कभी विकार होते

यह भी सम्भव है कि आपाततः दो शब्द एकसे होते हुए भी, व्युत्पत्ति की दृष्टि से परस्पर नितराम् भिन्न भिन्न हों और उनका इतिहास बिलकुल जुदा जुदा हो। ऐसी दशा में उनकी ऊपरी समानता केवल आकस्मिक होगी। दो भिन्न भिन्न भाषाओं में जो ऐसी समानतायें देखी जाती हैं हमें उनकी ओर से सदा सावधान रहना चाहिये। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी soup (=शोरवा) और संस्कृत 'सूप' में वस्तुतः कोई ऐतिहासिक संबन्ध नहीं है। इन दोनों शब्दों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में हमारा सन्देह इससे और बढ़ जाता है कि उपर्युक्त (पृ० १८०) ग्रिम महाशय के नियम के अनुसार जो संस्कृत 'प्' के स्थान में अंग्रेज़ी में f होना चाहिये वह अंग्रेज़ी soup शब्द में नहीं देखा जाता। इसी प्रकार के और उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं।

प्रायः ऐसा भी होता है कि वर्ण-विकारों के कारण दो परस्पर सम्बन्ध रखने वाले शब्दों का शाब्दिक रूप इतना परिवर्तित हो जाता है कि उनके विषय में यह पता लगाना कि वे परस्पर सम्बन्ध रखने वाले हैं कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ नीचे लिखे शब्दों की यही दशा है :—

संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	अंग्रेज़ी	जर्मन
गौः	boûs	bos	cow	Kuh
पञ्च	pénte	quinque	five	fünf
श्वा	kúōn	canis	hound	Hund

हैं वे स्वरों की अनुरूपता के नियम के अनुकूल होते हैं। इन भाषाओं में यह सामान्य नियम है कि प्रत्ययांशों का स्वर प्रकृत्यंश के अन्तिम स्वर से मिलता-जुलता होना चाहिये।

प्रकृत्यंश और प्रत्ययांश इन भाषाओं में केवल नाम-मात्र को जुड़े होते हैं और जुड़ने पर भी अपने भेद-भाव को स्पष्ट रखते हैं, इस कारण से इन भाषाओं को उपचयात्मक या संचयात्मक भी कह सकते हैं।

(ग) विभक्ति-युक्त भाषायें

विभक्ति-युक्त भाषाओं से आशय उन भाषाओं से है जिनके शब्द यद्यपि प्रकृति-प्रत्यय के योग से बनते हैं तो भी उनमें यह योग प्रायः स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। योगात्मक भाषाओं में प्रकृति-प्रत्यय का भेद-भाव स्पष्ट बना रहता है और उनका पूरी रीति से एकीभाव नहीं होने पाता। इसके विरुद्ध, विभक्ति-युक्त भाषाओं में प्रकृति और प्रत्यय का प्रायः एकीभाव हो जाता है। इन भाषाओं के प्रत्यय अपने स्वतन्त्र रूप को और अतएव अर्थ को भी स्पष्ट नहीं रखते। इसलिये इनमें जो अर्थ-भेद से विकार होते हैं वे समस्त शब्द के होते हुए प्रतीत होते हैं। यहाँ यह ध्यान रहे कि योगात्मक भाषाओं के वर्णन में जो 'प्रकृति' और 'प्रत्यय' शब्दों का प्रयोग किया है वह वस्तुतः गौण-रूप से किया है। मुख्य-रूप से 'विभक्ति' और 'प्रत्यय' शब्दों का प्रयोग विभक्ति युक्त भाषाओं

संस्कृत	हिन्दी
हृदय	हियाव
आत्मन्	आप
उद्गार	डकार
तिलक	टीका

ऐसा भी हो सकता है कि जिन शब्दों की समानता से हम दो भाषाओं का संबन्धी होना सिद्ध करना चाहते हैं वे शब्द वस्तुतः उन दोनों भाषाओं में या दोनों में से किसी एक में किसी और ही भाषा से लिये गये हों, या उन दोनों भाषाओं में से ही एक ने दूसरी से उद्धृत कर लिये हों। ऐसी दशा में यह स्पष्ट है कि शब्दों की समानता से भाषाओं के संबन्धी होने में कोई प्रमाण नहीं मिल सकता। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी में jungle, loot, palanquin, chutney आदि अनेक शब्द हिन्दी से लिये गये हैं। अंग्रेज़ी tobacco, जर्मन Tabak, फ्रेंच tabac, और हिन्दी 'तम्बाकू' आदि का प्रारम्भ उत्तरीय अमरीका के पाश्चात्य इन्डीज़ की आदि-भाषा से हुआ है। इसी प्रकार पृथ्वी की भिन्न भिन्न परिवारों की भाषाओं में चाय के वाचक शब्दों की समानता है; जैसे चीनी (अम्वाय) t'e, चीनी (मन्दारिन) ch'a, पोर्तुगीज़ cha, हिन्दी 'चाय' या 'चा', फ़ारसी 'चा', रूसी chaï, तुर्की chāy, मैले te या teh, डच thee, फ्रेंच thé, इटैलियन tè, स्पै-

के साथ ही करना चाहिये। क्योंकि योगात्मक शब्दों के उत्तरांश (= प्रकृति से जुड़े हुए अंश) स्वतन्त्र शब्द न होते हुए भी स्वतन्त्र से प्रतीत होते हैं—परन्तु विभक्ति-युक्त शब्दों में ऐसा नहीं कह सकते। भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार से संबन्ध रखने वाली संस्कृत, फ़ारसी, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं की गणना विभक्ति-युक्त भाषाओं में है।

यहाँ यह कह देना उचित होगा कि विभक्ति-युक्त भाषाओं के लिये यह आवश्यक नहीं कि धातुओं के रूप चलाने में या धातुओं से शब्दों के बनाने में प्रत्ययों के सदृश दूसरे अंशों को जोड़ा ही जावे। इसके स्थान में धातुओं के अन्दर स्वरों के भेद से ही काम चल सकता है। इसी दृष्टि से सेमिटिक भाषा-परिवार से सम्बन्ध रखने वाली अरबी आदि भाषाओं की भी गणना विभक्ति-युक्त भाषाओं में हो सकती है। ऐसी दशा में विभक्ति शब्द का अभिप्राय अर्थ-भेद से होने वाले किसी शब्द के भेदों से या उसके रूप चलने से (या गर्दान से) ही हो सकता है। (देखो परिच्छेद ६, अधिकरण ८)।

उपर्युक्त सामान्य भेद के अतिरिक्त विभक्ति-युक्त और योगात्मक भाषाओं की शब्द-रचना में विशेष भेद यह है कि जहाँ योगात्मक भाषाओं में प्रकृत्यंश सदा जैसा-का-तैसा रहता है, और प्रत्ययांश में ही थोड़ा परिवर्तन होता है, वहाँ विभक्ति-युक्त भाषाओं में प्रकृत्यंश भी परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार विभक्ति-युक्त भाषाओं में प्रकृति और प्रत्यय दोनों के

निश te, जर्मन Tee, अंग्रेज़ी tea। ईस्वी सोलहवीं शताब्दी में डच लोग विशेषत: पूर्व के साथ तिजारत करते थे। इसलिये यूरोप में डच भाषा में लिये गये thee शब्द का ही प्राय: कुछ रूपान्तरों के साथ प्रचार हो गया। परन्तु इन शब्दों का अन्ततः प्रारम्भ चीनी भाषा से ही हुआ है।

यह कहा जा सकता है कि कुछ थोड़े-से उद्धृत शब्दों की वर्तमानता से किसी भाषा के वर्गीकरण के प्रश्न पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ सकता। परन्तु भाषाओं में उद्धृत शब्दों की संख्या सदा थोड़ी ही हो यह आवश्यक नहीं है। जब किसी राजनैतिक या और कारण से दो जातियों में घनिष्ठ संबन्ध हो जाता है तो शनैः शनैः सहस्रों शब्द एक भाषा से दूसरी भाषा में उद्धृत कर लिये जाते हैं। उदाहरणार्थ, फ़ारसी में सहस्रों शब्द अरबी भाषा से उद्धृत कर लिये गये हैं। सैकड़ों फ़ारसी तथा अरबी शब्द भारतवर्ष की हिन्दी आदि उत्तरीय भाषाओं में पाये जाते हैं। इसी प्रकार अंग्रेज़ी भाषा में प्राचीन फ़्रेंच और लैटिन भाषा से सैकड़ों शब्द ले लिये गये हैं। इस तरह जब किसी भाषा में उद्धृत शब्दों का एक बड़ा अंश पाया जाता है उस दशा में भाषाओं के संबन्ध के विषय में प्राय: भ्रम पैदा हो सकता है। उदाहरणार्थ, बहुत-से लोग इसी कारण से यह समझते हैं कि फ़ारसी का संस्कृत की अपेक्षा अरबी से अधिक संबन्ध है। परन्तु एक भाषा-विज्ञानी इस बात को कभी नहीं मान सकता।

परिवर्तित हो जाने से ही दोनों परस्पर इतने सट जाते हैं कि उनमें बिलकुल एकीभाव हो जाता है। ऐसा होने पर भी यह स्मरण रखना चाहिये कि विभक्ति-युक्त और योगात्मक भाषाओं में परस्पर इतना भेद नहीं है जितना इन दोनों का अयोगात्मक भाषाओं से। वस्तुतः देखा जावे तो इन दोनों में परस्पर इतना प्रकार का भेद नहीं है जितना मात्रा का। दोनों की शब्द-रचना का मूल-सिद्धान्त एक ही है; केवल भेद इतना है कि विभक्ति-युक्त भाषाओं में प्रकृति-प्रत्यय का परस्पर मेल योगात्मक भाषाओं की अपेक्षा कहीं अधिक गहरा होता है। तो भी, विभक्ति-युक्त भाषाओं में यह घनिष्ठ संबन्ध सदा नहीं पाया जाता। अनेक शब्दों की रचना इन भाषाओं में भी ऐसी ही विशद होती है जैसी योगात्मक भाषाओं में। इसी कारण से कोई कोई लोग पिछले दोनों वर्गों को एक में मिलाकर सारी भाषाओं को केवल दो ही वर्गों में बाँटते हैं। परन्तु तीन वर्गों में भाषाओं को बाँटने से उनकी रचना के समझने में जितनी सहायता मिलती है उतनी उनको दो वर्गों में बांटने से नहीं। इसी लिये अधिकतर भाषा-विज्ञान के पुस्तकों में शब्द-रचना की दृष्टि से भाषाओं को तीन ही वर्गों में बांटा जाता है।

विभक्ति-युक्त भाषाओं में प्रकृति और प्रत्यय के एकीभाव को दृष्टि में रखकर इनको **संमिश्रणात्मक** भी कह सकते हैं।

४—पारिवारिक वर्गीकरण के लिए रचना की समानता की आवश्यकता

ऊपर के लेख से यह स्पष्ट हो गया होगा कि भाषाओं के पारिवारिक या उत्पत्ति-मूलक संबन्ध के स्थापित करने के लिये केवल उनके शब्दों की समानता को देखना एक पर्याप्त और निर्दोष प्रक्रिया नहीं है। इसलिये भाषाओं के वैज्ञानिक वर्गीकरण का आधार भाषाओं की रचना ही होनी चाहिये। भाषा की रचना से आशय धातु और प्रातिपदिक के आगे लगने वाली विभक्तियों के द्वारा अर्थ के भिन्न भिन्न संबन्धों और परिवर्तनों के प्रकट करने की विधि से ही नहीं है। किन्तु रचना के विचार में, जैसा ऊपर कहा है, वाक्य-रचना के साथ साथ, वाक्यान्तर्गत पृथक् पृथक् कृदन्त, तद्धितान्त आदि शब्दों के बनाने की विधि का विचार भी सम्मिलित है।

ऐसा प्रायः होता है कि वर्ण-विकार के कारण शब्दों का असली स्वरूप छिप जाता है। इसलिये जिन शब्दों की तुलना करनी हो पहिले उनका यथासंभव उनके प्रकृति-प्रत्यय-रूप अंशों में विश्लेषण या विवेचन कर लेना चाहिये।

शब्दों के इस प्रकार के विवेचन में संस्कृत जैसी भाषाओं के साथ तुलना करने से बड़ी सहायता मिलती है। संस्कृत का सबसे बड़ा महत्त्व इस बात में है कि इसकी रचना अब भी बहुत कुछ विशद है। इसलिये संस्कृत जैसी विशद रचना

४—किसी भाषा के लिये अयोगात्मक आदि तीनों अवस्थाओं में गुज़रना आवश्यक नहीं

कई एक भाषाविज्ञानियों का कहना है कि भाषाओं के उपर्युक्त तीन वर्ग प्रत्येक भाषा के क्रम-विकास की तीन अवस्थाओं को द्योतित करते हैं। उनका विचार है कि भाषा के विकास में क्रमशः उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं का आना आवश्यक है। कम से कम प्रत्येक विभक्ति-युक्ति या संमिश्रणात्मक भाषा तीनों अवस्थाओं में गुज़र चुकी है। तो भी कुछ ऐसी भाषायें हैं जो अभी तक द्वितीय अर्थात् योगात्मक अवस्था में ही हैं और आगे नहीं बढ़ी हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार भाषा की उन्नति का पथ अयोगात्मक ——> योगात्मक ——> विभक्तियुक्त इस प्रकार रहा है। इस सिद्धान्त का आधार निम्नलिखित विचारों पर है।

(१) ऐसा समझा जाता है कि अयोगात्मक चीनी भाषा भाषा की आदि-कालीन या आदिम अवस्था का एक नमूना है। प्राचीन होने पर भी यही कहना चाहिये कि चीनी भाषा अभी तक सदा से अयोगात्मक अवस्था में ही है। आदिकालीन भाषा का भी स्वरूप ऐसा ही रहा होगा।

(२) दूसरी बात इस सिद्धान्त की पुष्टि में यह कही जाती है कि कुछ प्रत्यय और विभक्तियों के विषय में, जो आज-कल शब्दों के अवयव-रूप से प्रयोग में आती हैं और स्वतन्त्र शब्दों

से युक्त भाषाओं से दूसरी भाषाओं की शब्द-रचना के समझने में सहायता मिलना स्वाभाविक ही है। साथ ही वर्ण-विकार से उस शब्द की रचना पर कितना प्रभाव पड़ सकता है इसका भी ध्यान रखना चाहिये।

५—भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण

ऊपर के लेख से यह सिद्ध होता है कि उन्हीं भाषाओं के विषय में, जिनमें न केवल भिन्न भिन्न रूपान्तरों के सहित बहुतसे समान शब्द पाये जाते हैं, किन्तु जिनमें सामान्यतः रचना की भी समानता है, यह कहा जा सकता है कि वे एक ही भाषा-परिवार से संबन्ध रखती हैं। 'भाषा-परिवार' शब्द में 'परिवार' शब्द का प्रयोग औपचारिक है। इस शब्द के प्रयोग से यह आशय है कि किसी भी भाषा-परिवार से सम्बन्ध रखने वाली सारी भाषायें किसी एक ही भाषा से निकली हैं, अर्थात् उन सबका मूल-स्रोत एक ही भाषा थी।

कुछ भिन्न भिन्न भाषाओं के विषय में तो ऐतिहासिक प्रमाण इस बात का मिल सकता है कि वे एक ही भाषा से निकली हैं। उदाहरणार्थ, यह इतिहास से सिद्ध है कि यूरोप की फ़्रेंच, स्पैनिश, इटैलियन, रूमानियन और कुछ अन्य प्रादेशिक भाषायें, सब की सब, लैटिन भाषा से, अर्थात् बहुत अंश तक तो लैटिन भाषा के उस अपरिष्कृत रूप से जो

की तरह प्रयुक्त नहीं की जा सकतीं, यह दिखलाया जा सकता है कि वे प्रारम्भ में स्वतन्त्र शब्द थीं। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी भाषा में godly आदि शब्दों में आनेवाला-ly प्रत्यय विशेषणों या क्रिया-विशेषणों को द्योतित करता है। इसका निकास like (= सदृश) शब्द से है। इसी प्रकार friendship आदि में प्रयुक्त भावार्थक-ship प्रत्यय का निकास shape (= आकृति) शब्द से है। यही बात आधुनिक हिन्दी आदि भाषाओं में भी दिखलाई जा सकती है। हिन्दी आदि में विभक्ति-रूप से प्रयुक्त होने वाले 'में', 'पै' 'पर' आदि का निकास 'मध्ये', 'पार्श्व' आदि से हुआ है।[1]

---

[1] स्वतन्त्र शब्द दूसरे शब्दों के साथ जुड़ने पर कालान्तर में किस प्रकार प्रत्यय समझे जाने लगते हैं, इसका स्पष्ट उदाहरण 'गोगोष्ठम्', 'अविगोष्ठम्', 'उष्ट्रगोयुगम्', 'खरगोयुगम्' इत्यादि शब्दों में मिलता है। तुलना करो :—

"गोष्ठादयः स्थानादिषु पशुनामादिभ्यः॥ गोष्ठादयः प्रत्ययाः स्थानादिष्वर्थेषु पशुनामादिभ्यो वक्तव्याः। गोगोष्ठम् अविगोष्ठम्॥······ ······गोयुगशब्दश्च प्रत्ययो वक्तव्यः। उष्ट्रगोयुगम् खरगोयुगम्॥... उपमानाद्वा सिद्धम्॥ उपमानाद्वा सिद्धमेतत्। गवां स्थानं गोष्ठम्। यथा गवां तद्वदुष्ट्राणाम्॥ .....गोयुगशब्दश्च प्रत्ययो वक्तव्य इति। गोयुगं गोयुगम्। यथा गोस्तद्वदुष्ट्रस्य। उष्ट्रगोयुगम्॥" (महा-भाष्य ५।२।२६)। इस पर कैयट की व्याख्या भी देखो।

रोमन सेनाओं में पाया जाता था, और कुछ अंश तक पुस्तकों की परिष्कृत लैटिन से पीछे से उद्धृत शब्दों से बनी हैं।

इसी प्रकार भारतवर्ष की आधुनिक आर्य-भाषायें प्राचीन भारत की उस सर्व-साधारण की भाषा से निकली हैं जिसका परिष्कृत स्वरूप वैदिक तथा पीछे की संस्कृत में पाया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक समय में भी भाषा में प्रादेशिक भेद पाये जाते थे। इस बात की पुष्टि 'कृ' धातु के 'कुरु' तथा 'कृणु' जैसे रूप-भेदों के ऋग्वेद आदि में पाये जाने से तथा इसी प्रकार के दूसरे प्रमाणों से होती है। तो भी यह स्पष्ट है कि उस समय का भेद उस भेद की अपेक्षा जो आज-कल की हिन्दी, पञ्जाबी आदि भाषाओं में परस्पर पाया जाता है कहीं कम था।

परस्पर संबन्ध रखने वाली भाषाओं के शब्दों की तुलना करने के लिये तथा उनकी रचना के समझने के लिये, जैसा ऊपर कहा है, यह अत्यन्त उपयोगी है कि उनका प्राचीन स्वरूप लेख में पाया जाता हो; जैसे उपर्युक्त फ्रेंच आदि भाषाओं के विषय में लैटिन और भारतवर्षीय आधुनिक आर्य-भाषाओं के विषय में संस्कृत। कुछ जातियों में उनका प्राचीन साहित्य नहीं पाया जाता। उनकी प्राचीन भाषा के लेख में न पाये जाने से उससे निकली हुई आधुनिक भाषाओं के विकास को समझना अति कठिन होता है।

ऐतिहासिक प्रमाण और प्राचीन लेखों के अभाव में हम

(३) तीसरा हेतु जो इस सिद्धान्त की पुष्टि में दिया जाता है वह तर्कशास्त्र का चिन्तनाणुवाद है। इस पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं। इसके अनुसार हमारी विचार-परम्परा का प्रारम्भ पृथक् पृथक् स्वतन्त्र स्थिति रखने वाले 'भावों' या 'प्रत्ययों' से होता है। भाषा में इन्हीं 'भावों' का निरूपण पृथक् पृथक् शब्दों द्वारा होता है। इन स्वतन्त्र 'भावों' के परस्पर जोड़ने से 'विचार' बनते हैं। उसी तरह, जैसे शब्दों के जोड़ने से वाक्य बनते हैं। दूसरे शब्दों में, उपर्युक्त सिद्धान्त का आधार इस विचार पर है कि 'भाव' और शब्द क्रमशः 'विचार' और वाक्य के बनने से पहिले स्वतन्त्र स्थिति रखते हैं।

आज-कल भाषा-विज्ञान में उपर्युक्त सिद्धान्त प्राय: नहीं माना जाता। निम्नलिखित कारणों से उसकी दुर्बलता प्रतीत हो जावेगी।

आधुनिक नये अनुसन्धान से पता लगा है कि आज-कल की अयोगात्मक तथा एकाक्षरात्मक चीनी भाषा सदा से ही इस वर्तमान स्वरूप में नहीं रही है। आदि-कालीन चीनी भाषा अवश्य ही इससे भिन्न रूप में रही होगी। सैकड़ों चीनी भाषा के शब्द जो अब केवल एक अक्षर के बने हैं प्रारम्भ में दो या तीन अक्षरों के होते थे। उच्चारण-सम्बन्धी परिवर्तन और ह्रास के कारण ही वे अब एक अक्षर के रह गये हैं। इस ह्रास के कारण ही अनेकानेक आधुनिक चीनी शब्दों में परस्पर वर्ण-कृत भेद न रहने से जो अत्यन्त गड़बड़ होने की सम्भावना

कुछ भाषाओं की अत्यधिक समानता को देखकर उनको एक पारिवारिक वर्ग में रख सकते हैं। दूसरे शब्दों में उनके विषय में हम यह अनुमान कर सकते हैं कि वे सब एक ही मूल-भाषा से निकली हैं। परन्तु ऐसी दशा में इतना ध्यान रहे कि उस मूल-भाषा के अस्तित्व के विषय में हमारे पास कोई और स्पष्ट प्रमाण नहीं है। उसके स्वरूप के विषय में हम अपने विचार भी केवल कल्पना के आधार पर ही बना सकते हैं। साथ ही ऐसी दशा में यह डर भी रहता है कि कहीं हम किसी ऐसी भाषा को भी उस वर्ग में सम्मिलित न समझ लें जिसका वस्तुतः उससे कोई संबन्ध नहीं है।

किन्हीं दो भाषाओं के विषय में यह सिद्ध करना कि वे अत्यन्त प्राचीन समय में अन्ततः परस्पर संबन्ध नहीं रखती थीं बड़ा कठिन है। इस कारण से तथा इस विचार की ओर सामान्यतः अधिक झुकाव होने से कि मनुष्य-भाषा का प्रारम्भ किसी एक ही स्थान पर हुआ होगा, कुछ विद्वानों ने कभी कभी अत्यन्त भिन्न भाषाओं की परस्पर समानताओं के खोजने की चेष्टा की है। उदाहरणार्थ, संस्कृत भाषा अरबी भाषा से अत्यन्त भिन्न है। दोनों पृथक् पृथक् भाषा-वर्गों से संबन्ध रखती हैं। दोनों भाषा-वर्गों की रचना भी एक दूसरे से भिन्न है। सेमिटिक भाषा-परिवार के, जिससे अरबी का संबन्ध है, त्रिवर्णात्मक

थी उसी को दूर करने के लिये शब्दों के उच्चारण में भिन्न भिन्न स्वर या लहजे के प्रयोग करने का प्रारम्भ हुआ होगा। चीनी भाषा का सम्बन्ध ऐसे भाषापरिवार से है जिसमें स्वर या लहजे के प्रयोग की मात्रा शब्दों की एकाक्षरता के परिमाण पर निर्भर होती है।

दूसरी बात से भी उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती। कुछ विभक्तियाँ या प्रत्यय प्राचीन स्वतन्त्र शब्दों से निकली हैं और आज-कल दूसरे शब्दों से जुड़कर अपना स्वतन्त्र रूप खो चुकी हैं—इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सारी विभक्तियाँ और प्रत्यय प्रारम्भ में स्वतन्त्र शब्द थे। साथ ही इस बात का भी ध्यान रहे कि बहुत से निर्वचन जो इनके विषय में दिखलाये जाते हैं वे अनिश्चित ही हैं।

तीसरे हेतु के विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। चिन्तनाणुवाद का खण्डन ऊपर किया जा चुका है (तृतीय परिच्छेद, अधिकरण ११)। ऊपर कहा गया है कि जिस प्रकार हमारे सोचने की चरम व्यक्ति 'विचार' है, इसी प्रकार भाषा का प्रारम्भ भी वाक्यों से होता है। इसलिये वस्तु-स्थिति में जैसे 'भावों' से पहिले 'विचार' होता है, इसी तरह पृथक् पृथक् स्वतन्त्र शब्दों से पहिले वाक्य, जो 'विचार' का शब्दात्मक स्वरूप है, होता है। इसलिए चिन्तनाणु-वाद के आधार पर इस बात की कल्पना करना कि अयोगात्मक अवस्था ही भाषा की आदि-कालीन अवस्था हो सकती है ठीक नहीं।

धातुओं का संस्कृत-संबन्धी भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार के एकाक्षरात्मक धातुओं के साथ स्पष्ट ही कोई संबन्ध नहीं दीखता। ऐसा होने पर भी कुछ विद्वानों ने इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि दोनों परिवारों की भाषायें एक ही मूल-स्रोत से निकली हैं। यह हो सकता है कि कुछ आकस्मिक समानतायें दोनों में पाई जावें।[1]

परन्तु केवल आकस्मिक समानताओं के आधार पर किन्हीं का संबन्ध जोड़ना कैसे युक्ति-संगत हो सकता है? उपर्युक्त रचना आदि की विशेषता के साथ साथ इन दोनों भाषा-परिवारों का इतिहास पृथक् पृथक् हम इतने पीछे ले जा सकते हैं कि यह विश्वास से कहा जा सकता है कि उक्त दोनों भाषा-परिवार पिछले सहस्रों वर्षों से एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न और पृथक् रहे हैं।

---

१ उदाहरणार्थ, संस्कृत 'एक', 'षट्' (= षष्), 'सप्त' के साथ यथाक्रम हिब्रू ékhad (= एक), shêsh (= छः) और shebá (= सात) शब्दों को देखिये। इन हिब्रू शब्दों के विषय में विशेष विवेचना से विद्वानों ने यही सिद्ध किया है कि इनका संस्कृत शब्दों के साथ कोई पारिवारिक संबन्ध नहीं है और उनकी समानता केवल आकस्मिक है।

उत्तरीय अमरीका के आदि-निवासियों की भाषा के उदाहरण से भी इस कल्पना की सिद्धि नहीं होती, यह भी ऊपर (पृ० ६३) दिखलाया जा चुका है।

वस्तुतः नितरां आदि-कालीन भाषा के स्वरूप के विषय में जो अनेक कल्पनायें की गई हैं उनका आधार ठीक ठीक साक्ष्य पर नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं कि आदि-काल में मुख से निकलने वाली अस्पष्ट तथा अविभक्त शब्द-धारा में से जो स्थिर और स्वतन्त्र शब्द कल्पित किये गये वे एकाक्षरात्मक तथा अयोगात्मक ही थे।

५—बहु-संश्लेषणात्मक भाषायें

भाषा की रचना का एक विशेष प्रकार पाया जाता है जिसको बहु-संश्लेषणात्मक या बहु-संमिश्रणात्मक कह सकते हैं। इस प्रकार की रचना का विशेष उदाहरण अमरीका के आदि-निवासी इण्डियन लोगों की भाषायें हैं। अनेक भावों के समुदाय को, जिसको अन्य भाषाओं में अनेक स्वतन्त्र शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है, इस प्रकार की भाषाओं में एक समस्त शब्द के द्वारा प्रकट किया जाता है। यह समस्त शब्द भी सदा समस्त ही रहता है; उसके अवयवों का पृथक् स्वतन्त्र रीति से प्रयोग नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, "मैं मांस खाता हूँ" इस वाक्य को मेक्सिको देश के आदि-निवासियों की भाषा में केवल एक समस्त शब्द द्वारा प्रकट

६—भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार के भिन्न-भिन्न नाम और महत्त्व

भाषा-विज्ञान के एक विज्ञान के रूप से आरम्भ होने पर सबसे पहिले संस्कृत-संबन्धी भाषा-वर्ग और अरबी-संबन्धी भाषा-वर्ग का ही एक दूसरे से पारिवारिक दृष्टि से भेद किया गया। संस्कृत के अध्ययन से ही ग्रीक और लैटिन भाषाओं के शब्दों की रचना के विवेचन करने में बड़ी सहायता मिली। इसी आधार पर इन दोनों तथा अन्य भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का आरम्भ हुआ। कुछ ही दिनों में यह पता लग गया कि ग्रीक और हिब्रू भाषा के शब्दों की तुलना, चाहे वे शब्द देखने में कितनी ही समानता रखते हों, व्यर्थ है। इससे पहिले विद्वानों का बहुत कुछ समय ग्रीक और हिब्रू शब्दों की तुलना करने में नष्ट हो चुका था। अब यह बात स्पष्ट हो गई कि ये दोनों भाषायें रचना की दृष्टि से परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, और इसी कारण दोनों की उत्पत्ति भी भिन्न भिन्न मूल-भाषाओं से ही माननी चाहिये।

भिन्न भिन्न नाम। ऊपर कहे गये दोनों भाषा-परिवारों में से प्रथम भाषा-परिवार को—जिसमें संस्कृत, फ़ारसी, आर्मीनियन, ग्रीक, लैटिन और उससे संबन्ध रखने वाली इटैलियन आदि भाषायें, केल्टिक भाषायें, अंग्रेज़ी, जर्मन,

किया जावेगा। ज़ोर देने के लिये यदि कर्मकारक मांस का पर्याय-वाची शब्द समस्त शब्द से पृथक् भी रक्खा जावे तो भी मांस शब्द के स्थानीय एक सर्वनाम को "मैं-उसको-खाता-हूँ, मांस को" इस प्रकार प्रथम समस्त शब्द के साथ मिलाकर बोलेंगे। इसी प्रकार "मैं रोटी अपने पुत्र को देता हूँ" इतने शब्दों के स्थान में "मैं-उसे-उसको-देता-हूँ रोटी अपने-पुत्र-को" इस प्रकार केवल तीन शब्दों का प्रयोग किया जावेगा। इसी कारण उपर्युक्त भाषाओं में दस दस अक्षरों तक के शब्द पाना साधारण बात है। एक एक वस्तु के नाम भी इन भाषाओं में बड़े लम्बे होते हैं। उदाहरणार्थ, मेक्सिकन भाषा में ही बकरे के लिये kwa-kwauh-tentsone शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसका मूलार्थ है "सिर-वृक्ष (= सींग)-ओष्ठ-बाल (= दाढ़ी)" या दूसरे शब्दों में "सींग वाला और दाढ़ी वाला।" इस प्रकार बहु-संश्लेषणात्मक रचना में अत्यन्त लम्बे लम्बे शब्द—जो या तो समास या संकुचित या संक्षिप्त वाक्य होते हैं—पाये जाते हैं।

इन भाषाओं का जिन्होंने अध्ययन किया है उनमें से अनेकों का ऐसा मत है कि इस प्रकार की रचना को उपर्युक्त अयोगात्मक आदि तीनों प्रकार की रचनाओं से सर्वथा भिन्न एक नये प्रकार की रचना कहना चाहिये। परन्तु भाषा-विज्ञानियों की प्रायः सम्मति यही है कि इन भाषाओं में अनेक शब्दों के योग से शब्दों के बनाने की मात्रा और

रूसी, तथा कुछ और भाषायें भी सम्मिलित हैं—भिन्न भिन्न समय पर भिन्न भिन्न नाम दिये गये। सबसे पहिले संस्कृत 'आर्य' शब्द के आधार पर इसको **आर्य-भाषा-परिवार** कहा गया। आज-कल भी साधारण साहित्य में 'आर्य' शब्द का प्रयोग इस भाषा-परिवार के नाम (='आर्य-भाषा-परिवार') में तथा इस परिवार की भाषाओं की मूल-भाषा के नाम ('मूल-आर्य-भाषा) में किया जाता है। इस प्रसङ्ग में 'आर्य' शब्द से उस प्राचीन जाति का आशय है जिसमें उक्त मूल-भाषा का विकास हुआ था और जो उसको बोलती थी। वह जाति कैसी थी? कहाँ रहती थी? इत्यादि प्रश्नों पर यहाँ विचार करना आवश्यक नहीं।

परन्तु भाषा-विज्ञानी लोग आज-कल 'आर्य' शब्द का प्रयोग केवल ईरानी तथा भारतीय आर्य-भाषाओं के लिये और उस (मूल-) भाषा के लिये, जिससे ये दोनों प्रकार की भाषायें निकली हैं, करते हैं। उस अधिक प्राचीन भाषा के लिये जो संस्कृत, फ़ारसी तथा ग्रीक आदि भाषाओं की मूल-भाषा थी वे लोग **भारत-यूरोपीय मूल-भाषा** का नाम देते हैं। इसी अर्थ में **भारत-जर्मनीय (मूल-) भाषा** का प्रयोग जर्मनी में किया जाता है। **भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार** से आशय उन समस्त भाषाओं से है जो उस प्राचीन भारत-यूरोपीय मूल-भाषा से निकली हैं। 'भारत-यूरोपीय' (या 'भारत-जर्मनीय') शब्द के प्रयोग से यही अभिप्राय है कि इस भाषा-परिवार के

भाषाओं से बहुत अधिक होने पर भी शब्द-रचना का प्रकार बिल्कुल नया और अनोखा नहीं है। इसलिये इनका समावेश भिन्न भिन्न शब्दों को देखकर योगात्मक या विभक्ति-युक्त रचना में ही हो सकता है। और और भाषाओं में भी (जैसे बास्क भाषा जो स्पेन की उत्तरीय पहाड़ियों में बोली जाती है, फ़िनलैंड देश की स्थानीय भाषायें, और भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार) इस प्रकार की रचना के उदाहरण पाये जाते हैं। "मैं देता हूँ" इन तीन शब्दों के स्थान में संस्कृत में 'ददामि' यह एक शब्द कहना पर्याप्त होता है।

६—संश्लेषणात्मक और विश्लेषणात्मक भाषायें

विभक्ति-युक्त भाषायें थोड़ी या बहुत संश्लेषणात्मक या विश्लेषणात्मक होती हैं संश्लेषणात्मक से आशय उन भाषाओं से है जिनमें एक शब्द के द्वारा एक पेचीदा या जटिल अर्थ को प्रकट किया जा सकता है। उनको अभेदात्मक भी कहा जा सकता है। इसके विपरीत, विश्लेषणात्मक भाषा वह कहलाती है जिसमें उसी अर्थ के लिये अनेक शब्द प्रयोग किये जाते हैं। ऐसी भाषा को भेदात्मक भी कह सकते हैं। उदाहरणार्थ, संस्कृत 'अभविष्यत्' के स्थान में हिन्दी में 'वह होता' और अंगरेज़ी में He would have been कहा जायगा। इसी प्रकार—

भारतवर्ष से लेकर यूरोप तक के भौगोलिक विस्तार की ओर ध्यान दिलाया जा सके। 'भारत-यूरोपीय' के स्थान में आजकल 'आर्य' शब्द के उपयोग न करने का कारण यह है कि इस बात का पूरा पूरा निश्चय नहीं कि उक्त मूल-भाषा के बोलने वाले अपने को, भारतीय और ईरानियों की तरह, आर्य कहते थे या नहीं।

महत्त्व। भिन्न भिन्न भाषा-परिवारों में भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार का महत्त्व सबसे अधिक है। भाषा-विज्ञानी की दृष्टि में तो निर्विवाद इसका स्थान और सबके स्थान से ऊँचा है। भाषाविज्ञान की नींव इसी परिवार के आधार पर रक्खी गई। भाषा-विज्ञान में प्रवेश के लिये अब भी विद्यार्थी को सबसे पहिले इसी परिवार के विषय में ज्ञान प्राप्त करना होता है। विद्वानों ने जितना परिश्रम तथा छान-बीन इस परिवार के विषय में की है इतनी अभी तक औरों के विषय में नहीं की गई। वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन के लिये इस परिवार में पर्याप्त स्पष्टता, निश्चयात्मकता और विस्तार तीनों गुण पाये जाते हैं। इस परिवार की भिन्न भिन्न भाषाओं के इतिहास में भाषा-विषयक विचार प्राचीन समय से ही प्रारम्भ हुआ, जिससे उनके विकास के समझने में बड़ी सहायता मिल सकती है। इस परिवार के विषय में ऋग्वेद आदि प्राचीन साहित्य के रूप में ऐतिहासिक साक्ष्य जितना पुष्कल और सुरक्षित मिल सकता है, उतना औरों के विषय में

संस्कृत	हिन्दी	अंग्रेज़ी
करोति	वह कर रहा है	He is doing
गृहाणाम्	घरों का	of (the) houses
जिगमिषति	वह जाना चाहता है	He desires to go

ग्रीक और लैटिन भाषाओं की रचना में संस्कृत की तरह संश्लेषणात्मकता अत्यधिक पाई जाती है। अंग्रेज़ी भाषा विश्लेषणात्मक रचना का अच्छा उदाहरण है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार की भाषायें धीरे धीरे संश्लेषणात्मक से विश्लेषणात्मक होती जा रही हैं। इस प्रवृत्ति का उदाहरण भारतवर्ष की आधुनिक आर्य-भाषाओं में अच्छी तरह पाया जाता है। संस्कृत की रचना स्पष्टतया संश्लेषणात्मक है। संस्कृत से निकली हुई प्राकृत भाषा के शौरसेनी आदि सारे भेदों की रचना भी संश्लेषणात्मक ही रही। परन्तु आज-कल की हिन्दी, पंजाबी, गुजराती आदि भाषाओं की रचना में प्रायः विश्लेषणात्मकता दीख पड़ती है। इनमें हिन्दी की रचना सब से अधिक विश्लेषणात्मक है। पञ्जाबी की भी लगभग यही दशा है। गुजराती, सिन्धी और मराठी में विश्लेषणात्मकता क्रमशः कुछ कम पाई जाती है। इनके पीछे बंगाली और उड़िया का स्थान है। इनकी रचना में, औरों की अपेक्षा, संश्लेषणात्मकता की मात्रा अधिक है।

नहीं। प्राचीन जगत् के तीन अत्यन्त महत्त्व से युक्त साहित्य—संस्कृत, ग्रीक और लैटिन—और मध्य-कालीन तथा आधुनिक साहित्य का बड़ा भाग भी इसी परिवार से संबन्ध रखता है। देश-दृष्टि से भी इसका विस्तार अत्यधिक है। सभ्य जगत् का बहुत बड़ा भाग, जैसे लगभग सारा यूरोप, अमरीका का बड़ा भाग, ईरान और उत्तरीय भारत-वर्ष, इसी परिवार से संबन्ध रखने वाली भाषाओं को बोलता है। भाषा के विकास को दिखाने वाली जितनी विविध सामग्री इस परिवार में पाई जाती है उतनी किसी दूसरे परिवार में नहीं। इस परिवार की किन्हीं किन्हीं भाषाओं में उच्चारण-संबन्धी महान् परिवर्तन हो चुका है। कुछ भाषायें परिवर्तित होते होते शुद्ध संश्लेषणात्मक अवस्था से लगभग बिलकुल विश्लेषणात्मक अवस्था में आ गई हैं। बहुत-सी अभी तक बीच की ही दशा में हैं। इन्हीं कारणों से इस परिवार में, औरों की अपेक्षा, शब्दों के रूप और रचना के विविध नमूने अधिक पाये जाते हैं।

इस परिवार की भिन्न भिन्न भाषाओं का और अवान्तर वर्गों का वर्णन अगले परिच्छेद में किया जायगा।

७—सेमिटिक भाषा-परिवार

अरबी-संबन्धी भाषा-वर्ग, जिसकी भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार से विलक्षणता को सबसे पहिले विद्वानों ने अनुभव किया, सेमिटिक भाषा-परिवार के नाम से प्रसिद्ध है।

यही दशा यूरोप की आधुनिक भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार की भाषाओं की है। अंग्रेज़ी का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। इस भाषा में बहुत ही थोड़ी विभक्तियाँ शेष रह गई हैं। यहाँ तक कि नामों या संज्ञा-वाचक शब्दों के बहुवचन, क्रिया के प्रथम-पुरुष एकवचन और भूतकाल को छोड़कर चीनी भाषा की तरह एकाक्षरात्मक अंग्रेज़ी लिखी जा सकती है।

७—रचना (या शब्दाकृति) की दृष्टि से भाषाओं के वर्गीकरण की उपयोगिता

रचना (या शब्दाकृति) की दृष्टि से भाषाओं के वर्गीकरण से उनकी रचना के समझने में सहायता मिलती है, यह हम ऊपर कह चुके हैं। तो भी व्यवहार की दृष्टि से ऐसा वर्गीकरण बहुत अधिक उपयोगी नहीं है। प्रथम तो, संसार की सैकड़ों भाषाओं को केवल तीन वर्गों में बाँटने से उनके स्वरूप के समझने में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती; विशेषकर ऐसी दशा में जब कि एक एक वर्ग में परस्पर कोई संबन्ध न रखने वाली अनेकानेक भाषाओं को इकट्ठा कर दिया गया है। विभक्ति-युक्त भाषा-वर्ग को छोड़कर, जिसका संबन्ध केवल भारत-यूरोपीय और सेमिटिक इन दो भाषा-परिवारों से है, अन्य दोनों वर्गों में से प्रत्येक में परस्पर किसी प्रकार का संबन्ध न रखने वाली तथा अत्यन्त भिन्न अनेकानेक भाषाओं का समावेश कर दिया गया है। उपर्युक्त विभक्ति-

'सेमिटिक' (Semitic) शब्द 'सेमाइट' (Semite) शब्द से बना है। सेमाइट से अभिप्राय यहूदी तथा उनसे संबन्ध रखने वाली अरब आदि जातियों से है। इस परिवार की मुख्य मुख्य भाषाओं का वर्णन नीचे दिया जाता है :—

(१) **असीरियन भाषा।** प्राचीन-कालीन मेसोपोटामिया की द्वितीय प्राचीन भाषा असीरियन नाम से प्रसिद्ध है। प्राचीन समय में दक्षिण मेसोपोटामिया (प्राचीन नाम बैबिलोनिया) की राजधानी बैबिलन (या बाबिल) नामक नगर, और उत्तर मेसोपोटामिया (प्राचीन नाम असीरिया) की राजधानी नाइनवेह (या नैनवा) नगर था। इन दोनों नगरों को विशेषकर असीरियन भाषा का स्थान समझना चाहिये। प्राचीन मेसोपोटामिया की प्रथम प्राचीन भाषा का सम्बन्ध विद्वानों के मत में सेमिटिक भाषा-परिवार से न था। उसका विशेष वर्णन नीचे आयेगा।

असीरियन भाषा पकाये हुए मिट्टी के छोटे बड़े टुकड़ों पर कीलकाक्षरों [१] में लिखी हुई पाई जाती है। इस प्रकार लिखे हुए इस भाषा के कुछ लेख क्राइस्ट से पूर्व तीसरी सहस्राब्दी तक के समझे जाते हैं। बैबिलन की प्राचीन सभ्यता का कुछ प्रभाव ईरान देश पर पड़ा था। इसी से ईरानी देश के

---

१ कीलों की तरह नुकीली (ꜝ या –) रेखा या रेखाओं से बने हुए एक प्रकार के अक्षर।

युक्त दोनों परिवारों में भी परस्पर कोई संबन्ध नहीं है। यही नहीं, उनकी रचना कई अंशों में परस्पर अत्यन्त भिन्न है।

दूसरा दोष इस वर्गीकरण का यह है कि इसको हम आत्यन्तिक और निश्चित नहीं कह सकते। कुछ भाषायें ऐसी हैं जिनको किसी एक ही वर्ग के अन्दर लाना कठिन है। इसी प्रकार एक एक वर्ग की भाषा में ऐसे शब्द पाये जाते हैं जिनकी रचना दूसरे वर्गों की रचना के अनुकूल होती है। वस्तुतः भिन्न भिन्न वर्गों की भाषाओं के बीच में निश्चित सीमा बाँधना कठिन ही नहीं असंभव-सा है। एक ही भाषा में देखा जाता है कि अयोगात्मक, योगात्मक और विभक्ति-युक्त होने के लक्षण पाये जाते हैं। साहित्यिक उन्नति से रहित भाषाओं में तो यह कहना भी प्रायः कठिन होता है कि कहाँ तक उनमें अयोगात्मकता है और कहाँ तक योगात्मकता। हिन्दी जैसी भाषा में भी जब "'का', 'के', 'की' इत्यादि को शब्दों से सटाकर लिखना चाहिये या नहीं?" ऐसा प्रश्न उठ सकता है तो साहित्यहीन और उससे भी अधिक असभ्य जङ्गलियों की भाषाओं के विषय में तो कहना ही क्या है।

विभक्ति-युक्त भाषाओं में भी जो संश्लेषणात्मकता और विश्लेषणात्मकता का भेद ऊपर किया है वह भी आपेक्षिक ही है। यद्यपि इन भाषाओं का झुकाव विश्लेषणात्मकता की ओर है तो भी कोई ऐसी आधुनिक भाषा नहीं पाई जाती जो सर्वांश में केवल संश्लेषणात्मक या विश्लेषणात्मक कही जा सके।

सबसे प्राचीन लेख एक विशेष प्रकार के कीलकाक्षरों में लिखे हुए पाये जाते हैं। कुछ लोगों का ख्याल है कि ईरान की तरह भारतवर्ष पर भी बैबिलन का प्रभाव पड़ा होगा। प्राचीन लेखों से पता लगता है कि बैबिलोनियन धर्म की मुख्य विशेषता फलित ज्यौतिष और जादू या तान्त्रिक बातों में विश्वास था।

उपर्युक्त असीरियन भाषा को बोलने वाले सेमिटिक जाति के बैबिलोनियन लोग बैबिलोनिया या असीरिया के आदिनिवासी न थे। इन लोगों ने यहाँ (बैबिलोनिया में) पहिले से रहने वाली एक दूसरी जाति को जीता, और फिर कालान्तर में असीरिया में भी इनकी बस्तियाँ आबाद हुईं। उस प्राचीनतर जाति की भाषा एक दूसरी थी जिसको सुमेरियन या अक्कैडियन नाम से पुकारा जाता है। इस सुमेरियन भाषा को विजेता बैबिलोनियन लोगों ने नष्ट न होने दिया; क्योंकि उनकी सभ्यता और धार्मिक विश्वासों का आधार बहुत कुछ उसी प्राचीनतर जाति की सभ्यता और धार्मिक विश्वासों पर था। बैबिलोनियन पुजारियों और धर्म-गुरुओं ने इसका पठन-पाठन जारी रक्खा। वे इसको भी उपर्युक्त कीलकाक्षरों में ही लिखते थे, जैसा कि अनेक वर्तमान काल में उपलब्ध प्राचीन लेखों से सिद्ध होता है। इस सुमेरियन भाषा के विषय में विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं। चीनी भाषा से तथा

८—प्रकृति-प्रत्यय-विवेचन की उपयोगिता

भाषाओं के रचना-या शब्दाकृति-मूलक वर्गीकरण की व्यावहारिक उपयोगिता अधिक न होने पर भी, और भाषाओं के क्रम-विकास तथा विभक्तियों और प्रत्ययों की उत्पत्ति के विषय में किसी विशेष सिद्धान्त को दृष्टि में न रखते हुए भी, किसी शब्द की रचना को ठीक ठीक समझने के लिये यथासंभव उसके मूल-तत्त्व या प्रकृति और साधक अंश या प्रत्यय का विवेचन करना अत्यन्त आवश्यक है। संस्कृत वैयाकरणों ने इस बात को अच्छी तरह अनुभव कर लिया था।[१]

प्रत्येक भाषा में शब्दों के मूल-तत्त्व या प्रकृति या धातु के विषय में अनुसन्धान करना आवश्यक है। प्रत्येक भाषा अपने प्रारम्भ काल में 'धातु-अवस्था' में थी, अर्थात् प्रारम्भ-काल में भाषाओं के शब्द प्रकृति और प्रत्यय के योग से न बनकर केवल प्रकृति-रूप ही होते थे; इन्हीं प्रकृतियों में से

---

१ तु०—"नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। यन्न विशेषपदार्थसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्॥" (महाभाष्य ३।३।१)।

"नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके" (निरुक्त १।१२)। "तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्।" इत्यादि (निरुक्त २।१)।

काकेशस में आज-कल बोली जाने वाली जार्जियन भाषा से इसके सम्बन्ध को दिखाने की चेष्टा विद्वानों ने की है।

(२) **हिब्रू या इब्रानी भाषा।** यहूदियों की प्राचीन भाषा हिब्रू या इब्रानी नाम से प्रसिद्ध है। प्राचीन समय में यह फ़िलिस्तीन (या पैलेस्टाइन) में लिखी तथा बोली जाती थी। 'प्राचीन-विधान' (Old Testament) अधिकतया इसी भाषा में लिखा गया है। 'प्राचीनविधान' का कुछ भाग हिब्रू भाषा से घना संबन्ध रखने वाली और हिब्रू के बाद फ़िलिस्तीन में बोली जाने वाली **अरैमेइक** भाषा में है।

हिब्रू भाषा अब भी यहूदियों की धार्मिक भाषा है। प्राचीन हिब्रू भाषा की प्रतिनिधि-रूप आज-कल केवल एक भाषा है जिसको **यिडिश** कहते हैं। यह एक अपभ्रंश मिली-जुली भाषा है, और बड़े शहरों में यहूदी लोगों की बस्तियों में इसका प्रयोग किया जाता है।

(३) **अरबी भाषा।** क़ुरान की भाषा परिष्कृत अरबी है। कुछ प्राचीन प्रादेशिक अरबी बोलियाँ भी प्राचीन लेखों में पाई जाती हैं। आज-कल भिन्न भिन्न प्रान्तीय भेदों के साथ अरबी भाषा अरब, मेसोपोटामिया, सीरिया, मिश्र और उत्तरीय अफ़्रीका में बोली जाती है। क़ुरान की अरबी में 'ग्' वर्ण नहीं है। परन्तु मिश्र देश की आधुनिक अरबी में

कुछ दूसरी प्रकृतियों के साथ मिलकर ह्रास होते होते प्रत्यय बन गये—भाषाओं के विकास के विषय में इस प्रकार के सिद्धान्त के मानने या न मानने से भाषाओं की प्राचीनतम अवस्थाओं के इतिहास के विषय में हमारे अनुसंधान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि जिन भाषाओं में हम प्रकृति-प्रत्यय का विवेचन कर सकते हैं वे कभी 'धातु-अवस्था' में रही होंगी—इसका पता शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय-विवेचन से कुछ नहीं लग सकता। हम कितने ही पीछे क्यों न लौटें, हमें वे शब्द शुद्ध 'धातु-अवस्था' में कभी नहीं मिलते।

उदाहरणार्थ, 'भरति' शब्द के विषय में या तो हम कह सकते हैं कि यह गुण करने पर भृ + अ + ति के योग से बना है, या दूसरी संबद्ध भाषाओं के साथ तुलना करके हम कह सकते हैं कि प्राचीन भारत यूरोपीय भाषा में इसका रूप **bhe re˘ ti* (भे˘ रे˘ ति) रहा होगा। इस प्रकार दूसरी संबद्ध भाषाओं की तुलना के सहारे यथासंभव प्राचीनतम रूप तक पहुँचने पर भी हम 'भरति' शब्द को प्रकृति-प्रत्यय-योगात्मक शब्द के रूप में ही पाते ह। ऐसी दशा में यह कहना की 'भरति' दो या तीन स्वतन्त्र शब्दों से मिलकर बना होगा—जैसे यह कहना कि-'ति' प्रत्यय का संबन्ध 'तद्' शब्द से है—कल्पनामात्र है।

'ग' अब भी वर्तमान है। उदाहरणार्थ, ऊँट के लिये मिश्र में 'गमल' शब्द आता है; परन्तु प्राचीन परिष्कृत अरबी में इसके स्थान में 'जमल' शब्द आता है।

इस्लाम धर्म की भाषा होने से अरबी का प्रभाव समस्त मुसलमानों की भाषाओं पर पड़ा है। विशेषकर यह प्रभाव फ़ारसी भाषा पर, और फ़ारसी के द्वारा, उर्दू और तुर्की भाषाओं पर देखा जाता है। उत्तरी अफ़्रीका के मूर लोगों ने अपनी विजय के साथ स्पेन देश में अरबी को प्रविष्ट किया। इसी कारण स्पैनिश शब्द-कोष पर अनेक चिह्न अरबी के पाये जाते हैं।

यूरोपीय इतिहास के मध्यकाल में जब कि अनेक कारणों से यूरोप में विद्या की चर्चा बहुत कम हो गई थी, लैटिन भाषा के पठन-पाठन की बहुत बुरी दशा थी, और तुर्कों के आक्रमणों के सामने बिज़ैन्टाइन साम्राज्य (ईसा की छठी सदी से पन्द्रहवीं सदी तक) अपने अन्तिम दिन गिन रहा था, उन दिनों भू-मध्य-सागर के आस-पास ज्ञान की ज्योति के स्थिर और उसकी परम्परा के जारी रखने में अरबी विद्वानों ने एक प्रकार से बहुत कुछ काम किया। इन दिनों कार्डोवा, ग्रैनैडा (स्पेन) आदि नगरों के मुसलिम विश्वविद्यालय यूरोप भर में प्रसिद्ध थे। अरबी विद्वानों ने ग्रीस-देशीय दर्शन, जैसे प्लैटो (= अफ़लातून) और अरिस्टाटिल (= अरस्तू) की पुस्तकें, ग्रीस-देशीय वैद्यकशास्त्र और गणित-

पाँचवाँ परिच्छेद

भाषा की परिवर्तन-शीलता

१—समय-भेद से भाषा में भेद

भाषा की परिवर्तन-शीलता का उल्लेख इस पुस्तक में कई जगह किया जा चुका है और आगे भी किया जायगा। एक साधारण मनुष्य भाषा की परिवर्तन-शीलता को ठीक ठीक अनुभव नहीं करता। जिस भाषा को वह स्वयं बचपन से लेकर बुढ़ापे तक बोलता है उसी को दूसरे लोग बच्चों से बूढ़ों तक बोलते हुए दीखते हैं। इसलिये वह यही समझता है कि उसकी भाषा उसी रूप में स्थिर है और आगे भी रहेगी। अपने आसपास के लोगों की भाषा में अपनी भाषा की समानताओं के साथ साथ विशेषताओं को देखकर भी वह उन विशेषताओं के कारण की खोज में प्रवृत्त नहीं होता। वह उन स्थानीय रूपों को भी स्थिर और परिवर्तन न होने वाला ही मान लेता है।

वस्तुतः किसी भाषा की एकता का आधार उसकी अविच्छिन्न परम्परा पर ही होता है। इसी के कारण एक पीढ़ी

शास्त्र इनके अध्ययनाध्यापन को विशेषकर जारी रक्खा। यूरोप में अरब जाति के इन दिनों के राजनैतिक तथा विद्या-संबन्धी प्राधान्य का ही यह फल है कि वहाँ की भाषाओं में अनेक अरबी शब्द पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी भाषा में ही लीजिये, निम्न-लिखित शब्द कोष्ठक में दिये हुए अरबी शब्दों से लिये गये हैं:—

algebra (अल्जब्र), cipher (सिफ़्र), alchemy (अल्कीमिया), tamarind = इमली (तमरहिंद),alkali = क्षार (अल्क़ली), alcohol = ख़ालिस शराब (अल्-कोह्ल = अत्यन्त बारीक), amber (अम्बर), cotton (क़ुतुन), coffee (क़ह्वह), saffron (ज़ाफ़ान)

इत्यादि शब्द उन दिनों अरब लोगों की विद्या, अर्थ और ऐश्वर्य की समृद्धि के द्योतक हैं। इसी प्रकार admiral (अमीर-उल्-बह्र = समुद्र का राजा), arsenal (दार उस्सि-नाअह = शिल्पगृह) शब्दों से युद्ध में उन दिनों उनकी प्रधानता झलकती है।

उत्तरीय भारतवर्ष की भाषाओं में और विशेषकर उर्दू या हिन्दुस्तानी भाषा में तो अरबी शब्दों की संख्या बहुत ही अधिक है। मज़हब से संबन्ध रखने वाले अरबी शब्दों के अतिरिक्त, भारतवर्ष में स्वाभाविकतया प्रचलित अरबी शब्दों का संबन्ध राज्य-शासन और युद्ध से अधिकतया है। हिन्दुस्तानी में विशेषतः और दूसरी उत्तरीय भारतवर्ष की

की भाषा को दूसरी पीढ़ी सीखकर बोलती है। परन्तु भाषा की इस प्रकार अविच्छिन्न धारा के होने पर भी यह नहीं समझना चाहिये कि वह ज्यों की त्यों एक ही रूप में रहती है। जैसे नदी की धारा अविच्छिन्न होने पर भी आगे बढ़ने के साथ साथ बदलती जाती है, इसी प्रकार भाषा की परम्परा एक रहने पर भी धीरे धीरे अस्पष्ट रूप से बदलती जाती है। कालान्तर में वही भाषा इतनी परिवर्तित हो जाती है कि उसके एक रूप को जानने वाला उसके दूसरे रूप को आसानी से नहीं समझ सकता। कालान्तर में इतना बड़ा भेद एकाएक नहीं हो जाता। उसको समझने के लिये हमें यही कहना पड़ता है कि भाषा परिवर्तन-शील है, अर्थात् उसमें थोड़ा थोड़ा परिवर्तन सदा ही होता रहता है। अतः इस परिवर्तन-शीलता को ठीक ठीक समझने के लिये किसी भाषा के समय-भेद से होनेवाले भिन्न भिन्न रूपों की परस्पर तुलना करना आवश्यक है। किसी भाषा के एक ही रूप को देखकर उसकी परिवर्तन-शीलता समझ में नहीं आ सकती।

२—भाषा की परिवर्तन-शीलता और प्राचीन परिष्कृत भाषायें

ऊपर एक साधारण मनुष्य की इस दृष्टि का वर्णन किया है कि भाषा में परिवर्तन नहीं होता और वह एक ही रूप में स्थिर रहती है। साधारण मनुष्य की इस दृष्टि का कारण उसका

भाषाओं में सामान्यतः प्रचलित कुछ अरबी शब्द नीचे दिये जाते हैं :—

अदालत, क़ानून, मुद्दई, मुद्दाअलह, दावा, शहादत, वकील, मुंसरिम, तहसील, मुंसिफ़, मुक़द्दमा, फ़ैसला, हाकिम, हुक्म, ज़ुल्म, ज़ालिम, क़त्ल, क़ातिल, इज़्ज़त, इजाज़त, वक़्त, इलाज, हकीम, राज़ी, क़िस्मत, तक़दीर, मतलब, तारीख़, साहिब, बिलकुल, लेकिन (अरबी 'लाकिन'), हिसाब, किताब, जमअ, तफ़रीक़, तक़सीम, ज़रब, अव्वल, दुआ, तोबह (अर० 'तौबह'), क़बूल, ख़ैरात, मसजिद, क़ब्र, इबादत, जमाअत, जल्सा, तक़रीर, एतबार, कुल (= समस्त), ख़ैर, ग़ौर, जाल = फ़रेब (= अरबी 'जअल'), हाल।

(४) सीरिऐक भाषा। सीरिया देश की एक प्राचीन भाषा जिसमें ईसाई धर्म के पुराने दिनों का साहित्य पाया जाता है सीरिऐक नाम से प्रसिद्ध है। २०० ईस्वी के लगभग बाइबिल के 'प्राचीनविधान' (Old Testament) का हिब्रू से और 'नवविधान' (New Testament) का ग्रीक भाषा से अनुवाद इस भाषा में किया गया था जो आज तक वर्त्तमान है। इसके अतिरिक्त और भी ईसाई धर्म से संबन्ध रखने वाला पुराना साहित्य इस भाषा में मिलता है। कुर्दिस्तान और मेसोपोटामिया के कुछ भाग में बहुत विकृत रूप में यह अब भी बोली जाती है।

उस भाषा के भिन्न भिन्न रूपों से अपरिचय ही होता है। परन्तु भाषा के भिन्न भिन्न रूपों से परिचय रखने वाले शिक्षित मनुष्यों में भी यह भ्रम कुछ अंशों में पाया जाता है। संस्कृत, अरबी, लैटिन आदि प्राचीन परिष्कृत भाषाओं को पढ़ने वाले प्रायः ऐसा समझते हैं कि यद्यपि हिन्दी आदि भाषायें परिवर्तन-शील हैं तो भी संस्कृत आदि भाषायें शाश्वत अर्थात् सदा से एक ही रूप में स्थिर हैं।

साहित्यिक भाषा का सामान्य विचार हम ऊपर कर चुके हैं। प्राचीन परिष्कृत या उत्कृष्ट भाषा से आशय ऐसी प्राचीन साहित्य-सम्पन्न भाषा से है जो अपने व्याकरण और लिखितवर्णानुपूर्वी (या हिज्जों) के नियमों से बद्ध होने के कारण चिर-काल तक एक रूप में स्थिर रह सकती है। उच्च कोटि के साहित्य से सम्पन्न होना ऐसी भाषा के लिये आवश्यक है। उसकी स्थिरता का मुख्य कारण भी यही होता है। उपर्युक्त अंशों में बहुत कुछ स्थिरता होने पर भी प्राचीन परिष्कृत भाषाओं के विषय में नीचे लिखी बातों का ध्यान रखना चाहिये।

(क) प्राचीन परिष्कृत भाषाओं के व्याकरण और वर्ण-विन्यास में चाहे परिवर्तन न हो तो भी उनके उच्चारण में परिवर्तन कालान्तर में हो ही जाता है। यदि आज-कल एक ऐसी भाषा का भिन्न भिन्न प्रकार से उच्चारण किया जाता है तो यह स्पष्ट है कि वे सब उच्चारण उसके असली या प्राचीन उच्चा-

८—सेमिटिक भाषा-परिवार का महत्त्व और मुख्य विशेषतायें

महत्त्व। भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार को छोड़कर सेमिटिक भाषा-परिवार का महत्त्व और सब भाषा-परिवारों से कई बातों की दृष्टि से अधिक माना जा सकता है। इन भाषाओं को बोलने वाली जातियों ने, भारत-यूरोपीय आर्य-जातियों की तरह, दुनियाँ की सभ्यता के विकास में बड़ा भाग लिया है। संसार के बड़े धर्मों में से इस्लाम और ईसाई इन दो धर्मों की उत्पत्ति इन्हीं जातियों में हुई। ईसाई धर्म का विस्तार तो आर्य-जातियों में ही हुआ है। सेमिटिक भाषाओं में लिखी गई इन धर्मों की धर्म-पुस्तकों को इन भाषाओं की स्थिर संपत्ति समझना चाहिये। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी इनका बड़ा महत्त्व है। अपनी रचना की विशेषताओं के कारण यह भाषा-परिवार संसार के समस्त भाषा-परिवारों से इतना भिन्न है जितना उनमें से परस्पर कोई नहीं है।

मुख्य विशेषतायें। जैसा ऊपर कहा है, समस्त सेमिटिक भाषाओं की बड़ी भारी विशेषता यह है कि इनमें धातुयें कम से कम तीन वर्णों की होती हैं। दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि धातुओं के रूप चलाने में या धातुओं से शब्दों के बनाने में प्रत्ययों के सदृश दूसरे अंशों को आगे जोड़ने की

रण नहीं हो सकते। उदाहरणार्थ, संस्कृत को बङ्गाली, मराठे, पञ्जाबी आदि लोग भिन्न भिन्न प्रकार से उच्चारण करते हैं। उन सबका उच्चारण शुद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार आज-कल अनेक पण्डित 'ष' को 'ख', 'य' को 'ज', 'ज्ञ' को 'ग्य' उच्चारण करते हैं। संस्कृत में प्राचीन उच्चारण के निर्णय करने के लिये प्रातिशाख्य, शिक्षा आदि अनेक प्राचीन साधन हैं। परन्तु अन्य भाषाओं में प्राचीन शुद्ध उच्चारण क्या था, इसका पता लगाना प्रायः कठिन होता है।

(ख) दूसरी बात प्राचीन परिष्कृत भाषाओं के विषय में यह ध्यान में रखनी चाहिये कि यद्यपि वे अपने स्वरूप में चिर-काल से स्थिर हैं वे सदा से ही इस रूप में नहीं रही हैं। प्रत्येक प्राचीन साहित्यिक भाषा का प्रारम्भ किसी न किसी रोज़-मर्रा की सर्व-साधारण की भाषा (अथवा 'प्राकृतभाषा') से हो हुआ है। जहाँ उसकी मूल-भूत वह सर्व-साधारण की भाषा अविच्छिन्न-प्रवाहिणी नदी के सदृश परिवर्तन के स्वाभाविक नियमों के अनुसार बदलते बदलते आज-कल की सर्व-साधारण की भाषा के रूप को प्राप्त हो गई है, वहाँ उसका उस समय का परिष्कृत (अथवा 'संस्कृत') रूप कृत्रिम सरोवर के सदृश व्याकरण और साहित्य के प्रभाव से अपने एक रूप में ही स्थिर है। उसकी कृत्रिम स्थिरता से सर्व-साधारण की भाषा की परिवर्तन-शीलता में कोई कमी नहीं आती।

सामान्यतः आवश्यकता नहीं होती—केवल धातुओं के अन्दर स्वरों के भेद से ही काम चल जाता है। नीचे लिखे उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा :—

ज़्-ल्-म् = ज़ुल्म करना

ज़ालिम, ज़ुल्म, मज़लूम = जिस पर अत्याचार किया जावे, अज़लम = अत्यन्त ज़ालिम।

क़्-त्-ल् = हनन करना

क़त्ल, क़ातिल, मक़्तूल या क़तील = जिसको क़त्ल किया जाय, क़तल = उसने क़त्ल किया, मक़्तल = क़त्ल करने का स्थान, क़िताल = युद्ध।

ह्-स्-ब् = हिसाब करना

हिसाब, हासिब = हिसाब करने वाला, महसूब = जिसका हिसाब किया जाय, हसीब = हिसाब का फल, हस्ब = अनुसार या मुताबिक़, हसब = उसने हिसाब किया।

क्-त्-ब् = लिखना

कतब = उसने लिखा, किताब = पुस्तक, मक्तूब = लिखी हुई चीज़, कातिब = लिखने वाला, मक्तब = लिखने का स्थान।

इसके विरुद्ध, भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार की धातुओं की अधिक संख्या में दो से अधिक व्यञ्जन नहीं पाये जाते। और यदि दो से अधिक व्यञ्जन हों तो भी सामान्यतः सेमिटिक भाषाओं की रीति से धातु के अन्दर केवल स्वरों के भेद से, प्रत्यय को जोड़े बिना, शब्दों को नहीं बनाया जाता।

(ग) एक तीसरी बात इस सम्बन्ध में और भी कहनी है। साधारण पढ़े लिखे मनुष्यों में यह भ्रम पाया जाता है कि वे आधुनिक हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं को प्राचीन साहित्यिक संस्कृत से निकला हुआ समझते हैं[1]। इसी तरह फ़्रेञ्च, स्पैनिश आदि भाषाओं को प्राचीन साहित्य की लैटिन भाषा से निकला हुआ समझा जाता है। यही नहीं, भाषा-विज्ञान की पुस्तकों में भी प्रायः ऐसा लिखने में आता है। परन्तु वास्तव में कोई सर्व-साधारण की भाषा प्राचीन परिष्कृत भाषा से नहीं निकली है। उसका निकास प्राचीन सर्व-साधारण की भाषा से ही समझना चाहिये। आज-कल की बोल-चाल की भाषा की अविच्छिन्न परम्परा प्राचीन बोल-चाल की ही भाषा से हो सकती है, न कि प्राचीन साहित्यिक भाषा से। सर्व-साधारण की भाषा में ही स्वाभाविक जीवन और उन्नति की योग्यता रह सकती है। साहित्यिक भाषा में कृत्रिमता के कारण यह योग्यता नहीं रहती। ऐसा होने पर भी भाषा-विज्ञान की पुस्तकों में—हिन्दी आदि संस्कृत आदि से निकली हैं—ऐसा कहने का कारण यही होता है कि आज-कल की भाषाओं का वास्तविक प्राचीन स्वरूप न मिलने के कारण जो कुछ वह प्राचीन स्वरूप प्राचीन साहित्यिक भाषाओं में पाया जाता है उसी से काम लिया

---

१ तु० —"संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः। तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेकः प्राकृतक्रमः ॥" (काव्यादर्श १ । ३३)।

९—हैमिटिक भाषा-परिवार

इस भाषा-परिवार का जो कुछ महत्त्व है वह मिश्र देश की प्राचीन भाषा से सम्बन्ध रखने के कारण है। मिश्र संसार की एक अति प्राचीन ऐतिहासिक सभ्यता का स्थान है। प्राचीन मिश्री भाषा का पुनरुद्धार विद्वानों ने प्राचीन लेखों के आधार पर पिछली शताब्दी में ही किया है। इससे पहिले लगभग दो हज़ार वर्षों से कोई इसको जानता ही न था। प्राचीन मिश्री भाषा एक प्रकार के चित्रमय अक्षरों में अंकित प्राचीन लेखों में पाई जाती है। इस प्राचीन मिश्री भाषा के पुनरुद्धार में बड़ी सहायता उससे निकली हुई काप्टिक भाषा से मिली। काप्टिक भाषा मिश्र देश में कुछ सदियों पहिले तक बोली जाती थी। इसमें ईसाई धर्म से सम्बन्ध रखने वाला कुछ साहित्य भी है। अरबी भाषा के प्रभाव से काप्टिक भाषा सत्रहवीं शताब्दी से सर्व-साधारण की भाषा के रूप से नष्ट हो गई।

इस भाषा-परिवार को मुख्य तीन विभागों में बाँटा जा सकता है:—(१) प्राचीन मिश्री भाषा और उससे निकली हुई काप्टिक भाषा जो स्वयं कई सदियों से बोली नहीं जाती है; (२) उत्तरीय अफ़्रीका की लिबियन या बर्बर नाम की बोलियाँ; और (३) पूर्वीय अफ़्रीका की एथियोपिक या ऐबिसिनियन नाम की बोलियाँ।

जावे। भाषा की परिवर्तनशीलता दिखाने के लिये समय-भेद से उसके भिन्न भिन्न रूपों को दिखलाना आवश्यक है, यह हम ऊपर कह चुके हैं। इसलिये—संस्कृत आदि से हिन्दी आदि निकली हैं—ऐसा न कहकर वास्तव में तो हमें यही कहना चाहिये कि संस्कृत आदि साहित्यिक भाषाओं के समय की सर्व-साधारण की भाषाओं से आजकल की सर्व-साधारण की हिन्दी आदि भाषायें निकली हैं।

यहाँ यह स्मरण रहे कि इस स्थान में हम संस्कृत आदि शब्दों का प्रयोग साहित्यिक भाषाओं के लिये ही कर रहे हैं। उस समय की बोल-चाल की भाषा को हम संस्कृत आदि नाम न देकर केवल सर्व-साधारण की भाषा (या 'प्राकृत भाषा') ही कहते हैं। अनेक लोग ऐसा नहीं समझते; वे संस्कृत, लैटिन आदि शब्दों का प्रयोग उस उस समय की साहित्यिक और सर्व-साधारण की भाषा दोनों के लिये समान रूप से करते हैं। इस आशय में—संस्कृत आदि से हिन्दी आदि का निकास हुआ है—ऐसा कहने में हमें कोई आपत्ति नहीं। केवल आवश्यकता इस बात की है कि कहने वाले को उपर्युक्त भ्रम न हो।

वास्तव में कोई सर्व-साधारण की भाषा प्राचीन परिष्कृत भाषा से नहीं निकली है, उसका निकास प्राचीन सर्व-साधारण की भाषा से ही समझना चाहिये—ऐसा कहने से

इस परिवार की आधुनिक बोलियों पर सेमिटिक ढंग की बोलियों का बहुत अधिक प्रभाव पाया जाता है। ऐसे ही कारणों से अभी तक इस प्रश्न का पूरा निर्णय नहीं हो सका है कि कदाचित् अन्ततः इस परिवार का सेमिटिक भाषा-परिवार से पारिवारिक सम्बन्ध ही हो।

१०—यूराल-ऐल्टेइक या तुर्की-सम्बन्धी भाषा-परिवार

भाषा-विज्ञान के प्रारम्भ के दिनों में भाषा-विज्ञानियों ने भारत-यूरोपीय और सेमिटिक भाषा-परिवारों के अतिरिक्त एक तीसरे भाषा-परिवार के भेद को भी दिखलाया था, जिसको उन्होंने तूरानी भाषा-परिवार का नाम दिया था। उसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण तुर्की भाषा थी। परन्तु तुर्की भाषा के साथ साथ उस परिवार में चीनी आदि बहुत-सी ऐसी भाषायें भी सम्मिलित कर ली गई थीं जिनका वस्तुतः तुर्की से कोई पारिवारिक सम्बन्ध नहीं था। 'तूरान' और 'ईरान' शब्दों के ऐतिहासिक साहचर्य के प्रसिद्ध होने से, जिस तरह उन दिनों भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार को 'आर्य-भाषा-परिवार' का नाम दिया गया, इसी तरह तुर्की-सम्बन्धी भाषा-परिवार के लिये भी 'तूरानी' शब्द बहुत उचित समझा गया। परन्तु कुछ और अधिक छान-बीन से यह प्रतीत हुआ कि तुर्की भाषा उस बड़े भाषा-परिवार से सम्बन्ध रखती है

हमारा यह अभिप्राय कभी नहीं कि सर्व-साधारण की भाषा पर परिष्कृत भाषा का प्रभाव नहीं पड़ता। जैसे परिष्कृत भाषाओं पर सर्व-साधारण की भाषा का प्रभाव पड़ सकता है, इसी तरह सर्व-साधारण की भाषा पर परिष्कृत भाषा का भी प्रभाव पड़ सकता है। हिन्दी में सहस्रों तत्सम (= संस्कृत के सदृश) शब्द पाये जाते हैं। आज-कल इनकी संख्या प्रतिदिन बढ़ रही है। यही दशा और और अनेक आधुनिक भाषाओं की है। इससे यह स्पष्ट है कि सर्व-साधारण की भाषा पर प्राचीन परिष्कृत भाषा का बहुत कुछ प्रभाव पड़ सकता है।

किसी भाषा के पूरे जीवन में, जो स्वाभाविक अवस्था में केवल सर्व-साधारण की भाषा में ही पाया जाता है, साहित्यिक भाषा केवल एक अवस्था-विशेष को दिखलाती है। उससे सर्व-साधारण की भाषा की गति रुक नहीं जाती; वह आगे बढ़ती ही रहती है और कालान्तर में दूसरी साहित्यिक भाषा के जन्म का कारण होती है। इसलिये एक जाति की भाषा के इतिहास में समय समय पर भिन्न भिन्न साहित्यिक भाषायें देखी जाती हैं। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष की आर्य-भाषा के इतिहास में वैदिक भाषा, संस्कृत भाषा, पालि भाषा, प्राकृत भाषा और आज-कल की साहित्य की हिन्दी, बँगला आदि अनेक साहित्यक भाषायें पाई जाती हैं।

जिसमें मध्य और उत्तरीय एशिया की अधिकतर भाषायें और यूरोप की फ़िनिश (=फ़िनलैंड की भाषा), लैप (=लैपलैंड की भाषा), एस्थोनियन (=एस्थोनिया की भाषा) और मैग्यर (=हंगरी की भाषा) भाषायें संमिलित हैं। उस समय से इस परिवार के लिये 'तूरानी' शब्द को छोड़कर उसके स्थान में भौगोलिक यूराल-ऐल्टेइक शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। इस नाम के रखने का कारण यह है कि विद्वानों की संमति में इस परिवार का मुख्य स्थान यूराल और ऐल्टेइ पर्वतों के मध्य का प्रदेश ही था। वहाँ से पीछे से इस परिवार की भाषायें और स्थानों में फैली हैं।

इस परिवार की सारी भाषाओं की रचना योगात्मक है। तुर्की भाषा की रचना उन सबमें अत्यधिक स्पष्ट है; इसको उदाहरण द्वारा ऊपर दिखलाया जा चुका है। टर्की, फ़िन-लैण्ड और हंगरी के आधुनिक साहित्य का कोई ऊँचा स्थान नहीं है। मध्य-काल में उइगुर (=इसी परिवार की एक भाषा) और तुर्की ये भाषायें साहित्य के काम में लाई जाती थीं। बाबर ने 'तुज़कि-बाबरी' नामक पुस्तक में अपना वृत्तान्त तुर्की भाषा में ही लिखा है।

तुर्की भाषा में अरबी और फ़ारसी के शब्दों की बड़ी भारी संख्या पाई जाती है। फ़ारसी भाषा में भी बहुत-से तुर्की शब्द आ गये हैं। फ़ारसी के द्वारा कुछ तुर्की शब्द ज्यों के त्यों या कुछ परिवर्तित होकर उर्दू में भी आ गये हैं; जैसे :—

३—भाषा की परिवर्तन-शीलता में भारतीय आर्य-भाषाओं का उदाहरण

सर्व-साधारण की भाषा और प्राचीन परिष्कृत साहित्यिक भाषाओं के सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए और यह समझते हुए कि प्राचीन काल की सर्व-साधारण की भाषा के स्वरूप को थोड़ा-बहुत समझने का साधन प्राचीन लेख ही, जिनमें साहित्यिक भाषा भी सम्मिलित है, हो सकते हैं, यह कहा जा सकता है कि किसी भाषा की परिवर्तन-शीलता को ठीक ठीक समझने के लिये प्राचीन लेखों से बड़ी सहायता मिलती है। किसी भाषा के ऐतिहासिक विकास को समझने के लिये वस्तुतः यही मुख्य साधन है। किसी जाति के इतिहास के भिन्न भिन्न समयों के प्राचीन लेखों को देखने से यह बात तुरन्त स्पष्ट हो जावेगी कि भाषा में अनेक तरह के परिवर्तन धीरे धीरे होते रहते हैं। व्याकरण, वाक्य-विन्यास, शब्दों का स्वरूप, शब्दों का अर्थ बहुत कुछ बदल जाता है। पिछले शब्द प्रयोग में आने बन्द हो जाते हैं। नये शब्द या तो उसी भाषा के आधार पर बनाये जाकर या दूसरी भाषाओं से लिये जाकर प्रयोग में आने लगते हैं। उदाहरणार्थ, यदि हम

(१) ऋग्वेद की एक ऋचा को,

(२) किसी ब्राह्मण ग्रन्थ के एक वाक्य को,

बेगम, ख़ान, चाकू, कैंची, उर्दू, मुग़ल, तोप, तमग़ा, चकमक, चोग़ा, कलाबत्तू (=तु० कलाबतून), क़मची (=छड़ी), क़ाबू।

११—द्राविड भाषा-परिवार

ब्राहुई भाषा को छोड़कर, जिसका वर्णन हम आगे करेंगे, द्राविड परिवार की भाषायें सिवाय दक्षिण भारत के और कहीं नहीं पाई जातीं। इस परिवार की सबसे मुख्य भाषायें **तामिल, तेलुगु, कनारी** और **मलयालम** हैं। इसी परिवार की कुछ बोलियाँ द्राविड प्रदेश की उत्तरीय सीमा के आस-पास भी पाई जाती हैं। कहीं कहीं मध्यभारत के पहाड़ी प्रदेश में द्राविड बोलियों के छोटे-मोटे अवशिष्ट चिह्न पाये जाते हैं; परन्तु रेल आदि के द्वारा गमनागमन में सरलता के बढ़ने तथा शिक्षा के फैलने से ये धीरे धीरे मिटते जा रहे हैं।

द्राविड भाषाओं में से केवल तामिल में अपना अच्छा ख़ासा साहित्य वर्तमान है। कविता के विषय को छोड़कर, जिसमें इस भाषा ने स्वतन्त्र उन्नति की है, और तामिल साहित्य संस्कृत साहित्य के आधार पर बना है और उसीके भावों से भरा पड़ा है।

द्राविड भाषाओं की कुछ विशेषतायें ये हैं :—(१) घोष और अघोष वर्णों के भेद की अस्पष्टता की ओर झुकाव, (२) मूर्धन्य वर्णों का अधिक प्राधान्य, (३) शब्द-रचना की

(३) वाल्मीकि-रामायण के एक श्लोक को,

(४) धम्मपद के एक पद को,

(५) किसी संस्कृत नाटक की एक प्राकृत गाथा को,

(६) रामचरितमानस की एक चौपाई को, और

(७) मैथिलीशरण गुप्त के एक पद्य को

लेकर उनकी भाषा की तुलना करें तो यह तुरन्त स्पष्ट हो जावेगा कि समय-भेद से भारतवर्ष में आर्य-जाति की भाषा में कितने परिवर्तन होते रहे हैं।

भारतवर्ष में आर्य-जाति की भाषा के इतिहास को मोटी रीति से **प्राचीन**, **मध्यम** और **आधुनिक** इन तीन समयों में बाँटा जा सकता है। ऊपर गिनाई गई सात अवस्थाओं में से प्रथम तीन का समावेश **प्राचीन-कालीन भाषा** में हो सकता है। अगली दो का अर्थात् चौथी और पाँचवीं का **मध्यम-कालीन भाषा** में, और अन्तिम दो का **आधुनिक भाषा** में समावेश हो सकता है।

प्राचीन-कालीन भाषा का स्वरूप संश्लेषणात्मक था, अर्थात् उसमें आज-कल की हिन्दी आदि की तरह विभक्तियों का प्रयोग शब्दों से पृथक् नहीं किया जाता था। इसको उदाहरण द्वारा ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। उच्चारण के विषय में, अनेक व्यञ्जनों के क्लिष्ट संयोगों के उच्चारण में कोई असुविधा अनुभव नहीं की जाती थी।

योगात्मकता, और (४) बड़े बड़े समासों के बनाने में सरलता।

द्राविड भाषाओं ने साहित्य की संस्कृत और उत्तर भारत की आर्य-भाषाओं पर कहाँ तक प्रभाव डाला है? यह एक बड़ा रोचक और आवश्यक प्रश्न है। इस प्रभाव के पोषक कई कारण हो सकते हैं। पिछले काल के संस्कृत साहित्य का एक बड़ा भाग दक्षिण भारत में उन लोगों द्वारा लिखा गया जिनकी मातृभाषा द्राविड भाषाओं में से एक थी। इसके अतिरिक्त, द्राविड बोलियाँ आजकल की अपेक्षा पहिले अधिक उत्तर में बोली जाती थीं, इस कल्पना की पुष्टि में भी कुछ कारण पाये जाते हैं। मध्यभारत के पहाड़ी प्रदेश में कहीं कहीं द्राविड भाषाओं के चिह्न पाये जाते हैं, इससे भी यही सिद्ध होता है। संस्कृत-कोशों में अनेक शब्द ऐसे मिलते हैं जिनका ईरानी भाषा के या भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार की किसी अन्य भाषा के शब्दों के साथ कोई स्पष्ट संबन्ध नहीं दीखता। वस्तुतः उनके विषय में यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि वे आर्य शब्द हैं। इसी तरह प्राकृत भाषाओं में तथा आधुनिक हिन्दी आदि भाषाओं में भी अनेकानेक शब्द ऐसे पाये जाते हैं जिनका संस्कृत या संस्कृत-संबन्धी दूसरी भाषाओं से कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। ऐसे शब्दों के लिये पारिभाषिक शब्द 'देश्य', 'देशज' या 'देशी' है। ऐसे शब्दों के विषय में, विशेषकर जब कि वे अधिकतर द्राविड

मध्यम-कालीन भाषा का भी स्वरूप संश्लेषणात्मक ही था। तो भी व्याकरण में बहुत कुछ सरलता आ गई थी। प्रातिपदिक और धातुओं के रूपों में बहुत कुछ कमी आ गई थी। बड़ा भारी भेद उच्चारण में आ गया था। व्यञ्जनों के क्लिष्ट संयोगों को या तो सरल संयोगों में बदल दिया गया था, या उनके स्थान में एक ही व्यञ्जन उच्चारण किया जाने लगा था। उदाहरणार्थ, पालि में 'धर्म' के स्थान में 'धम्म', 'मृत्यु' के स्थान में 'मच्चु', 'भैषज्य' के स्थान में 'भेसज्ज' बोला जाता था। इसी प्रकार 'स्थगयति' के स्थान में 'थकेति', 'श्लक्ष्ण' के लिये 'सण्ह' और 'पार्ष्णि' के लिये 'पण्हि' बोला जाता था। संयोगों के विरुद्ध प्रवृत्ति प्राकृत भाषा में तो यहाँ तक बढ़ती गई कि अनेक व्यञ्जनों वाले प्राचीन शब्दों में एक दो व्यञ्जन भी मुश्किल से ही शेष रहे, और प्रायः शब्दों का स्वरूप केवल स्वरमय हो गया। उदाहरणार्थ,

संस्कृत	प्राकृत
यदि	जइ (या जदि)
आर्यपुत्र	अज्जउत्त
प्रकाशयति	पआसेइ
आगतम्	आअदं (या आगदं)
सकल	सअल

भाषाओं में पाये जावें, यह निर्णय करना कठिन हो सकता है कि (१) वे वस्तुतः आर्य-शब्द हैं; और यद्यपि वे संस्कृत या दूसरी भारतीय आर्य-भाषाओं को छोड़कर किसी और आर्य- (या भारत-यूरोपीय परिवार की) भाषा में नहीं पाये जाते तो भी द्राविड भाषाओं में वे उद्धृत किये हुए ही शब्द हैं; या (२) वस्तुतः वे द्राविड शब्द हैं और द्राविड भाषाओं से संस्कृत आदि भारतीय आर्य-भाषाओं में ले लिये गये हैं।

इस प्रश्न के निर्णय करने के लिये द्राविड भाषाओं के इतिहास के ज्ञान की आवश्यकता है। अभी तक इसके विषय में बहुत थोड़ा काम किया गया है।

द्राविड भाषाओं के विद्वान् महाशय कैल्डवेल (R. Caldwell) के मतानुसार[1] नीचे दिये हुए संस्कृत शब्द मूल में द्राविड भाषाओं से लिये हुए हैं :—

अक्का = माता

अटवी = जङ्गल

आलि = सखी (तेलुगु 'आलु' = स्त्री)

नीर = जल

पट्टन = शहर

पल्ली = एक छोटा ग्राम

मीन = मछली

---

१ देखो :—*A Comparative Grammar of the Dravidian Languages* (१८५६), पृष्ठ ४३९—४४८

आधुनिक भाषाओं में पुरानी संश्लेषणात्मकता के स्थान में विश्लेषणात्मकता बहुत कुछ देखी जाती है। व्याकरण, वाक्य-विन्यास आदि सब कुछ बिलकुल बदल गया है। सैकड़ों नहीं, सहस्रों दूसरी भाषाओं के शब्द आकर सम्मिलित हो गये हैं।

भाषा की परिवर्तन-शीलता का यह थोड़ा थोड़ा नमूना उपर्युक्त तीनों समयों की भाषाओं में दिखला दिया गया है। परन्तु वास्तव में भाषा की परिवर्तन-शीलता भाषा की प्रत्येक अवस्था में पाई जाती है। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में आर्य-जाति की प्राचीन-कालीन भाषा की उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं में परस्पर बड़ा अन्तर पाया जाता है। संस्कृत भाषा का सबसे पहिला स्वरूप हमको ऋग्वेद में मिलता है। अनेक विद्वान् वेदों की भाषा को संस्कृत नाम न देकर वैदिक भाषा ही कहते हैं। कालिदास आदि के ग्रन्थों की भाषा को ही वे संस्कृत कहते हैं। भारतवर्ष में प्रायः वैदिक भाषा को 'वैदिक संस्कृत' और पिछली संस्कृत को 'लौकिक संस्कृत' कहा जाता है[1]। वैदिक भाषा के अन्दर भी अनेक विद्वानों

---

१ संस्कृत भाषा के लिये 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग प्राचीन समय में नहीं होता था। पाणिनीय व्याकरण तथा निरुक्त में "पूर्वं तु भाषायाम्" (अष्टाध्यायी ८। २। ९८), "नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायामुभ-

१२—द्राविड परिवार से सम्बन्ध रखने वाली ब्राहुई भाषा

ऊपर कहा है कि ब्राहुई भाषा को छोड़कर और सारी द्राविड भाषायें केवल दक्षिण भारत में ही पाई जाती हैं। ब्राहुई भाषा क्वेटा के समीप छोटे-से पहाड़ी प्रदेश में बोली जाती है। इसको बोलने वाले अपनी चारों ओर के ईरानी बोलियों को बोलने वाले लोगों के साथ शरीर की बनावट के ढंग में बिल्कुल मिलते-जुलते हैं। इस भाषा में बहुत-से ईरानी और उर्दू भाषा के शब्द आ गये हैं। इसका व्याकरण भी शुद्ध अपने ढंग का न रहकर मिला-जुला हो गया है। परन्तु इसकी रचना की विवेचना से यह सिद्ध होता है कि यह किसी द्राविड भाषा से ही निकली है।

द्राविड भाषाओं के साथ रचना की समानता के होने पर भी, आज-कल उनके साथ इसका कोई दैशिक संबन्ध न होने से, और इसके बोलने वालों की दैहिक आकृति अन्य ईरानी-भाषा-भाषियों से किसी प्रकार भिन्न न होने से, भाषा-विज्ञानियों और मनुष्य-जाति-विज्ञानियों को इस भाषा की समस्या ने चक्कर में डाल दिया है। इसके विषय में विद्वानों ने भिन्न भिन्न समाधान दिये हैं। वे ये हैं :—

द्राविड भाषायें किसी समय आज-कल की अपेक्षा उत्तर-पश्चिम में अधिक ऊपर तक, और संभवतः समस्त पश्चिमीय समुद्र-तट पर, बोली जाती थीं। ब्राहुई भाषा उनका

के मत में कई अवस्थायें पाई जाती हैं; परन्तु यहाँ हम उनका वर्णन न करेंगे। वैदिक भाषा का अन्तिम स्वरूप जो संस्कृत से बहुत कुछ मिलता-जुलता है ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता है। उनकी भाषा वैदिक भाषा और संस्कृत इन दोनों के बीच की दशा में है। ऋग्वेद की भाषा की तुलना यदि हम पिछली (या लौकिक) संस्कृत भाषा से करें तो बड़ा भेद दिखलाई देगा। अनेक बातें जो ऋग्वेद की भाषा में देखी जाती हैं उनका पिछली संस्कृत में पता भी नहीं। ऋग्वेदीय भाषा की कुछ मुख्य मुख्य विशेषतायें यहाँ दिखलाई जाती हैं।

प्रातिपदिक और धातुओं के रूपों की बहुतायत तथा अन्य प्रकार से बने हुए शब्दों के रूपों की विभिन्नता जितनी ऋग्वेदीय भाषा में देखी जाती है उतनी पिछली संस्कृत में नहीं। प्रातिपदिकों की विभक्तियों के रूपों की बहुलता के उदाहरण ये हैं :—

यमन्वध्यायम्" (निरुक्त १।४) इत्यादि स्थलों में लौकिक संस्कृत के लिये 'भाषा' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। यहाँ 'भाषा' शब्द का अर्थ स्पष्टतः 'बोलने की भाषा' है। व्याकरण-महाभाष्य में "केषां शब्दानाम्। लौकिकानां वैदिकानां च" (प्रथम आह्निक के प्रारम्भ में) इत्यादि स्थलों में 'वैदिक' तथा 'लौकिक' शब्दों से वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत का ही अभिप्राय है।

ही एक टुकड़ा शेष रह गया है। उसको चारों ओर से ईरानी बोलियों ने घेर लिया, और बीच के शेष भाग पर आर्य-भाषाओं ने अधिकार जमा लिया।

यह भी कहा जाता है कि भारत में आने वाली आर्य, शक, हूण, पठान, मुग़ल आदि जातियों के सदृश द्राविड लोग भी भारत में उत्तर-पश्चिम की ओर से आये थे। हो सकता है, आते समय वे अपनी एक छोटी-सी बस्ती मार्ग में छोड़ते आये हों। ब्राहुई बोलने वाले उसी बस्ती में से हो सकते हैं।

तीसरा समाधान यह है कि द्राविड लोग बड़े प्राचीन काल से पश्चिमीय समुद्र-तट पर व्यापार करते थे। इसी कारण उन्होंने सिन्धु नदी के निचले भाग के आस-पास कहीं पर अच्छी बड़ी बस्ती बसाई होगी। पीछे से उस बस्ती के साथ उनका संबन्ध टूट गया। जो लोग वहाँ बचे वे आत्म-रक्षार्थ पहाड़ियों में चले गये; और उन्हों ने किसी प्रकार अपनी प्राचीन भाषा को जीवित रक्खा। तो भी अन्तर्जातीय विवाह-संबन्ध के कारण उनकी शरीराकृति की विशेषता के सारे चिह्न नष्ट हो गये।

यह स्मरण रहे कि ये सारे समाधान केवल कल्पना-मूलक हैं।

१३—मुण्डा भाषा-परिवार

मुख्यतया छोटा नागपुर में तथा उसके आस-पास बङ्गाल, उड़ीसा, मद्रास, और मध्य-प्रदेश के ज़िलों में सन्थाल

ऋग्वेद के अनुसार	कालिदास आदि की संस्कृत के अनुसार
मर्त्यासः, मर्त्याः	मर्त्याः
देवासः, देवाः	देवाः
अग्नौ, अग्ना	अग्नौ
पूर्वेभिः, पूर्वैः	पूर्वैः
देवेभिः, देवैः	देवैः

धातुओं के रूपों की बहुलता तो ऋग्वेदीय भाषा में इससे भी अधिक है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण यह है कि लेट् लकार जो ऋग्वेद में प्रायः प्रयोग किया जाता है पिछली संस्कृत में बिल्कुल नहीं आता। इसके अतिरिक्त और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं; जैसे :—

इमसि, इमः	=	इमः
स्मसि, स्मः	=	स्मः
यातन, यात	=	यात
शये	=	शेते
ईष्टे, ईशे, ईशते	=	ईष्टे
श्रुधि, शृणुधि, शृणुहि, शृणु	}	शृणु

एक बड़ी विशेषता यह है कि जहाँ पिछली संस्कृत में भाव-वाचक 'कर्तुम्', 'पठितुम्' इत्यादि शब्दों में केवल एक

लोगों द्वारा तथा कुछ दूसरी असभ्य जातियों द्वारा बोली जाने वाली मुण्डा भाषायें द्राविड भाषाओं से बिल्कुल भिन्न हैं। मुण्डा भाषाओं को बोलने वाली जातियाँ शरीराकृति की दृष्टि से द्राविड-भाषा-भाषियों के ही ढंग की हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि द्राविड भाषाओं को भारत में लाने वाली जाति मुण्डा जाति के पीछे भारत में आई हो और मुण्डा जाति से रल-मिलकर एक हो गई हो।

ऐसा कहा जाता है कि मुण्डा भाषा ओशेनिया की कुछ भाषाओं से तथा मान्खमेर भाषाओं से कुछ सादृश्य रखती है।

यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि मुण्डा बोलियाँ, इनमें किसी प्रकार का साहित्य न होने से, धीरे धीरे आर्य-भाषाओं के आक्रमण के सामने नष्ट हो रही हैं।

१४—मान्खमेर भाषा-परिवार

यहाँ मान्खमेर भाषा-परिवार का थोड़ा-सा वर्णन अप्रासङ्गिक नहीं होगा। बर्मा में पीगू में बोली जाने वाली बोलियाँ तथा भारतवर्ष में खासी पहाड़ियों की बोलियाँ इसी भाषा-परिवार से संबन्ध रखती हैं। इसका सम्बन्ध अनाम आदि की भाषाओं से भी है। इसी परम्परा से इस भाषा-परिवार का संबन्ध एशिया के दक्षिणी टापुओंकी तथा प्रशान्त महासागर की बोलियों के साथ कहा जाता है।

'तुम्' प्रत्यय देखा जाता है वहाँ ऋग्वेद में उसके स्थान में 'असे', 'तवै', 'ध्यै' इत्यादि अनेक प्रत्यय देखे जाते हैं; जैसे 'जीवसे', 'एतवै', 'पातवै', 'चरध्यै', 'गमध्यै' इत्यादि।

उपर्युक्त थोड़े से उदाहरणों से ही, भारतीय आर्य-भाषा की दो अवस्थाओं में व्याकरण की दृष्टि से कितना भेद है, यह स्पष्ट हो गया होगा।

इसी प्रकार अनेक शब्द जो वैदिक भाषा में पाये जाते हैं पिछली संस्कृत में या तो मिलते ही नहीं या दूसरे अर्थों में प्रयुक्त किये गये हैं। पिछली संस्कृत में जो शब्द नहीं मिलते ऐसे वैदिक शब्दों के कुछ उदाहरण ये हैं:—

दर्शत	=	दर्शनीय, सुन्दर
दृशीक	=	सुन्दर, दर्शनीय
रपस्	=	चोट, दुर्बलता, रोग
अमूर	=	बुद्धिमान्
मूर	=	मूढ
ऋदूदर	=	कोमलाशय, दयालु
अक्तु	=	रात्रि; अन्धकार; रश्मि
अमीवा	=	व्याधि, रोग

ऐसे वैदिक शब्दों के उदाहरण जो पिछली संस्कृत में दूसरे अर्थों में आते हैं ये हैं:—

ऐसी कल्पना की गई है कि किसी समय इसी ढंग की बोलियाँ भारतवर्ष में आज-कल की अपेक्षा अधिक प्रदेश में फैली हुई थीं।

१५—तिब्बत-बर्मीय भाषा-परिवार

भारतवर्ष में वर्तमान भाषा-परिवारों के वर्णन के प्रसङ्ग में तिब्बत-बर्मीय भाषा-परिवार का भी कुछ परिचय देना आवश्यक है। इस परिवार की अनेक बोलियों का ठीक प्रकार से अध्ययन अभी तक नहीं किया गया है। इन भाषाओं की रचना योगात्मक होती है; और इनमें लहजे का भी कुछ प्रयोग किया जाता है।

इस भाषा-परिवार की, जैसा नाम से ही विदित है, मुख्य भाषायें तिब्बती और बर्मी भाषायें हैं। हिमालय की अनार्य भाषाओं का समावेश भी इसी परिवार में किया जाता है।

तिब्बती भाषा में बौद्ध संस्कृत के आधार पर लिखा हुआ कुछ साहित्य भी है। कई संस्कृत पुस्तकों का पता केवल उनके तिब्बती भाषा में किये गये अनुवादों से ही लगता है। लेख में आने वाली वर्णमाला भारतवर्ष से ही ली हुई है। परन्तु शब्दों की लिखित वर्णानुपूर्वी (या हिज्जे) प्राचीन उच्चारण के अनुसार होने से आज-कल के शब्दों के परिवर्तित उच्चारण के साथ नहीं मिलती।

इस परिवार की बोलियों का आर्य-बोलियों के साथ संपर्क हिमालय में बराबर दूर तक होता है।

		वैदिक अर्थ	पिछली संस्कृत में अर्थ
अराति	=	शत्रुता; कृपणता	शत्रु
वध	=	कोई भयङ्कर हथियार	मार डालना
मृडीक	=	कृपा, अनुग्रह	शिव जी का नाम
न	=	जैसे; नहीं	नहीं
अरि	=	ईश्वर, धार्मिक; शत्रु	शत्रु
क्षिति	=	निवासस्थान, गृह, बस्ती; मनुष्य	पृथ्वी

४—भाषा की परिवर्तन-शीलता में अँगरेज़ी का उदाहरण

इसी प्रकार यदि हम अंग्रेज़ी भाषा में

(१) ब्योवुल्फ़ (Beowulf, समय लगभग सातवीं ईस्वी शताब्दी या इससे पूर्व) नामक काव्य के एक पद्य को,

(२) चासर (Chaucer, १३४०–१४०० ईस्वी) नामक कवि के एक पद्य को,

(३) महाकवि शेक्सपियर (Shakespeare, १५६४—१६१६ ईस्वी) के गद्य या पद्य को, और अन्त में

बर्मी भाषा का साहित्य अधिकतर पालि साहित्य के और कुछ संस्कृत पुस्तकों के भी आधार पर लिखा गया है। इसके अतिरिक्त कुछ लौकिक क़िस्सा कहानियाँ भी इस साहित्य में हैं।

१६—चीनी भाषा-परिवार

उपर्युक्त भाषा-परिवार के बाद चीनी भाषा-परिवार आता है। इस परिवार में चीनी भाषा सबसे प्रधान है। चीनी भाषा का काफ़ी वर्णन ऊपर कई स्थानों पर दिया जा चुका है।

प्राय: चीनी भाषा-परिवार को भारत-चीनी भाषा-परिवार का नाम दिया जाता है, और उपर्युक्त मान्खमेर और तिब्बत-बर्मीय दोनों परिवारों को उसका उपभेद मान लिया जाता है। चीनी के साथ पिछले दोनों परिवारों के सादृश्य को देखते हुए ऐसा मानना उचित भी प्रतीत होता है।

१७—अन्य भाषा-परिवार

उपर्युक्त भाषा-परिवारों के अतिरिक्त अनेक और भाषा-परिवार भी हैं; जैसे :—

अमरीकन भाषा-परिवार, जिसमें अनेक प्रकार की भाषायें सम्मिलित हैं;

अफ़्रीकन भाषायें, जिनको दक्षिण-अफ़्रीकन (या बन्तू) भाषा-परिवार और मध्य-अफ़्रीकन भाषा-परिवार इस प्रकार दो परिवारों में बाँटा गया है;

(४) राजकवि टेनिसन (Tennyson, १८०६-१८६२) के एक पद्य को

लेकर उनकी तुलना करें तो समय-भेद से एक ही भाषा में होने वाले परिवर्तन और भी अच्छी तरह हृदयंगम हो जावेंगे। इसका कारण यह है कि जहाँ संस्कृत-ग्रन्थों के ऐतिहासिक समय और क्रम में प्रायः अनेक सन्देह हो सकते हैं वहाँ अंग्रेज़ी ग्रन्थों के लेखकों का समय बहुत कुछ निश्चितसा है।

उपर्युक्त तुलना करने पर, यदि हमने अच्छे प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से अंग्रेज़ी का अभ्यास नहीं किया है, तो शायद ब्योवुल्फ़ तो बिल्कुल समझ में ही न आवेगा। चासर कुछ कुछ समझ में आवेगा। शेक्सपियर बहुत अंश तक समझ में आ जावेगा, यद्यपि उसकी भाषा स्पष्टतया टेनिसन की भाषा से पुरानी प्रतीत होगी। परन्तु यदि इन सबको हम शुद्ध अर्थात् ठीक ठीक उनके अपने अपने समय के उच्चारण के अनुसार पढ़ें तब तो उनकी भाषाओं में परस्पर भेद और भी अधिक दीख पड़ेगा। समय-भेद से कम से कम भाषा के उच्चारण में तो अवश्य भेद पड़ ही जाता है, यह हम ऊपर कह चुके हैं। अधिक पुरानी अंग्रेज़ी का तो कहना ही क्या, शेक्सपियर के समय के उच्चारण में और आज-कल के अंग्रेज़ी के उच्चारण में बड़ा भेद हो गया है। एक विद्वान् का कहना है कि यदि शेक्सपियर आजकल की तरह अपने नाटकों को

प्रशान्त-महासागरी भाषा-परिवार;

श्रौर काकेशियन भाषा-परिवार । इन सबका इस छोटीसी पुस्तक में वर्णन करना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

कुछ भाषायें ऐसी भी हैं जिनका अभी तक निश्चित रीति से वर्गीकरण भी नहीं हो सका है। उदाहरणार्थ, बास्क (Basque) एक ऐसी ही भाषा है। यह आज-कल स्पेन और फ्रांस की सीमा के पश्चिमी भाग में बहुत थोड़े पहाड़ी प्रदेश में बोली जाती है। इसका यूरोप की क्या, पृथ्वी की किसी भी भाषा से कोई संबन्ध नहीं दीखता। यह अपने प्रकार की एक निराली ही भाषा है।

किसी मनुष्य द्वारा पढ़ते हुए सुन सके तो वह शायद ही पहिचान सकेगा कि यह उसी की भाषा है। इस कारण से यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि वर्ण-विन्यास या हिज्जों के एकसे रहने पर भी यह आवश्यक नहीं कि उच्चारण भी एकसा ही हो।

वस्तुतः समय-भेद से उच्चारण में भेद हो जाता है, इसका एक प्रमाण इसी बात से मिलता है कि प्रायः अनेक भाषाओं में शब्दों के लिखने और बोलने का स्वरूप एकसा या अभिन्न नहीं होता। इस अभिन्नता के अभाव का कारण यही है कि लिखना तो पुराने उच्चारण के अनुसार ही रहता है और उच्चारण बदलता रहता है। अंग्रेज़ी भाषा इसका बड़ा अच्छा उदाहरण है। इसके हिज्जे बड़े विचित्र होते हैं। बहुत से वर्ण लिखे जाते हैं, पर उच्चारण नहीं किये जाते। उदाहरणार्थ, daughter (= डाटर) शब्द में gh उच्चारण नहीं किया जाता। इसका कारण बहुत लोग नहीं जानते। वास्तव में इसका कारण यही है कि पुराने समय में इस शब्द में gh का उच्चारण किया जाता था। इस बात की पुष्टि इसके संबन्धी जर्मन Tochter (टॉख़्टर), ग्रीक thugatēr, फ़ारसी 'दुख़्तर' और संस्कृत 'दुहिता' इन शब्दों से होती है। इन शब्दों में अंग्रेज़ी शब्द के अनुच्चारित gh के स्थान में कोई न कोई कण्ठ-स्थानीय व्यञ्जन अवश्य बोला जाता है।

दसवाँ परिच्छेद

भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार

१—भारत-यूरोपीय भाषाओं के वर्ग या उपपरिवार

भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार में अनेक भाषावर्ग या भाषाओं के उपपरिवार सम्मिलित हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) भारतीय भाषावर्ग या भारतीय आर्यभाषावर्ग।

इसमें निम्नलिखित भाषायें सम्मिलित हैं:—

(क) वैदिक और रामायण आदि की तथा पिछले कवियों की संस्कृत;

(ख) पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषायें;

(ग) आज-कल की पञ्जाबी, हिन्दी, बङ्गाली, गुजराती आदि भाषायें तथा सिंघाली भाषा।

(२) ईरानी भाषावर्ग। इसमें सम्मिलित भाषायें इस प्रकार हैं:—

(क) ज़िन्द भाषा या पारसियों की धर्म-पुस्तक 'अवस्ता' की भाषा। इसको 'प्राचीन पूर्वीय

५—स्थानभेद से भाषा में भेद[1]

भाषा की परिवर्तन-शीलता को हम दो प्रकार से सिद्ध कर सकते हैं:—एक तो किसी भाषा के प्राचीन लेखों के आधार पर उसकी भिन्न भिन्न काल की अवस्थाओं की परस्पर तुलना करने से, और दूसरे परस्पर अनेक प्रकार की समानता रखने वाली अतएव परस्पर सम्बन्ध रखने वाली भिन्न भिन्न स्थानीय, प्रान्तीय तथा भिन्न भिन्न जातियों की भाषाओं की परस्पर तुलना से। जैसे एक ही भाषा के समय-भेद से भिन्न भिन्न स्वरूपों का कारण उसकी परिवर्तन-शीलता है, इसी प्रकार एक ही भाषापरिवार में भिन्न भिन्न भाषाओं का कारण भाषा की परिवर्तन-शीलता ही हो सकती है। उनका विकास किसी एक ही मूल-भाषा से न माना जावे तो

---

१ तु०—"सर्वे देशान्तरे। सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरे प्रयुज्यन्ते। न चैत उपलभ्यन्ते। उपलब्धौ यत्नः क्रियतां महान्हि शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाः......एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमननुनिशम्य सन्त्यप्रयुक्ता इति वचनं केवलं साहसमात्रम्। एतस्मिन्नतिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा। शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु रंहतिः प्राच्यमध्येषु गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु।" (महाभाष्य, प्रथमाह्निक)।

ईरानी भाषा' तथा 'प्राचीन बैक्ट्रियन भाषा' भी कहते हैं;

(ख) प्राचीन फ़ारसी भाषा या 'प्राचीन पश्चिमीय ईरानी भाषा';

(ग) मध्य-कालीन फ़ारसी या पहलवी;

(घ) अर्वाचीन साहित्यिक तथा प्रधान फ़ारसी और तत्सम्बन्धी भिन्न भिन्न प्रादेशिक भाषायें।

प्रायः इन दोनों भाषावर्गों का **आर्य-भाषा-वर्ग** या **भारत-ईरानी भाषावर्ग** के नाम से एक साथ ही विचार किया जाता है। उस दशा में उपर्युक्त भारतीय आर्य-भाषा-वर्ग और ईरानी भाषावर्ग दोनों को एक वर्ग का ही उपभेद समझना चाहिये। भारत-ईरानी भाषावर्ग में हिन्दुकुश के प्रदेश से काश्मीर तक फैली हुई शीना, बशगली आदि भाषायें भी, जिनमें भारतीय और ईरानी दोनों भाषाओं के लक्षण पाये जाते हैं, सम्मिलित हैं। इन भाषाओं के लिये विविध-भाषा-विज्ञ ग्रियर्सन (Sir G. A. Grierson) महोदय ने **पैशाची भाषावर्ग** का नाम दिया है।

उपर्युक्त दोनों भाषावर्गों को एक भारत-ईरानी भाषावर्ग का उपभेद मानने का कारण यह है कि इन दोनों वर्गों की प्राचीन भाषाओं में घनिष्ठ सम्बन्ध था। दोनों वर्गों में अनेक बातें ऐसी पाई जाती हैं जो अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं में नहीं देखी जातीं। पिछले समय की ईरानी

हम इसका कारण नहीं बतला सकते कि कुछ समानतायें उनमें ही क्यों पाई जाती हैं, दूसरी भाषाओं में क्यों नहीं। विशेषकर जब कि एक एक परिवार की भाषायें बड़ी दूर दूर तक फैली हुई हैं, और बीच बीच में भिन्न भिन्न भाषापरिवारों का संपर्क है। वस्तुत: भाषापरिवारों की कल्पना ही नहीं की जा सकती जब तक हम इस बात को न मान लें। ऐसा मान लेने पर, एक मूल-भाषा से अनेक भाषाओं का निकलना भाषा की परिवर्तन-शीलता को स्वीकार किये बिना हो ही नहीं सकता। जिन भाषाओं का इतिहास मिलता है उनके इतिहास में जितना ही हम पीछे लौटते हैं हमको उतनी ही उनके प्रान्तीय आदि भेदों में कमी मिलती है। उदाहरणार्थ, एक समय ऐसा था जब कि हिन्दी, बँगला, गुजराती आदि भाषाओं में परस्पर इतना गहरा भेद न था जितना आजकल है। इससे भी स्थानभेद से भाषाभेद का कारण भाषा की परिवर्तन-शीलता ही हो सकती है, यही बात सिद्ध होती है।

स्थान-भेद से भाषा-भेद को जितना किसी भाषा के स्थानीय और प्रान्तीय भेदों को देखकर समझा जा सकता है उतना, एक भाषा-परिवार से सम्बन्ध रखने पर भी, भिन्न भिन्न जातियों की भाषाओं के भेद से नहीं समझा जा सकता। स्थानीय और प्रान्तीय भेदों को हम प्राय: प्रतिदिन अनुभव करते हैं। उनको थोड़ा-बहुत समझ भी सकते हैं। उनका

भाषाओं पर अरबी आदि के प्रभाव के कारण वे भारतीय आर्य-भाषाओं से धीरे धीरे अधिक विभिन्न होती गईं।

(३) आर्मीनियन।

(४) ग्रीक भाषावर्ग। इसमें आइओनियन तथा डोरिक आदि अनेक प्रादेशिक भाषायें सम्मिलित हैं।

(५) ऐल्बैनियन।

(६) इटैलिक भाषावर्ग। इसमें लैटिन, आस्कन, अम्ब्रियन तथा आज-कल की फ्रेंच, इटैलियन, स्पैनिश आदि भाषायें सम्मिलित हैं।

(७) केल्टिक भाषावर्ग। इसमें वेल्श, आइरिश आदि भाषायें सम्मिलित हैं।

(८) ट्यूटानिक या जर्मैनिक भाषावर्ग। इस भाषा-वर्ग के कई बड़े बड़े उप-वर्ग हैं, जिनका नीचे वर्णन किया जायगा। इसमें गाथिक, स्कैण्डिनैवियन भाषायें और पश्चिमीय जर्मैनिक भाषायें (अंग्रेज़ी, जर्मन आदि) सम्मिलित हैं।

(९) बाल्टिक-स्लैवोनिक भाषावर्ग। इसमें बाल्टिक (=लिथुआनियन आदि भाषायें) और स्लैवोनिक (=रूसी आदि भाषायें) दो उपवर्ग सम्मिलित हैं।

परस्पर सम्बन्ध भी स्पष्ट ही होता है। भिन्न भिन्न जातियों की भाषाओं में, उनके परिवार के एक होने पर भी, हमको प्रथम यही पता लगाना होता है कि वे परस्पर सम्बन्ध भी रखती हैं या नहीं। इस कारण से यहाँ हम भाषा के स्थानीय और प्रान्तीय भेदों का ही मुख्यतया वर्णन करेंगे।

यह एक कहावत है कि कुछ कोसों के बाद भाषा बदल जाती है। काल-भेद से भाषा-भेद को सिद्ध करने के लिये हमको प्राचीन लेखों की आवश्यकता होती है; परन्तु देश-भेद से भाषा में भेद हो जाता है, इस बात को देखने के लिये हमें प्राचीन लेखों की अपेक्षा नहीं। यदि हम कोश और व्याकरण को, जिनका सम्बन्ध सर्व-साधारण की भाषा से नहीं होता, एक तरफ़ रखकर सर्व-साधारण की नित्य बोल-चाल की भाषा को ध्यान से देखें तो हमको उसमें अनेक स्थानीय भेद प्रतीत होंगे। अपने आस-पास के दो चार ज़िलों की सर्व-साधारण की भाषाओं की तुलना करने से यह बात सबको स्पष्ट हो जावेगी। प्रायः देखा जाता है कि उच्चारण या लहजे की थोड़ी विशेषता या किसी विशेष शब्द या वाक्यांश के प्रयोग से वक्ता का ज़िला ही नहीं किन्तु कभी कभी नगर भी ज्ञात हो जाता है। प्रान्त का जानना तो कोई कठिन बात नहीं।

सर्व-साधारण में शिक्षा के अधिक या अनिवार्य रीति से

(१०) टोखारिश । इस भाषा का जर्मन विद्वानों ने हाल ही में पूर्वीय तुर्किस्तान में पता लगाया है।

२—भारतीय आर्यभाषावर्ग

इस भाषावर्ग के विषय में ऊपर थोड़ा-सा कहा जा चुका है। इसके विषय में एक पृथक् पुस्तक लिखने का हमारा विचार है। इसलिये यहाँ पर अधिक विचार इसके विषय में न करके केवल सामान्य बातों का कुछ वर्णन किया जाता है।

इस भाषावर्ग का महत्त्व संसार के किसी भी भाषावर्ग के महत्त्व से अधिक है। किसी भी प्राचीन भाषा का साहित्य इतना विस्तृत नहीं जितना केवल संस्कृत का। ग्रीक और लैटिन दोनों भाषाओं का साहित्य मिलकर विस्तार में संस्कृत साहित्य से कम रहता है। वैदिक, बौद्ध, जैन आदि कई धर्मों का साहित्य इस वर्ग में मिलता है। प्राचीनता भी वैदिक साहित्य की अत्यधिक है। भाषा-विज्ञान का तो एक विज्ञान के रूप में प्रारम्भ ही संस्कृत के यूरोप में प्रवेश होने पर हुआ है।

भारतीय आर्य-भाषाओं को, जैसा ऊपर कह चुके हैं, सामान्यत: तीन भागों में बाँटा जा सकता है—प्राचीन, मध्यकालीन, और आधुनिक भाषायें।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का साहित्यिक रूप वेदों, ब्राह्मणों, सूत्रों, रामायण, महाभारत और पीछे की पुस्तकों तथा शिला-लेखों आदि की संस्कृत के द्वारा सुरक्षित है।

प्रचार हो जाने से भाषा के स्थानीय भेदों पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। हमारे भारतवर्ष देश में शिक्षा के बहुत अधिक प्रचरित न होने से अभी तक ठीक ठीक इस प्रभाव के स्वरूप को हम अनुभव नहीं कर सकते। परन्तु यूरोप आदि के उन देशों में जहाँ शिक्षा सबके लिये आवश्यक और अनिवार्य है और जहाँ प्रत्येक बच्चे को पाठशाला जाकर शिक्षित लोगों की प्रधान भाषा को सीखना पड़ता है भाषा के स्थानीय भेद धीरे धीरे लुप्त होने लगते हैं। स्थानीय उच्चारण, लहजा, शब्द और मुहाविरा इन सबकी असभ्य या ग्रामीण कहकर हसी की जाती है। इस प्रकार प्रत्येक आगे आने वाली पीढ़ी की भाषा शिक्षित लोगों की प्रधान भाषा के अनुकूल होती जाती है। परन्तु शिक्षा का बहुत कुछ प्रभाव होने पर भी यह न समझना चाहिये कि स्थानीय भेदों का कुछ भी चिह्न नहीं रहता। जिस प्रकार दिल्ली के आस-पास के लोगों द्वारा और बनारस के आस-पास के लोगों द्वारा बोली जाने वाली प्रधान भाषा हिन्दुस्तानी या हिन्दी में थोड़ा भेद होता ही है, इसी प्रकार, इंग्लैण्ड में शिक्षा के अनिवार्य होने पर भी, डेवनशाइर और नार्दम्बरलैण्ड में बोली जाने वाली अंग्रेज़ी में अब भी भेद रहता ही है। यह भेद केवल ग्रामीणों की भाषा में ही नहीं, अच्छे शिक्षित शहरी लोगों की भाषा में भी थोड़ा थोड़ा पाया जाता है। यही दशा यूरोप के दूसरे देशों में है। फ्रांस देश के उत्तर में और पूर्व-दक्षिण

प्रारम्भ में यह साहित्यिक भाषा बोलने की भाषा से मिलती-जुलती रही होगी; परन्तु धीरे धीरे कालान्तर में इन दोनों में बड़ा भेद पड़ गया और साहित्यिक भाषा में बहुत अधिक कृत्रिमता आ गई।

मध्य-कालीन भाषा का साहित्य पालि और भिन्न भिन्न प्राकृत भाषाओं में मिलता है। उच्चारण तथा व्याकरण दोनों की दृष्टि से ये भाषायें प्राचीन भाषा से बहुत परिवर्तित हैं। इनके उच्चारण और व्याकरण में और भी परिवर्तन होने से आधुनिक ढंग की भाषाओं का प्रारम्भ हुआ। मध्य-कालीन भाषाओं के ज्ञान के लिये हमें भिन्न भिन्न समय और प्रदेश के लेखों से सहायता मिल सकती है। इन लेखों में खुदे हुए लेखों के साथ साथ पुस्तकें भी हैं। शिला-लेखों में सबसे प्रसिद्ध अशोक के धर्म-लेख हैं। पुस्तकों में पालि भाषा में लिखी हुई दक्षिणी या हीनयानीय बौद्धों की धर्म-पुस्तकें, प्राकृत भाषा में लिखी हुई जैनियों की धर्म-पुस्तकें, छोटे बड़े प्राकृत के काव्य और नाटक, तथा कुछ प्राकृत में लिखे हुए व्याकरण-ग्रन्थ मुख्यतया सम्मिलित हैं।

भाषा के अवान्तर भेदों के कारण मध्य-कालीन भाषा को भी (१) प्राचीन प्राकृत (या पालि), (२) मध्यप्राकृत, और (३) अन्त्य प्राकृत (या अपभ्रंश), इस तरह तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। उपर्युक्त मध्य-कालीन भाषा के खुदे हुए लेखों और पुस्तकों की भाषा

में बोली जाने वाली भाषा में अब भी भेद है। इटली के पश्चिमोत्तर में बोली जाने वाली भाषा में इसी प्रकार अब भी दक्षिण की भाषा से भेद पाया जाता है।

ऊपर यह दिखलाया गया है कि स्थानीय बोलियों पर शिक्षित लोगों की प्रधान भाषा का कहाँ तक प्रभाव पड़ सकता है। इन दोनों के स्वरूप और स्वभाव को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। दो पड़ोसी प्रान्तों या देशों की प्रधान भाषाओं में, उनके एक भाषा-परिवार से सम्बन्ध रखने पर भी, बड़ा भेद हो सकता है। परन्तु उनकी स्थानीय भाषाओं में, यदि वे एक ही भाषा-परिवार से सम्बन्ध रखती हैं, जो भेद होंगे वे बहुत करके, एकाएक न होकर, धीरे धीरे ही दीख पड़ेंगे। दूसरे शब्दों में, जैसे समय-भेद से भाषा के भेद में भाषा की अविच्छिन्न धारा होती है, इसी तरह स्थान-भेद से भाषा-भेद में भी प्रायः अविच्छिन्न परम्परा दीख पड़ती है। दो देशों या प्रान्तों की भाषाओं में जितना ही अधिक सम्बन्ध होगा उतना ही धीरे धीरे एक प्रान्त या देश से दूसरे प्रान्त या देश में जाते हुए उनकी स्थानीय भाषाओं में परस्पर भेद दीख पड़ेगा। ऐसी दशा में सीमा के दोनों ओर आस-पास की स्थानीय भाषाओं को किस प्रान्त या देश की भाषा कहा जावे यह निर्णय करना कठिन होगा। नीचे लिखे उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जावेगी।

जब हम मराठी और हिन्दी की तुलना करते हैं तब

प्रायेण प्रथम दो प्रकार की हैं। अन्त्य प्राकृत या अपभ्रंश से आशय मध्य-कालीन भारतीय आर्य-भाषाओं की उस अन्तिम अवस्था से है जो पुस्तकों की प्राकृत और आधुनिक भाषाओं की प्रारम्भिक अवस्था के बीच में रही थी। अपभ्रंश भाषायें प्रायः पुस्तकों के लिखने के काम में नहीं लाई गईं। दुर्भाग्य-वश अपभ्रंशों के स्वरूप के विषय में हमारे पास बहुत थोड़ी सामग्री है। जो कुछ है उससे प्राकृत भाषाओं से आधुनिक भाषाओं के विकास के समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

आधुनिक भाषाओं के प्रारम्भ का समय क्या है, इसके विषय में अभी तक ठीक ठीक निश्चय न हो सका है। हेम-चन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण में, जो बारहवीं शताब्दी (ईस्वी) में लिखा गया था, अपभ्रंश का भी वर्णन किया है। पश्चिमी हिन्दी में अति प्रसिद्ध प्राचीन काव्य चन्द बर-दाई का लिखा हुआ पृथीराज-रासो है। इसका समय १२०० ईस्वी के लगभग है। आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है[1]:—

(१) केन्द्रस्थ या आभ्यन्तर-प्रदेशस्थ भाषा—
पश्चिमी हिन्दी।

---

१ देखो :—*Imperial Gazetteer of India*, new edition, जिल्द १, पृ० ३६४

हमारा आशय प्रायः साहित्य में प्रयुक्त शिक्षित लोगों की प्रधान मराठी तथा हिन्दी से होता है। इन दोनों भाषाओं के साहित्य में प्रयुक्त स्वरूपों में चाहे कितना भेद हो, इन भाषाओं की सीमा में जहाँ वे मिलती हैं उतना भेद नहीं मिलेगा। उन स्थानों में जो मध्य-प्रदेश में हिन्दी और मराठी की सीमा पर अवस्थित हैं जो स्थानीय भाषायें बोली जाती हैं वे आपस में इतनी भिन्न नहीं हैं जितनी प्रधान मराठी और हिन्दी। यही बात हिन्दी और हिन्दी की पड़ोसी दूसरी प्रान्तीय आर्य-भाषाओं के विषय में जाननी चाहिये।

यही दशा फ़्रेंच और इटैलियन भाषाओं की है। फ़्रांस और इटली देशों की भाषाओं की तुलना करते समय हमारा आशय प्रायः करके इनकी प्रधान भाषाओं से होता है। इन दोनों में जितनी समानता दीख पड़ती है उससे बहुत अधिक फ़्रांस के पूर्व-दक्षिण के और इटली के पश्चिमोत्तर के ग्रामों की स्थानीय बोलियों में पाई जाती है। वस्तुतः यदि हम इन देशों की आधुनिक प्रधान भाषाओं की उपेक्षा करके केवल उन ग्रामों की स्थानीय भाषाओं पर ही दृष्टि रक्खें तो उनका फ़्रेंच और इटैलियन इन दो वर्गों में बाँटना कठिन हो जावेगा।

कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक प्रान्त या देश में ऐसी भी स्थानीय भाषायें पाई जाती हैं जिनका सम्बन्ध

(२) मध्यवर्ती या अवान्तरवर्ती भाषायें—पंजाबी, गुजराती, राजस्थानी, पहाड़ी, पूर्वीय हिन्दी।

(३) बाह्य-प्रदेशस्थ भाषायें—

(क) उत्तर-पश्चिमी भाषायें—सिन्धी, लहन्दा, काश्मीरी, कोहिस्तानी;

(ख) दक्षिणी भाषा—मराठी;

(ग) पूर्वी भाषायें—बंगाली, आसामी, बिहारी, उड़िया।

३—ईरानी भाषावर्ग

इसका वर्णन अगले परिच्छेद में किया जायगा।

४—आर्मीनियन भाषा

आर्मीनियन भाषा में आज-कल जो साहित्य मिलता है वह लगभग ४०० ईस्वी के बाद का है। इस समय से पहिले भी इस भाषा का देवालयों से संबन्ध रखने वाला कुछ अपना साहित्य था। वह ईसा की चौथी और पाँचवीं शताब्दी में ईसाई पादरियों ने बिल्कुल नष्ट कर दिया, और उसकी अब मुश्किल से बीस पंक्तियाँ शेष हैं। इसके पीछे का साहित्य प्रायः ईसाई धर्म से संबन्ध रखता है। आज-कल की आर्मीनियन भाषा में एक साहित्यिक भाषा के साथ साथ कुछ प्रादेशिक बोलियाँ भी सम्मिलित हैं।

आर्मीनियन भाषा पर दूसरी भाषाओं का बहुत कुछ

उस देश या प्रान्त की भाषा की अपेक्षा पड़ोस के देश या प्रान्त की भाषा से अधिक होता है। इसका कारण स्पष्ट है। देशों या प्रान्तों की सीमा का निर्धारण सदा भाषा के विचार से ही नहीं होता। उसमें और भी अनेक कारण हो सकते हैं। इसलिए प्रायः ऐसा होता है कि एक देश या प्रान्त में बहुत-सा भाग ऐसा सम्मिलित कर दिया जाता है जिस भाग की भाषा वस्तुतः समीपवर्ती दूसरे देश या प्रान्त की भाषा से अधिक मिलती है। उदाहरणार्थ, पञ्जाब प्रान्त में पूर्व-दक्षिण के कई ज़िले ऐसे सम्मिलित हैं जिनकी भाषा पञ्जाबी की अपेक्षा हिन्दी से बहुत अधिक मिलती है।

यही दशा जर्मन देश के उत्तर में बोली जाने वाली स्थानीय बोलियों की है। प्रधान जर्मन भाषा और प्रधान डच (= हालैण्ड देश की भाषा) भाषा में अच्छा खासा भेद है। परन्तु उत्तरीय जर्मन बोलियाँ ज़्यादातर प्रधान जर्मन भाषा की अपेक्षा डच भाषा से अधिक मिलती-जुलती हैं। आजकल की प्रधान जर्मन भाषा का आधार दक्षिण जर्मनी की भाषा है। यही साहित्य की, राष्ट्र की और पाठशालाओं में पढ़ाई जाने वाली भाषा है। इसलिए उत्तर जर्मनी के ग्रामों के रहने वाले बच्चों को भी पाठशालाओं में तो यही भाषा सीखनी पड़ती है; परन्तु साधारणतया उनकी स्थानीय बोलियाँ डच भाषा से अधिक समानता रखती हैं। यदि हम पाठशालाओं

प्रभाव पड़ा है। दूसरी भाषाओं में अनार्य और आर्य दोनों प्रकार की भाषायें सम्मिलित हैं। सीरिऐक-भाषा-भाषियों के साथ दक्षिण और पूर्व में अधिक संपर्क रहने से तथा पीछे से अरब जाति की विजय के कारण इस भाषा पर सेमिटिक भाषाओं का बड़ा प्रभाव पड़ा है। एशिया-माइनर के किनारे की आर्मीनियन बोली में तारतारी या तुर्की शब्द भरे पड़े हैं। चिरकाल तक ईरान देश का आर्मीनिया पर राजनैतिक प्रभाव रहने से आर्मीनियन भाषा में प्राचीन और मध्यकालीन फ़ारसी के शब्दों की बड़ी भारी संख्या पाई जाती है। ये शब्द इतने अधिक हैं कि कुछ दिनों तक आर्मीनियन भाषा एक ईरानी भाषा ही समझी जाती रही। परन्तु अब ऐसा नहीं समझा जाता। फ़ारसी और दूसरी भाषाओं के शब्दों के पृथक् कर देने पर आर्मीनियन भाषा का जो असली स्वरूप रह जाता है वह उच्चारण और व्याकरण दोनों की दृष्टि से भारत-ईरानी भाषावर्ग से इसे पृथक् करता है। आर्मीनियन भाषा भारत-ईरानी भाषावर्ग और बाल्टिक-स्लैवोनिक भाषावर्ग के बीच की भाषा प्रतीत होती है। परन्तु अभी तक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इसका पूरा पूरा अनुसंधान नहीं हुआ है।

इसकी व्यञ्जन-माला में यूरोपीय भाषाओं की अपेक्षा भारत-ईरानी भाषावर्ग के साथ अधिक समानता पाई जाती है। उदाहरणार्थ 'दस' का पर्याय-वाची आर्मीनियन tasn शब्द लैटिन decem (c=क) और ग्रीक déka की

में पढ़ाई जाने वाली भाषा पर ध्यान न दें तो लगभग उत्तर जर्मनी की समस्त स्थानीय बोलियों की उच्च भाषा के साथ एक भाषा में गणना की जावेगी, और प्रधान जर्मन भाषा की गणना उससे भिन्न भाषा में होगी।

कभी कभी इस तरह कुछ स्थानीय बोलियों में और उस देश या प्रान्त की प्रधान भाषा में साक्षात् संबन्ध न होने पर भी, साधारणतया भिन्न भिन्न स्थानीय बोलियों को एक सूत्र में बांधने वाली एक प्रधान भाषा ही होती है। उसी के आधार पर उनको दूसरी स्थानीय भाषाओं से अलग करके एक नाम दिया जाता है। भाषाओं की तुलना करने में प्रधान भाषाओं का ही प्रायः सहारा लिया जाता है, यह हम ऊपर कह चुके हैं। प्रधान भाषा की प्रधानता का कारण यही होता है कि वह पढ़े-लिखों की भाषा होती है; उसमें कुछ न कुछ साहित्य होता है; उसको प्रायः राज्य-भाषा का पद भी प्राप्त होता है। परन्तु भाषा-विज्ञान की दृष्टि से कुछ स्थानीय बोलियों को उनकी विशेष समानताओं के कारण इकट्ठा करके, उनमें विशेष साहित्य के न होने पर भी, एक नाम दिया जा सकता है। इस नाम के लिए लोक-प्रसिद्ध होना भी आवश्यक नहीं। उदाहरणार्थ, बिहारी, राजस्थानी ये नाम भिन्न भिन्न स्थानीय बोलियों के वर्गों के रख लिये गये हैं। बिहारी आदि में कोई विशेष साहित्य नहीं है। ये नाम अति प्रसिद्ध भी नहीं हैं।

अपेक्षा संस्कृत 'दश(-न्)' और फ़ारसी 'दह' से अधिक समानता रखता है। परन्तु इनको तरह घोष और अघोष वर्णों का भेद आर्मीनियन में नहीं किया जाता। स्वरों के विषय में आर्मीनियन यूरोपीय भाषाओं से कुछ अधिक मिलती है। ह्रस्व 'ऍ' (ĕ) और 'ऑ' (ŏ) यूरोपीय भाषाओं की तरह आर्मीनियन में भी विद्यमान हैं।

५—एशिया-माइनर की भारत-यूरोपीय भाषायें

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि किसी पुराने समय में एशिया-माइनर में भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार से संबन्ध रखने वाली अनेक बोलियाँ बोली जाती थीं। यहाँ की प्राचीन फ़्रिजियन और लिसियन भाषाओं का इसी परिवार से संबन्ध था, यह तो निश्चित ही है। लिसियन भाषा के अनेक प्राचीन लेख मिलते हैं; इनमें से कुछ ग्रीक और लिसियन दोनों भाषाओं में हैं। फ़्रिजियन भाषा के कुछ प्राचीन लेख तो फ़्रिजिया में ही मिले हैं; इसके अतिरिक्त इस भाषा के अनेकानेक शब्द ग्रीक और लैटिन के प्राचीन साहित्य में आये हैं।

यह संभव है कि आर्मीनिया और ग्रीस देश के मध्य प्रदेश में आज कल, भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार की किसी भाषा के न बोले जाने से, जो इस परिवार की शृङ्खला टूट जाती है वह प्राचीन काल में इन्हीं भाषाओं के द्वारा जुड़ी रही होगी।

६—स्थान-भेद से भाषाओं में भेद की मात्रा उनके सम्बन्ध के कम या अधिक होने पर निर्भर है

ऊपर कहा गया है कि भाषा में स्थान-भेद से थोड़ी थोड़ी दूर पर भेद हो जाता है, साथ ही यह भेद एकाएक न होकर धीरे धीरे होता है। परन्तु ये बातें सर्वदा एक-सी नहीं पाई जातीं। अनेक दशाओं में थोड़ी दूर पर ही भाषा में अधिक भेद हो जाता है, और अनेक दशाओं में बहुत कम। प्रायः ऐसा भी होता है कि एक प्रान्त या देश की सीमा के उल्लङ्घन करने पर हम एक ऐसी भाषा को पाते हैं जो उस प्रान्त या देश की भाषा से कुछ भी समानता या संबन्ध नहीं रखती। इन बातों का कारण भाषाओं में कम या अधिक संबन्ध का होना या न होना ही है। स्पष्टीकरणार्थ, यदि एक निरीक्षक भारतवर्ष या यूरोप में पैदल एक ग्राम से दूसरे ग्राम को पार करता हुआ यात्रा करे तो उसे एक दिन की यात्रा में प्रायः बोलियों का भेद प्रतीत हो जावेगा। परन्तु कभी कभी उसे प्रतिदिन की अपेक्षा अधिक स्पष्ट भेद प्रतीत होगा। ऐसा तब होगा जब वह एक भाषा की दो विभिन्न बोलियों की सीमा को या दो स्वतन्त्र भाषाओं की सीमा को पार करेगा। दो भाषाओं की सीमा के पार करने पर जो परस्पर भेद दीख पड़ेगा वह एक भाषा की ही दो विभिन्न बोलियों की सीमा

६—ग्रीक भाषा-वर्ग

इसमें प्राचीन ग्रीक भाषा की प्रधान साहित्यिक भाषा और प्रादेशिक बोलियाँ तथा भिन्न भिन्न प्रादेशिक बोलियों के साथ साथ आधुनिक ग्रीक भाषा भी सम्मिलित है। इस भाषा-वर्ग के अध्ययन के लिये भाषा-विज्ञानी को प्राचीन साहित्य से बड़ी सहायता मिल सकती है। ग्रीक भाषा में लिखा हुई महाकवि होमर (Homer) के नाम से प्रसिद्ध कविताओं के द्वारा इस भाषा का कम से कम क्राइस्ट से १००० या ८०० वर्ष पहिले का स्वरूप सुरक्षित है। ग्रीक भाषा का प्रसिद्ध लेखक एस्काइलस (Aeschylus) ग्रीस और फ़ारिस के युद्ध के समय अर्थात् क्राइस्ट से पूर्व पाँचवीं शताब्दी में विद्यमान था। इसके अतिरिक्त, साहित्य और प्राचीन खुदे हुए लेखों से प्राचीन प्रादेशिक भाषाओं के विषय में भी, जो परस्पर बहुत कुछ भेद रखती थीं, बहुत कुछ जानकारी हो सकती है।

यूरोप की समस्त भाषाओं में से ग्रीक भाषा का भारत-ईरानी भाषा-वर्ग से घनिष्ठ संबन्ध है। ग्रीक भाषा के शब्दों के विवेचन से तथा ग्रीक और संस्कृत व्याकरणों की परस्पर तुलना से बड़ा मनोरञ्जन होता है। इस तुलना से भारत-यूरोपीय भाषाओं की मूल-भाषा के स्वरूप के निर्णय करने में और अनेक प्रकार के उच्चारण-संबन्धी परिवर्तनों

पर पाये जाने वाले भेद से बहुत अधिक स्पष्ट होगा, चाहे दोनों भाषायें परस्पर घनिष्ठ संबन्ध रखती हों।

यह भेद और भी अधिक होगा जब कि दोनों भाषायें परस्पर दूर का सम्बन्ध रखती हैं; जैसे पञ्जाबी और काश्मीरी या पश्तो, फ्रेंच और जर्मन, जर्मन और पोलिश, अंग्रेज़ी और वेल्श। अन्त में, ऐसा भी हो सकता है कि उस यात्री को ऐसी दो भाषाओं की सीमा को पार करना पड़े जिनका आपस में किसी प्रकार का कोई संबन्ध नहीं है; जैसे सिङ्घाली और तामिल, मराठी और कनारी, पहाड़ी और अनार्य पर्वती बोलियां।

ऊपर भिन्न भिन्न भाषाओं की सीमा का कथन किया गया है। दो भाषाओं की सीमा के कहने से यह भ्रम हो सकता है कि उनकी सीमा निर्धारित है और उन भाषाओं का परस्पर संबन्ध और उसका तारतम्य भी निश्चित है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। भाषाओं का परस्पर संबन्ध और उनकी सीमा का निर्धारण स्वयं-विदित नहीं होता, किन्तु भाषा-विज्ञानी को बड़े श्रम से उनकी समानताओं और भेदों की परीक्षा करके निश्चित करना पड़ता है। एक भाषा की सीमा के उल्लंघन करने पर जितना ही अधिक भेद दूसरी भाषा में पाया जावेगा उतना ही संबन्ध उनका परस्पर कम होगा। यदि एक निरीक्षक एक ग्राम से दूसरे ग्राम में होता हुआ एक सहस्र कोस तक यात्रा करता चला जावे और

के उदाहरणों को दिखाने में बड़ी भारी सहायता मिलती है।

जहाँ तक स्वरों का संबन्ध है यह कहा जा सकता है कि ग्रीक भाषा ने प्राचीन मूल भाषा के स्वरों को बहुत अधिक सुरक्षित रक्खा है। उदाहरणार्थ; मूल-भाषा के सन्ध्यक्षर संस्कृत (ए, ओ, ऐ, औ) और लैटिन में संध्यक्षरों की तरह उच्चरित न होकर समानाक्षरों (=असंध्यक्षर 'अ', 'इ' इत्यादि) की तरह उच्चरित होने लगे थे। ग्रीक भाषा में ये ज्यों के त्यों सुरक्षित रहे। परन्तु व्यञ्जनों को ग्रीक भाषा ने बहुत कम सुरक्षित रक्खा। इस बात का सबसे प्रसिद्ध उदाहरण मूल-भाषा के gh, dh, bh, के स्थान में ग्रीक भाषा में kh (χ), th (θ), ph (φ) का हो जाना है। संस्कृत में इनमें परिवर्तन नहीं होता। उदाहरणार्थ,

संस्कृत	ग्रीक
भरामि	phérō
दीर्घः, तुलना करो :—	dolikhós
धूमः	thūmós

ग्रीक भाषा में अधिकतर व्यञ्जन शब्दों के अन्त में नहीं पाये जाते।

व्याकरण के विषय में जहाँ तक धातुओं के रूपों का संबन्ध है, वैदिक भाषा को छोड़कर, कोई भी भारत-यूरोपीय

उसको स्थानीय भाषाओं में कहीं सहसा अधिक भेद प्रतीत न हो तो यही समझना होगा कि वे स्थानीय बोलियाँ परस्पर घनिष्ठ संबन्ध रखती हैं। ऐसी दशा में भी जहाँ से उसने यात्रा आरम्भ की थी और जहाँ समाप्त की उन दोनों स्थानों की बोलियों में बड़ा भेद होगा।

७—भाषाओं के सम्बन्ध का निर्धारण और इतिहास

सामान्य रूप से भाषाओं के परस्पर संबन्ध के निर्णय करने के लिये यही साधन होता है कि हम उनका तुलनात्मक अध्ययन करें और इस प्रकार से उनकी समानताओं और भेदों को देखें। कभी कभी इस प्रकार के निर्णय में इतिहास का साक्ष्य भी मिल जाता है जिससे बड़ी सहायता मिलती है। इतिहास द्वारा भाषाओं की समानता आदि के विषय में असली कारणों के मिल जाने से हमारे निर्णयों में पूरी दृढ़ता आ जाती है। उदाहरणार्थ, फ़्रेंच, अंग्रेज़ी और जर्मन भाषाओं की समानता आदि के देखने से यह प्रतीत होता है कि फ़्रेंच भाषा का प्रभाव जर्मन भाषा की अपेक्षा अंग्रेज़ी पर बहुत अधिक पड़ा है। इतिहास में यह पढ़कर कि फ़्रांस और इंग्लैण्ड का कई प्रकार से घनिष्ठ संबन्ध रहा है, और नार्मन लोगों ने फ़्रांस से जाकर ग्यारहवीं शताब्दी (१०६६ ईस्वी) में इंग्लैण्ड का विजय कर वहाँ बहुत दिनों तक फ़्रेंच भाषा

भाषा रूपों की बहुतायत में ग्रीक भाषा की समानता नहीं कर सकती। परन्तु नामों के रूपों में यह बहुत अपूर्ण है।

ग्रीक भाषावर्ग की सबसे मुख्य भाषाओं का वर्णन नीचे दिया जाता है :—

(१) आइओनियन । प्राचीन काल में एशिया-माइनर के पश्चिमीय समुद्र-तट के मध्य-भाग की तथा कुछ द्वीपों की बोलियाँ, और ऐटिका की भाषा इसमें प्रधानतया सम्मिलित हैं। ऐटिका के मुख्य नगर एथेन्स की राजनैतिक प्रधानता के कारण ऐटिका की भाषा (=ऐटिक ग्रीक) ग्रीस देश में गद्य तथा, खण्ड-काव्यों को छोड़, पद्य की भी प्रधान भाषा बन गई थी। ग्रीस देश के एस्काइलस (Aeschylus), सोफ़ोक्लीज़ (Sophocles), प्लैटो और अरिस्टाटिल जैसे प्रसिद्ध लेखकों और तत्त्ववेत्ताओं के ग्रन्थ इसी भाषा में लिखे गये हैं।

ऐटिका की भाषा के ही आधार पर पीछे से ग्रीस देश भर की साधारण भाषा (=koine) का विकास हुआ। यह सारे ग्रीक जगत् में काम में लाई जाती थी। इसी को 'हेलेनिस्टिक ग्रीक' (Hellenistic Greek) भी कहा जाता है। ईसाइयों की धर्मपुस्तक 'नव-विधान' (New Testament) की यही भाषा है। भौगोलिक तथा अन्य कारणों से ग्रीस देश के नगर, जो भिन्न भिन्न स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त थे, कभी इकट्ठे होकर अपने या दूसरों के शासन करने में समर्थ न हो सके। परन्तु उनकी सभ्यता के उत्कर्ष के कारण

की प्रधानता स्थापित की उपर्युक्त प्रतीति में पूरी दृढ़ता आ जाती है।

इसी प्रकार लैटिन भाषा से निकली हुई फ्रेंच, स्पैनिश आदि भाषाओं में, जिनको रोमांस भाषाओं के नाम से पुकारा जाता है, जो परस्पर समानतायें दीख पड़ती हैं और उनका प्राचीन लैटिन भाषा से जो संबन्ध है इन सबका ठीक ठीक समाधान प्राचीन रोमन साम्राज्य के इतिहास से हो जाता है।

परन्तु इतिहास की सहायता सदा नहीं मिलती। ऐसी अवस्था में जब कि इतिहास का साक्ष्य नहीं मिल सकता, भाषाओं के संबन्ध आदि के समझने में हमें दूसरे देशों के भाषा संबन्धी इतिहास से, सादृश्य के नियम के आधार पर, बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। उदाहरणार्थ, जहाँ एक ओर भारतीय आर्य-भाषाओं का फ़ारसी, आर्मीनियन और अनेक यूरोपीय भाषाओं से संबन्ध स्पष्ट है, वहाँ दूसरी ओर उनका दक्षिण, पूर्व और उत्तर-पूर्व की अनार्य भाषाओं से कोई संबन्ध नहीं दिखलाई देता। इसका कारण अनेक विद्वानों की दृष्टि में यही हो सकता है कि हम दूसरे देशों की भाषाओं के इतिहास के सादृश्य पर यह कल्पना करें कि भारतीय आर्य उत्तर-पश्चिम से भारतवर्ष में आये थे। इस कल्पना का आधार सिवाय उपर्युक्त सादृश्य के और कुछ नहीं है, क्योंकि न तो यह बात किसी सम-कालीन इतिहास

ग्रीक भाषा का आधिपत्य भू-मध्य-सागर के आस-पास की आधी दुनियाँ पर जम गया था। रोमन साम्राज्य के दिनों, जब कि ग्रीस देश भी उसी के अन्दर था, ग्रीस देश में ही नहीं, किन्तु एशिया-माइनर, सीरिया और मिश्र देशों में भी राष्ट्र तथा वाणिज्य की भाषा ग्रीक ही थी। ग्रीको-बैक्ट्रियन राज्य (ईसा से पूर्व लगभग २५० से २५ तक) में भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर भी ग्रीक भाषा बोली जाती थी।

ग्रीक भाषा को इस प्रकार कुछ काल के लिये अनेक देशों में व्यवहृत होने के कारण एक 'संसार-भाषा' का पद मिल गया था। इसको इस पद से गिराने वाली लैटिन भाषा न थी। किन्तु सीरिया और मिश्र देश में अरबी भाषा ने और एशिया-माइनर तथा क़ुस्तुनतुनिया में, जो कि यूरोप के पूर्वीय बिज़ैन्टाइन साम्राज्य का केन्द्रस्थान था, तुर्की भाषा ने ही ग्रीक भाषा को उक्त पद से गिराया।

(२) डारिक ग्रीक। स्पार्टा के निवासियों की, जिनको लेसीडेमोनियन (Lacedaimonians) भी कहा जाता है, यह भाषा थी। ये लोग ग्रीस देश के दक्षिणी प्राय-द्वीप में पीछे से आकर बसे थे। अपने विस्तार के दिनों में यह भाषा लगभग समस्त पेलापोनीसुस (Peloponnesus) में, कुछ द्वीपों में और इटली के दक्षिण में ग्रीक लोगों की बस्तियों में बोली जाती थी। पिन्डर (Pindar) कवि के गीत, कुछ

में वर्णित है, और न अब तक प्राप्त हुए किसी स्मारक ही में अङ्कित है।

८—भाषाओं के परिवर्तन की गति

भाषा परिवर्तन-शील है; परन्तु उसके परिवर्तन की गति सर्वत्र और सदा एकसी नहीं होती। परिवर्तन के सहायक कारणों की परिस्थिति का सर्वत्र एक-सा न होना ही इसका कारण है। इसी लिये एक ही मूल-भाषा से निकली हुई भाषाओं में कोई प्राचीन रूप से बहुत परिवर्तित हो जाती हैं, और कोई औरों की अपेक्षा उसके अधिक समीप या सदृश होती हैं। इसी कारण से भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार की भाषाओं में किसी में विश्लेषणात्मकता के लक्षण कम और किसी में अधिक पाये जाते हैं। इसी कारण से एक ही देश की भाषा के इतिहास में कभी थोड़े काल में ही बहुत परिवर्तन हो जाता है, और कभी कभी चिरकाल तक वह लगभग एक ही स्वरूप में स्थिर रहती है।

उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी भाषा के इतिहास में पिछले तीन सौ वर्षों में जितना परिवर्तन हुआ है वह उनसे पहिले ५०० वर्षों में होने वाले परिवर्तन से बहुत कम है। उन ५०० वर्षों से भी पहिले ५०० सालों में तो इसका परिवर्तन बहुत ही अधिक हुआ था। इसी दृष्टि से आधुनिक जर्मन भाषा आधुनिक अंग्रेज़ी से अधिक प्राचीन ढंग की है। आइसलैंड की

खण्ड-काव्य और दुःखान्त नाटकों में 'कोरस' (या अनुपद) इस भाषा का मुख्य साहित्य है।

यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि ग्रीस देश की डोरियन आदि जातियाँ जिनका इतिहास में वर्णन है और जिनकी भाषायें ग्रीक भाषावर्ग में सम्मिलित हैं ग्रीस देश में सदा से रहने वाली न थीं। वे जिन स्थानों में जाकर बसीं वे चिरकाल पहिले दूसरी सभ्यता के केन्द्र रह चुके थे। उस प्राचीनतर सभ्यता को विद्वानों ने 'ईजियन सभ्यता' (Aegean Civilization) का नाम दिया है। इसी सभ्यता को 'मिनोन सभ्यता' (Minoan = प्राचीन Crete से संबन्ध रखने वाली) या 'मिसेनियन सभ्यता' (Mycenaean = दक्षिण ग्रीस के Mycenae नगर से संबन्ध रखने वाली) के नाम से भी पुकारा जाता है। ईजियन समुद्र के आस-पास के स्थानों में अनेक चिह्न इस सभ्यता के मिले हैं। क्रीट (Crete) द्वीप को इस सभ्यता का मूलस्थान बतलाया जाता है। इस सभ्यता की स्थिति लगभग तीन सहस्र वर्ष तक रही होगी, ऐसा पुरातत्त्व-वेत्ताओं का अनुमान है। इस सभ्यता की अनुगामी जाति के विषय में या उसकी भाषा के विषय में अब तक कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता।

७—ऐल्बैनियन भाषा

इस भाषा में प्राचीन साहित्य बिल्कुल नहीं है। ईसा की सत्रहवीं शताब्दी से ही कुछ साहित्य मिलता है, और वह

भाषा तो और भी कहीं अधिक प्राचीनता को लिये हुए है। इसी तरह आधुनिक ग्रीक भाषा प्राचीन ग्रीक भाषा से इतनी परिवर्तित नहीं है जितनी आज-कल की रोमांस भाषयें प्राचीन लैटिन से। दूर जाने की आवश्यकता नहीं। हमारी भारतीय आधुनिक आर्य-भाषाओं में ही सबके परिवर्तन की गति एकसी नहीं रही है। उदाहरणार्थ, बंगला में हिन्दी की अपेक्षा स्पष्टतया प्राचीनता की झलक अधिक है।

जिस भाषा में अपने ही परिवार से संबन्ध रखने वाली दूसरी भाषाओं की अपेक्षा, व्याकरणादि की दृष्टि से, प्राचीनता की झलक अधिक पाई जाती है उसको औरों की अपेक्षा अधिक प्राचीन ढङ्ग की भाषा कहा जाता है।

९—भाषा के विकास और परिवर्तन के प्रकार

बाह्य (या श्रवणीय या शब्द) और आभ्यन्तर (या अर्थ) भेद से भाषा के दो रूप हैं। इसलिये भाषा की वृद्धि, परिवर्तन या विकास भी सामान्यतः दो प्रकार का होना चाहिये।

(क) भाषा के बाह्य रूप में विकास और परिवर्तन

(१) भाषा के बाह्य रूप में वृद्धि का सबसे पहिला कारण बिल्कुल नये शब्दों का निर्माण हो सकता है। भाषा की प्रार-

प्राय: या तो दूसरी भाषाओं से अनुवाद किया गया है, या ईसाई पादरियों द्वारा लिखा गया है।

इस भाषा ने भाषा-विज्ञानियों का अच्छा ध्यान आकर्षित किया है। परन्तु प्राचीन साहित्य के न होने से इस भाषा के विवेचन में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। क्योंकि प्राचीन साहित्य के अभाव में शब्दों आदि का प्राचीन स्वरूप क्या था और उनका कैसे कैसे विकास हुआ, यह ठीक तरह निश्चय नहीं किया जा सकता। लैटिन, इटैलियन, ग्रीक, स्लैवोनिक और तुर्की भाषाओं के अनेकानेक शब्द इस भाषा में संमिलित हो गये हैं। इसलिये अनेक आधुनिक शब्दों के विषय में यह निश्चय करना कठिन है कि वे ऐल्बे-नियन भाषा के ही प्राचीन शब्दों से निकले हैं या दूसरी भाषाओं से उद्धृत शब्दों के रूपान्तर हैं। तो भी इसके स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह अपनी पड़ोसी भारत-यूरोपीय भाषाओं में से किसी की शाखा न होकर उनकी सम-कक्ष एक स्वतन्त्र भाषा है। वस्तुत: इसको भारत-यूरोपीय परिवार की एक स्वतन्त्र भाषा थोड़े दिनों से ही माना जाने लगा है।

८—इटैलिक भाषा-वर्ग

इस भाषा-वर्ग को लैटिन भाषा-वर्ग कहने में भी अधिक आपत्ति नहीं। क्योंकि इस भाषा-वर्ग की प्राचीन साहित्यिक

म्भिक अवस्था में अनुकरण-मूलक शब्दों के द्वारा भाषा के विकास का उल्लेख आगे (परिच्छेद ७ में) किया जायगा। उनके अतिरिक्त और भी ऐसे शब्द कल्पित किये जा सकते हैं जो एकान्ततः नये हों[1]। gas (गैस) शब्द ऐसा ही है (देखो पृ० ७७)। परन्तु इस प्रकार के शब्दों का निर्माण किसी भाषा के ऐतिहासिक समय में बहुत कम देखा जाता है। इसका कारण और और प्रकारों से शब्दों के निर्माण में अधिक सरलता का होना ही है।

(२) दूसरी भाषा से नये शब्दों के ले लेने से भी भाषा में कुछ न कुछ परिवर्तन होता है।[2] किसी भाषा के शब्द-

---

१ तु०—"चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः। जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः।... त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः। जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा इति। न सन्ति यदृच्छाशब्दाः।" (महाभाष्य, आह्निक २ 'ऋलृक्' सूत्र पर)। "अर्थगतं प्रवृत्तिनिमित्त-मनपेक्ष्य यः शब्दः प्रयोक्तृभिप्रायेणैव प्रवर्तते स यदृच्छाशब्दो डित्थादिः" (उक्त महाभाष्य पर कैयट कृत टीका)।

२—यहाँ पर मीमांसासूत्र (अ० १ पा० ३ अधि० ६) में 'म्लेच्छप्रसिद्धार्थप्रामाण्याधिकरण' देखो। माधवाचार्य न्यायमाला-विस्तर में इसी अधिकरण में कहते हैं:—

"तस्मादनार्यप्रसिद्ध्या पिकः कोकिलः, नेमशब्दोऽर्धवाची, तामरसशब्दः पद्मवाची इत्येवं द्रष्टव्यम्।"

भाषा लैटिन ही थी। लैटिन के ही किसी न किसी रूप से आधुनिक सारी इटैलिक (या 'रोमान्स') भाषायें निकली हैं। परन्तु तो भी इसके लिये 'लैटिन भाषावर्ग' यह नाम समुचित न होगा; क्योंकि प्राचीन समय में जब कि लैटिन भाषा इटली देश में बोली जाती थी लैटिन भाषा से संबन्ध रखने वाली पर उससे स्वतन्त्र आस्कन, अम्ब्रियन जैसी कुछ और भाषायें भी थीं, जिनका समावेश इटैलिक शब्द में तो हो सकता है, परन्तु लैटिन शब्द में नहीं हो सकता।

इटैलिक भाषा-वर्ग की लैटिन भाषा की समकक्ष प्राचीन भाषायें प्रायः चिर-काल से लैटिन और उससे निकली हुई भाषाओं के दबाव से नष्ट हो गईं। उनमें से मुख्य करके आस्कन और अम्ब्रियन इन दो भाषाओं के ही कुछ प्राचीन लेख अवशिष्ट हैं। आस्कन दक्षिण इटली में और अम्ब्रियन इटली के कुछ उत्तरीय भाग में बोली जाती थी। लैटिन भाषा के प्राचीन लेख ईसा से लगभग ३० वर्ष पूर्व तक के मिलते हैं। उनकी भाषा पिछली साहित्य की परिष्कृत लैटिन से बहुत कुछ भिन्न है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि प्राचीन काल में इटली देश में केवल इटैलिक भाषायें ही नहीं बोली जाती थीं। उनके अतिरिक्त उत्तर में केल्टिक, दक्षिण में ग्रीक और टस्कनी में एट्रस्कन (=एट्रूरिआ की प्राचीन भाषा) भाषा बोली

भण्डार के बढ़ने में यह एक बड़ा साधन होता है। हिन्दी, अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में सहस्रों शब्द दूसरी भाषाओं के ले लिये गये हैं। तो भी, इस प्रकार से भाषा में जो कुछ परिवर्तन होता है वह उसके वास्तविक स्वरूप का परिवर्तन नहीं कहा जा सकता। इसी कारण से इस प्रकार के परिवर्तन या शब्द-भण्डार के उपचय के द्वारा किसी भाषा के इतिहास के समझने या अनुसन्धान करने में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती।

(३) उपर्युक्त भावात्मक कारणों के साथ साथ एक अभावात्मक कारण भी हो सकता है। प्राय: प्रत्येक भाषा की ऐतिहासिक गवेषणा से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ अनेक नये शब्द भाषा में प्रचलित हो जाते हैं वहाँ अनेकानेक प्राचीन शब्द व्यवहार में आने बन्द हो जाते हैं (उदाहरणार्थ इसी परिच्छेद का अधिकरण ३ देखो)। कभी कभी तो अनेक प्राचीन शब्दों के, जो प्राचीन साहित्य में पाये जाते हैं, अर्थ का भी पता नहीं लगता। इसका कारण उनके प्रयोग की परम्परा का लुप्त हो जाना ही होता है।

(४) कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि किसी भाषा का एक शब्द विकृत या परिवर्तित होता होता दो (या अधिक) रूपों को धारण कर लेता है।[१] वे शब्द-रूप स्वतन्त्र शब्द

---

१ देखो परिच्छेद ६, अधिकरण ५

जाती थी। एट्रुस्कन कोई आर्य-भाषा न थी। अब तक इसका वर्गीकरण भी निश्चय-पूर्वक न हो सका है। रोमन लोगों ने अनेक रीति-रिवाज एट्रूरियन लोगों से लिये; परन्तु उन लोगों की भाषा जीवित न रहकर धीरे धीरे नष्ट हो गई।

एक छोटे-से राज्य के रूप से उन्नति करते करते रोम नगर ने रोमन साम्राज्य का रूप धारण किया। उसके अभ्युदय के साथ साथ लैटिन भाषा का भी विस्तार होता गया। दूसरी इटैलिक भाषाओं को दबाकर, इटैलिक भाषाओं से भिन्न केल्टिक आदि भाषाओं का स्थान भी लैटिन ने ले लिया। यही नहीं, विजयोन्मुखी रोमन सेनाओं के साथ फैलते फैलते लैटिन भाषा ने फ़्रांस की केल्टिक बोलियों को और स्पेन की आइबीरियन भाषा को अभिभूत कर धीरे धीरे नष्ट कर दिया, और यह उत्तर में ब्रिटेन तक और दक्षिण में अफ़्रीका के उत्तरीय भागों तक फैल गई।

रोमन सेनाओं और उनकी बस्तियों की कुछ विकृत लैटिन भाषा से ही आधुनिक फ़्रेंच, स्पैनिश, रूमानियन आदि भाषाओं की उत्पत्ति हुई। इन्हीं भाषाओं को रोमान्स भाषायें भी कहा जाता है। इन भाषाओं का कुछ वर्णन नीचे दिया जाता है।

(१) फ़्रेंच भाषा। इस भाषा का केन्द्र सदा से पैरिस नगर रहा है। इसी का दूसरा रूप प्रावेंशल भाषा है जो फ़्रांस के दक्षिण में बोली जाती है और अपना स्वतन्त्र साहित्य

मान लिये जाते हैं और उनका मौलिक संबन्ध भी स्पष्ट नहीं रहता। उनका प्रयोग भी भिन्न भिन्न अर्थों में होने लगता है। ऐसे शब्दों के आधार पर और नये शब्द बना लिये जाते हैं। अशुद्ध या मनमानी व्युत्पत्तियों के आधार पर नये शब्दों की रचना भी इसी प्रकार में आ जाती है।

(५) भाषा के बाह्य रूप के विकास का एक और प्रकार अनेक शब्दों के मेल से एक नये स्वतन्त्र शब्द का बन जाना है। पुराने शब्दों के सादृश्य पर प्राचीन शब्दों में आने वाले प्रत्यय नये शब्दों में जोड़ दिये जाते हैं, या कई स्वतन्त्र शब्दों के योग से एक नया शब्द बना लिया जाता है। उच्चारण-संबन्धी विकारों के हो जाने पर ऐसे शब्द कई शब्दों के योग से बने हैं इसकी भी प्रतीति नहीं रहती। अनेकानेक प्रत्यय इसी प्रकार कालान्तर में स्वतन्त्र शब्दों से बन जाते हैं।[1]

(६) इन सबके साथ साथ उच्चारण-संबन्धी परिवर्तन भाषा के बाह्य रूप के परिवर्तन या विकास में एक सर्व-प्रधान कारण है। प्रत्येक भाषा में यह नियम सदा काम करता है। इसी कारण से कालान्तर में शब्द अपने प्राचीन रूप को छोड़ नये रूप को धारण कर लेते हैं। दूसरी भाषा के शब्दों को अपनी भाषा का रूप देने में या अनेक स्पष्ट व्युत्पत्ति वाले शब्दों की रचना को अस्पष्ट कर देने में यही कारण होता है।

---

१ उदाहरणार्थ पृष्ठ ६६ तथा १०९ देखो

रखती है। : परन्तु प्रावेंशल भाषा फ्रेंच भाषा की बराबरी नहीं कर सकती। फ्रेंच भाषा पहिले फ्रांस के राज-दरबार की भाषा रही। यही फ्रांस के प्रजा-सत्तात्मक शासन की भाषा रही है। यही नहीं, इसको संसार-भाषाओं में से एक भाषा गिना जाता है।

(२) इटैलियन भाषा। यूरोपीय इतिहास के मध्य-काल के आरम्भ के दिनों में रोम के ऊपर जो आपत्तियाँ आईं उनके कारण इटली के प्राचीन-कालीन भाषा-विषयक आधिपत्य को भी धक्का लगा। इटली अनेक छोटी छोटी रियासतों में छिन्न भिन्न हो गई। इसी कारण उन छोटी छोटी रियासतों के मुख्य मुख्य नगरों में भिन्न भिन्न स्थानीय भाषाओं ने प्रधानता पा ली। ऐसी अवस्था में इटली के सबसे बड़े महाकवि दान्ते (Dante) का जन्म फ्लारेंस नगर में ईस्वी १२६५ में हुआ। इन्होंने अपनी कविता फ्लारेन्स की भाषा में ही की। इसके पीछे विद्या-संबन्धी पुनरुद्धार में भी फ्लारेन्स नगर ने बड़ा भाग लिया। इन सब कारणों से फ्लारेंटाइन या फ्लारेन्स की भाषा के साहित्यिक रूप को इटली देश की संस्कृति और सभ्यता की प्रधान भाषा का पद प्राप्त हुआ।

पुस्तकें और समाचारपत्र इटली देश में आज-कल मुख्यतया इसी फ्लारेन्स की भाषा में लिखे जाते हैं। ऐसा होने पर भी, शिक्षित लोगों में भी, भिन्न भिन्न स्थानों की बोल-चाल की भाषा में प्रादेशिक भेद पाया जाता है। उदाहरणार्थ,

यद्यपि साधारणतया वर्ण-विकार-संबन्धी नियमों का विस्तार नियत रूप से एक भाषा में पाया जाता है, तो भी किसी किसी अवस्था में उनका अपवाद देखा जाता है। ऐसे अपवाद जो किसी वर्ण-विकार-संबन्धी नियम के अन्दर नहीं आते शब्दों में मिथ्या-सादृश्य के द्वारा ही समझाये जा सकते हैं। इसका विचार नीचे अगले अधिकरण में किया जायगा।

(ख) भाषा के आभ्यन्तर रूप में विकास और परिवर्तन

भाषा के बाह्य रूप में परिवर्तन और विकास के साथ साथ उसके आभ्यन्तर रूप या अर्थांश में जो परिवर्तन या विकास होता है वह भी बड़े महत्त्व का है। दूसरी जातियों के संघट्ट से और अनेक प्रकार की उन्नति के साथ साथ कालान्तर में नये नये विचारों की प्रवृत्ति हो जाती है। अनेक प्राचीन विचारों में थोड़ा बहुत परिवर्तन हो जाता है। अनेक नये नये पदार्थों का आविष्कार हो जाता है। इन सबके लिये प्रायः पुराने शब्दों से ही काम लिया जाता है। वस्तुओं या विचारों में सादृश्य, सहचार[1] आदि किसी

---

१ तु०—"सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः" (न्यायसूत्र २।२।५९)।

वेनिस की बोल-चाल की भाषा नेपिल्स या मेसिना की बोल-चाल की भाषा से, शिक्षित लोगों में भी, बहुत कुछ भिन्न है। वस्तुतः यह भेद स्पैनिश या अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में जितना प्रादेशिक भेद पाया जाता है उससे अधिक है।

(३) **स्पैनिश और पोर्तुगीज़ भाषायें।** आइबीरियन प्रायद्वीप अर्थात् स्पेन और पोर्तुगाल का भी भाषा-विषयक इतिहास बड़ा जटिल है। स्पैनिश भाषा की प्रादेशिक भाषाओं में जितना परस्पर भेद है, स्पैनिश और पोर्तुगीज़ भाषाओं का परस्पर भेद उससे अधिक नहीं है। ऐसा होने पर भी, राजनैतिक कारणों से उपर्युक्त दोनों देशों में ये भाषायें यथाक्रम प्रधान मानी जाती हैं।

स्पेन देश के अतिरिक्त दक्षिणी अमरीका के अधिक भाग में व्यवहृत होने से स्पैनिश भाषा भी संसार-भाषाओं में से एक है।

(४) **रूमानियन भाषा।** यह भाषा डैन्यूब नदी पर बसी हुई रोमन बस्तियों की भाषा से निकली है। इसमें कुछ अति पुराने लक्षण अब भी पाये जाते हैं। इस भाषा पर स्लैव भाषाओं का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है।

९—भारतीय आर्य-भाषा-वर्ग और इटैलिक भाषा-वर्ग की समानतायें

भारतीय आर्य-भाषाओं के इतिहास के साथ इटैलिक भाषावर्ग का इतिहास अनेक समानतायें रखता है :—

संबन्ध के आधार पर पुराने शब्द ही बहुत करके नये नये विचारों और पदार्थों के लिये प्रयुक्त होने लगते हैं। ऐसे ही कारणों से अनेक सामान्यार्थक शब्द विशेषार्थक हो जाते हैं, और अनेक विशेषार्थक शब्द सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होने लगते हैं। उपचार या लक्षणा के कारण शब्दों के अर्थ का बदलना भी इन्हीं कारणों से होता है। उदाहरणार्थ, संस्कृत में 'गर्भिणी' शब्द सामान्यार्थक है, परन्तु हिन्दी में उसका विकृत 'गाभिन' केवल पशुओं के लिये प्रयुक्त होता है। 'गवेषणा' का प्रारम्भिक अर्थ 'गौ को ढूँढ़ना' या 'गौ की इच्छा' रहा होगा, परन्तु कालान्तर में यह शब्द 'ढूँढ़ना' इस सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। इसी प्रकार 'तिलानां विकारः' इस अर्थ में 'तिल' शब्द से बना हुआ 'तैल' शब्द 'सर्षपतैल' इत्यादि शब्दों में सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'प्रकृष्टो वीणायां प्रवीणः' मूल में इस अर्थ को रखनेवाला 'प्रवीण' शब्द 'कुशल' इस सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता है।[1]

१०—भाषा के बाह्य रूप में परिवर्तन के कारण

भाषा की परिवर्तन-शीलता के दिखलाने के साथ साथ परिवर्तन के कारणों पर विचार करना भी आवश्यक है। परन्तु यहाँ हम भाषा के केवल बाह्य रूप में परिवर्तन के

---

१ 'तैल' तथा 'प्रवीण' शब्दों के विषय में महाभाष्य ५।२।२९ पर कैयट की टीका देखो।

(१) दोनों में से प्रत्येक में साहित्य की एक ऐसी प्राचीन परिष्कृत भाषा (संस्कृत या लैटिन) वर्तमान है जो प्राचीन काल की बोलने की भाषा के बदल जाने पर भी शताब्दियों तक किसी न किसी रूप में व्यवहार में लाई जाती रही।

(२) संस्कृत और लैटिन दोनों ही शताब्दियों तक धर्म-गुरुओं, धर्म-शास्त्रियों और दूसरे विद्वानों के—जो भिन्न भिन्न प्रादेशिक बोलियों (जैसे फ्रेन्च और स्पैनिश आदि को यूरोप में, और भिन्न भिन्न सर्व-साधारण की भाषाओं को भारतवर्ष में) और भिन्न भिन्न भाषाओं (जैसे हंगैरियन, जर्मन आदि, और तामिल, महाराष्ट्री आदि) को बोलते थे—परस्पर व्यवहार की भाषायें रही हैं।

(३) संस्कृत की तरह लैटिन भी कुछ समय पहिले तक धर्म ,दर्शन और विज्ञान-विषयक साहित्य की भाषा थी।

(४) दोनों भाषा-वर्गों में प्राचीन भाषा का स्थान उससे निकली हुई अनेक आधुनिक भाषाओं ने ले लिया है।

(५) रोमान्स भाषाओं के विकास में जिस प्रकार के उच्चारण-तथा व्याकरण-संबन्धी परिवर्तन हुए हैं उसी प्रकार के परिवर्तन भारतीय प्राकृत भाषाओं के इतिहास में दिखलाये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, जैसे लैटिन भाषा के दो विभिन्न व्यञ्जनों के संयोग के स्थान में इटैलियन आदि भाषाओं में दो समान व्यञ्जनों का संयोग हो जाता है, इसी तरह का परिवर्तन संस्कृत से पालि में भी देखा जाता है; जैसे :—

कारणों पर विचार करेंगे। उन कारणों को हम दो भेदों में बाँट सकते हैं:—(१) असाक्षात्, और (२) साक्षात्।

(१) **असाक्षात् कारण** हम उन सहायक कारणों को कहते हैं जो नीचे दिखलाये गये सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक, दूसरे शब्दों में स्वाभाविक, कारणों के व्यापार के प्रभाव में भेद डाल देते हैं। इस दृष्टि से हम इनको **आनुषङ्गिक कारण** भी कह सकते हैं। जल-वायु का भेद, भिन्न भिन्न भाषाओं को बोलने वाली जातियों का परस्पर संघट्ट इत्यादि कारणों को साक्षात् कारण न कहकर असाक्षात् कहने का यह अभिप्राय है कि इन कारणों के अभाव में भी भाषा की परिवर्तन-शीलता का प्रवाह चलता ही रहता है। तो भी असाक्षात् कारणों का बिल्कुल ही अभाव हो ऐसा साधारणतया नहीं देखा जाता।

असाक्षात् कारणों से भाषा की परिवर्तन-शीलता पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जब एक जाति दूसरी जाति पर अपना आधिपत्य जमाती है तो स्वभावत: भाषा में परिवर्तन बड़ी तेज़ी से होते हैं। एक विदेशी जाति दूसरी जाति के उच्चारण को ठीक ठीक नहीं समझ सकती; और दो विभिन्न जातियों के लोगों के उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों की बनावट के एकसे न होने से वे एक दूसरे की भाषा का ठीक ठीक उच्चारण भी नहीं कर सकते। इस प्रकार भाषा के बाह्य या ...णीय रूप में भेद हो जाना स्वाभाविक होता है।

लैटिन	इटैलियन	संस्कृत	पालि
septem	sette	सप्त (-न्)	सत्त
octo	otto	अष्ट (-न्)	अट्ठ

परन्तु उपर्युक्त समानताओं के साथ साथ यह भी स्मरण रहे कि जहाँ इटैलिक भाषाओं की भिन्न भिन्न ऐतिहासिक अवस्थाओं को दिखलाने वाले उनके समकालीन प्राचीन लेख विस्तार से मिलते हैं, जिनके आधार पर बहुत अंश तक उनके एक शताब्दी से दूसरी शताब्दी में तथा प्रान्त-भेद से होने वाले परिवर्तनों को आसानी से बतलाया जा सकता है, वहाँ भारतीय आर्य-भाषाओं के विषय में, जिनका विस्तार काल की दृष्टि से इटैलिक भाषाओं की अपेक्षा कहीं अधिक है, लेखबद्ध सम-कालीन साक्ष्य कम मिलता है।

उपर्युक्त विकास-संबन्धी समानता के आधार पर ही यह स्पष्ट है कि भारतीय आर्य-भाषाओं के इतिहास में जहाँ कहीं प्राचीन लेख-बद्ध साक्ष्य की कमी है उसकी पूर्त्ति बहुत अंश तक इटैलिक भाषाओं की परम्पराबद्ध ऐतिहासिक दशाओं के ज्ञान से की जा सकती है।

१०—केल्टिक भाषा-वर्ग

इस भाषा-वर्ग से संबन्ध रखने वाली भाषायें आज-कल यूरोप के सबसे पश्चिमी छोर में पाई जाती हैं। परन्तु इस का प्रमाण मिलता है कि किसी समय यूरोप के दूसरे

और भागों में भी इस वर्ग की भाषायें बोली जाती थीं। इस वर्ग से संबन्ध रखने वाली भाषायें इस प्रकार हैं:—

(१) **प्राचीन गालिश** (Old Gaulish)। यह रोम के सम्राट् प्रथम सीज़र (Caesar) के समय में बोली जाती थी। इस भाषा के कुछ शब्द ग्रीक और रोमन लेखकों के लेखों में पाये जाते हैं। कुछ शिला-लेखों और सिक्कों में भी यह पाई जाती है।

(२) **आइरिश**। इसको एर्स (Erse) भी कहा जाता है। यह अब भी आइरलैण्ड के पश्चिमी किनारे पर बोली जाती है। इस में मध्य-कालीन साहित्य बहुत कुछ विद्यमान है। आइरलैण्ड में आज-कल इस भाषा के पुनरुद्धार की बड़ी चेष्टा हो रही है। अब तक इस देश में अंग्रेज़ों के राजनैतिक प्राधान्य के कारण इस भाषा को बड़ा धक्का लगा; परन्तु अब बोलने और पढ़ने में इसके प्रचार के आधिक्य के लिये बड़ा आन्दोलन जारी है।

(३) **वेल्श**। आइरलैण्ड में आइरिश की अपेक्षा वेल्स में वेल्श भाषा का अधिक प्रचार है। मध्य-कालीन साहित्य इसमें भी अच्छा ख़ासा मौजूद है। आज-कल भी इसमें साहित्य लिखा जावे इस बात का उत्साह दिलाया जाता है। अपनी जातीय भाषा की रक्षा का भाव वेल्स में भी बहुत है।

(४) **मैङ्क्स** (Manx)। यह भाषा इंग्लैण्ड के मैन द्वीप (Isle of Man) में ही पाई जाती है।

(५) **गेलिक** (Scotch Gaelic)। इसमें साहित्य की मात्रा नहीं के बराबर है। इसका आइरिश भाषा से घनिष्ठ संबन्ध है। यद्यपि अंग्रेज़ी के प्रभाव से इसका विस्तार घटता जाता है, तो भी स्काटलैण्ड के पहाड़ी प्रदेश में यह अब भी जीवित है। किन्हीं किन्हीं ज़िलों में यह भाषा अब भी पाठशालाओं में और धार्मिक प्रार्थना आदि करने के काम में लाई जाती है।

(६) **ब्रेटन भाषा** (Breton)। फ़्रांस के ब्रिटैनी प्रदेश की भाषा को ब्रेटन कहते हैं। इसका दूसरा नाम **आर्मोरिकन** भी है। ब्रिटैनी का ही प्राचीन नाम आर्मोरिका (Armorica) था। इसके विषय में यह समझा जाता है कि ४००—६०० ई० के लगभग इंग्लैण्ड के कार्नवाल प्रदेश से यह ब्रिटैनी में ले जाई गई। यह नीचे वर्णन की गई कार्निश भाषा से बहुत मिलती-जुलती है। इसकी अपने प्रदेश में बहुत कुछ ऐसी ही दशा है जैसी गेलिक की स्काटलैण्ड में।

(७) **कार्निश** (Cornish)। यह भाषा कुछ समय पहिले कार्नवाल में बोली जाती थी। परन्तु पिछली शताब्दी के प्रारम्भ से बोल-चाल की भाषा के रूप से बिल्कुल नष्ट हो चुकी है। तो भी इसमें कुछ मध्य-कालीन साहित्य वर्तमान है।

केल्टिक भाषा का जिसमें विकास हुआ वह कौनसी जाति थी? इस प्रश्न पर विद्वानों में बहुत वाद-विवाद रहा है। यहाँ पर केवल इस बात का उल्लेख कर देना चाहिये कि ग्रेटब्रिटेन के निवासियों का वह भाग जिसको आज-कल केल्टिक नाम दिया जाता है, जिसमें कुछ कुछ साँवलापन पाया जाता है, और जिसमें केल्टिक भाषाओं का अवशिष्ट रूप मिलता है, बहुत करके केल्टिक भाषाओं को ग्रेटब्रिटेन में लानेवाली जाति नहीं है। यह बहुत संभव है कि यह केल्टिक लोगों से भी पुरानी एक आर्येतर जाति हो जिसने केल्टिक लोगों की भाषा को अपना लिया था। कुछ विद्वानों का कहना भी है कि वेल्श भाषा की कुछ विशेषताओं में एक प्राचीन आर्येतर भाषा के चिह्न दिखलाई देते हैं।

११—केल्टिक और इटैलिक भाषाओं की समानतायें

केल्टिक और इटैलिक भाषाओं में कुछ ऐसी समानतायें दिखलाई देती हैं जिनके कारण इन दोनों भाषा-वर्गों की भाषाओं में अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं की अपेक्षा अधिक घना संबन्ध प्रतीत होता है। भारत-यूरोपीय मूल-जाति से पृथक् होकर उपर्युक्त दोनों जातियाँ कुछ काल तक अवश्य इकट्ठी रही होंगी। यही कारण उनकी समानता का हो सकता है। इसी कारण से इन दोनों भाषा-वर्गों को वस्तुतः

एक ही वर्ग में सम्मिलित किया जा सकता है, जिसको हम **इटैलो-केल्टिक भाषा-वर्ग** कह सकते हैं। ऐसा होने पर भी, कुछ समानताओं को छोड़कर, उच्चारण-संबन्धी परिवर्तनों के कारण दोनों का घना संबन्ध सदा स्पष्ट दिखलाई नहीं देता।

एक स्पष्ट समानता का वर्णन करना यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा। केल्टिक और इटैलिक दोनों भाषा-वर्गों के दो अवान्तर भेद किये जा सकते हैं, जिनमें से एक भेद में कण्ठ-स्थानीय स्पर्शों के स्थान में ओष्ठ-स्थानीय स्पर्श देखे जाते हैं। निम्न-लिखित उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जावेगी:—

गेलिक	आइरिश	वेल्श	प्राचीन वेल्श
mac (=पुत्र)	mac	mab	map

कार्निश	ब्रेटन
mab	map, mab

गेलिक	आइरिश	वेल्श	प्राचीन वेल्श
cóig (=पाँच)	cúig	pump	pimp

कार्निश	ब्रेटन	गालिश
pymp	pemp	pempe
लैटिन	**आस्कन**	**ग्रीक**
quinque	pomtis	pénte

गेलिक	आइरिश	वेल्श
ceithir (=चार)	ceithre	pedwar
कार्निश	ब्रेटन	गालिश
peswar	pevar	petor·,* qetveres
लैटिन	आस्कन	ग्रीक
quatuor	petora	téttares

लैटिन	आस्कन
quis (=कौन)	pis
quod (=क्योंकि)	pod

उपर्युक्त pénte उदाहरण से यह स्पष्ट है कि कण्ठ-स्थानीय स्पर्श के स्थान में ओष्ठ-स्थानीय स्पर्श हो जाने की प्रवृत्ति कुछ ग्रीक भाषा में भी देखी जाती है; जैसे:—

ग्रीक	ग्रीक का प्रादेशिक भेद
híppos (= घोड़ा)	íkkos
pénte (= पाँच)	
boûs	संस्कृत 'गौः'

लैटिन bos (=गौः) एक इटैलिक प्रादेशिक भाषा से उद्धृत किया गया है।

१२—ट्यूटानिक भाषा-वर्ग

यूरोप की भारत-यूरोपीय परिवार की दूसरी भाषाओं की अपेक्षा ट्यूटानिक भाषा-वर्ग के साथ भारतीय आर्य-भाषाओं का वस्तुतः विशेष संबन्ध न होने पर भी राजनैतिक दृष्टि से आज-कल विशेष संबन्ध अवश्य ही है। अंग्रेज़ी, जिसका प्रचार भारतवर्ष में आज-कल खूब हो रहा है, इसी भाषा-वर्ग से सम्बन्ध रखती है। इसके अतिरिक्त, संस्कृत की सहायता से भाषा-विज्ञान की उन्नति में इसी भाषा-वर्ग की भाषाओं को बोलने वाले विद्वानों ने (विशेषकर जर्मन विद्वानों ने) जितना भाग लिया है उतना दूसरे भाषा-वर्गों की भाषाओं को बोलने वालों ने नहीं। इन कारणों से भारतीय विद्यार्थियों के लिये यह भाषा-वर्ग अवश्य कुछ विशेषता रखता है।

इन बातों को छोड़कर यदि देखा जावे तो प्रतीत होगा कि यह भाषा-वर्ग भारत-यूरोपीय परिवार का एक आदर्श-रूप न होकर अपवाद-रूप है। इसी लिये भाषा-विज्ञान के प्रारम्भिक अध्ययन के लिये अधिक उपयोगी नहीं है।

इस वर्ग की सारी भाषाओं को निम्न-लिखित तीन अवान्तर भेदों में बाँटा जा सकता है :—

(१) गाथिक (Gothic) भाषा। यह भाषा चिरकाल से अब नहीं बोली जाती। इसके ज्ञान के लिये हमारे पास केवल ईसा की चौथी शताब्दी में उल्फ़िलास (Ulfilas,

३११—३८१ ईस्वी) नामक एक बिशप के किये हुए बाइबिल के अनुवाद के कुछ भाग हैं। उस समय पश्चिमीय गाथ लोग (the West Goths), जिनके लिये यह अनुवाद किया गया था, डैन्यूब नामक नदी के उत्तरीय किनारे पर बसे हुए थे।

(२) स्कैण्डिनैवियन भाषायें। इनमें डैनिश(=डेनमार्क देश की भाषा), स्वीडिश (=स्वीडन देश की भाषा), नार्वेजियन (=नार्वे देश की भाषा), और आइसलैण्डिक (=आइसलैण्ड की भाषा) ये भाषायें सम्मिलित हैं। समस्त आधुनिक ट्यूटानिक भाषाओं में आइसलैण्डिक में सबसे अधिक प्राचीन ढंग पाया जाता है। इसी भाषा में मध्य-काल के आरम्भ का कुछ पौराणिक कथाओं का साहित्य भी है जिसको सैगा (Saga) साहित्य कहा जाता है। इसके अतिरिक्त इन भाषाओं से सम्बन्ध रखने वाले कुछ छोटे छोटे प्राचीन खुदे हुए लेख भी हैं जो ईसा की पाँचवीं शताब्दी के लगभग पुराने बतलाये जाते हैं।

कभी कभी गाथिक भाषा और स्कैण्डिनैवियन भाषाओं को पूर्वीय जर्मैनिक भाषाओं के नाम से एक वर्ग में ही सम्मिलित कर दिया जाता है।

(३) पश्चिमी जर्मैनिक भाषायें। इन भाषाओं को दो अवान्तर भेदों में बाँटा जाता है :—

(क) उत्तरीय-(या निम्न-) जर्मन-सम्बन्धी भाषायें।

इनमें अंग्रेज़ी, विशेषकर प्राचीन अंग्रेज़ी (या ऐङ्गलो-सैक्सन), डच (=हालैण्ड की भाषा), फ़्लीमिश (=हालैण्ड और बेल्जियम के कुछ भागों की या फ़्लैण्डर्स की भाषा), फ़्रिज़ि-यन (=उत्तरीय जर्मनी की एक भाषा), और उत्तरीय जर्मनी की कुछ और प्रादेशिक बोलियाँ सम्मिलित हैं। जर्मनी का उत्तरीय प्रदेश दक्षिण की अपेक्षा नीचा होने से वहाँ की भाषा को निम्न-जर्मन (Low German) कहा जाता है। इसी के प्राचीन रूप को प्राचीन सैक्सन कहा जाता है।

इन भाषाओं में से डच और विशेषकर अंग्रेज़ी आधुनिक उत्कृष्ट साहित्य की भाषायें हैं। ऐंग्लो-सैक्सन भाषा में लिखा हुआ ब्योवुल्फ़ (Beowulf) नामक काव्य इन भाषाओं में सबसे प्राचीन पुस्तक समझी जाती है। इस उप-भेद की कुछ और भाषाओं में भी मध्य-काल का कुछ साहित्य वर्तमान है। इन भाषाओं में अंग्रेज़ी के आज-कल सर्व-प्रधान होने से इनको अंग्रेज़ी-संबन्धी भाषाओं के नाम से भी पुकारा जा सकता है।

(ख) दक्षिणीय (या उच्च-) जर्मन भाषायें। इस उपभेद में दक्षिणीय जर्मनी की बोलियाँ और आज-कल की प्रधान जर्मन भाषा सम्मिलित हैं। उच्च-जर्मन के भिन्न भिन्न प्रादेशिक भेदों में लगभग ईसा की आठवीं शताब्दी तक का पुराना कुछ साहित्य भी है। उच्च-जर्मन ही जर्मनी देश की

चिर-काल से साहित्यिक भाषा रही है। दक्षिणीय जर्मनी के पहाड़ी प्रदेश होने से यहाँ की भाषा को उच्च-जर्मन (High German) कहा जाता है।

इन दोनों (क और ख) उपभेदों में जो उच्चारण-संबन्धी रिश्ता है उसका वर्णन नीचे ग्रिम महाशय के नियम में किया जावेगा।

१३—बाल्टिक-स्लैवोनिक भाषा-वर्ग

जैसा इसके नाम से ही स्पष्ट है इस भाषा-वर्ग में भाषाओं के दो वर्ग सम्मिलित हैं। परन्तु ऊपर वर्णन किये गये भारत-ईरानी तथा इटैलो-केल्टिक वर्गों की तरह इन दोनों में इतना घनिष्ठ संबन्ध है कि दोनों का वर्णन एक साथ ही किया जाता है।

(१) **बाल्टिक भाषा-वर्ग**। इसमें लिथुआनियन, लेटिश, और प्राचीन प्रुशियन सम्मिलित हैं। इनमें से लिथु-आनियन और लेटिश रूस के पश्चिम में कुछ प्रदेशों में अब भी बोली जाती हैं; परन्तु प्राचीन प्रुशियन ईसा की सत्रहवीं शताब्दी से बोलने में बिल्कुल नहीं आती। इन भाषाओं में कोई महत्त्व का साहित्य नहीं है। तो भी भाषा-विज्ञानियों की दृष्टि में लिथुआनियन एक महत्त्व की भाषा है, क्योंकि इसके शब्दों में अक्सर प्राचीनता के लक्षण पाये जाते हैं। दूसरे शब्दों में, इसके शब्दों में प्राचीन समय से बहुत कम परिवर्त्तन हुए हैं। लिथुआनियन भाषा में प्राचीनता की

झलक के अधिक पाये जाने से ही किन्हीं किन्हीं विद्वानों ने बाल्टिक समुद्र के तट के आस-पास की भूमि को ही भारत-यूरोपीय आर्य-जातियों का मूल-स्थान सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। परन्तु और प्रमाणों का सहारा लिये बिना केवल भाषा में प्राचीनता की झलक होना कोई प्रबल प्रमाण इस बात का नहीं हो सकता। जैसा ऊपर कहा है, ट्यूटानिक भाषाओं में आइसलैण्ड की भाषा में सबसे अधिक प्राचीनता के लक्षण पाये जाते हैं; तो भी ऐसा कोई नहीं कहता कि आइसलैण्ड ट्यूटानिक जातियों का मूल-स्थान था।

(२) स्लैवोनिक भाषा-वर्ग । इसमें अनेक भेदों के सहित रूसी भाषा, पोलिश, चेक (Czech) या बोहीमियन (=बोहीमिया की भाषा), और बल्गैरियन आदि भाषायें सम्मिलित हैं।

स्लैवोनिक भाषाओं का यूरोप में भी अधिकतया विद्वानों को ज्ञान नहीं है। उनका साहित्य प्रायः आधुनिक ही है। इन भाषाओं का सबसे प्राचीन स्वरूप प्राचीन बल्गैरियन (या Church Slavonic) में लिखे हुए ईसाई धर्म से संबन्ध रखने वाले कुछ साहित्य के द्वारा सुरक्षित है। इसको ईसा की नवीं शताब्दी तक का पुराना बतलाया जाता है। नवीं शताब्दी के मध्य-भाग में इसी भाषा में बाइबिल का अनुवाद किया गया था। रूसी भाषा में तुर्की या तारतारी शब्दों का बहुत संमिश्रण हुआ है।

उपर्युक्त भाषायें और उनमें भी विशेषकर रूसी भाषा अब भी संश्लेषणात्मक अवस्था में हैं। इस दृष्टि से ये भाषायें सामान्यतः भारत-यूरोपीय परिवार के दूसरे वर्गों की आधुनिक भाषाओं की अपेक्षा अधिक प्राचीनता को लिये हुए हैं।

१४—टोखारिश भाषा

इस प्राचीन भाषा का कुछ जर्मन विद्वानों ने पूर्वीय तुर्किस्तान में सन् १९०२—३ और १९०४—५ ईस्वी की अपनी यात्रा में पता लगाया था। प्राचीन ग्रीक लोगों ने भी एक 'तोख़ारोइ' नामक जाति का वर्णन किया है। ग्रियर्सन महाशय के कथनानुसार[1] महाभारत (हरिवंश) में एक 'तुखार' जाति का वर्णन है। इसके शब्दों के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

संस्कृत	टोखारिश
पितृ	pācar
मातृ	mācar
भ्रातृ	pracar
वीर	wir
श्वन्	ku

[1] देखो :— *Indian Antiquary*, जिल्द ४३, पृष्ठ १४६

१५—परस्पर संबन्ध के तारतम्य के अनुसार उपर्युक्त भाषावर्गों का वर्गीकरण

उपर्युक्त भाषा-वर्गों के, परस्पर संबन्ध के तारतम्य के अनुसार, वर्गीकरण के प्रश्न के ऊपर बहुत कुछ विचार किया गया है। इस प्रश्न का संबन्ध वस्तुतः इन भाषाओं और इनको बोलने वाली जातियों के उस प्राचीनतर इतिहास से है जो भारत-यूरोपीय मूल-भाषा तथा मूल-जाति से पृथक् होने के बाद इनका रहा है।

भारत-ईरानी भाषा-वर्ग

जैसा ऊपर कहा है, भारतीय आर्य-भाषाओं और ईरानी भाषाओं के प्राचीन स्वरूपों में इतना घनिष्ठ संबन्ध है कि यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि इतिहास में एक ऐसा समय रहा है, जिसको हम भारत-ईरानी कह सकते हैं, और जिस समय एक ऐसी भाषा बोली जाती थी जिससे इन दोनों का निकास हुआ है। इसी लिये इन दोनों वर्गों को इकट्ठा करके आर्य-भाषा-वर्ग या भारत-ईरानी भाषा-वर्ग का नाम प्रायः दिया जाता है।

इटैलो-केल्टिक भाषा-वर्ग

इसी प्रकार, जैसा ऊपर कह चुके हैं, केल्टिक और इटैलिक भाषाओं की समानता के आधार पर विद्वानों ने दोनों

की मूल-भूत एक इटैलो-केल्टिक भाषा थी इस बात की कल्पना की है।

बाल्टिक-स्लैवोनिक भाषा-वर्ग

बाल्टिक और स्लैवोनिक भाषाओं का तो, घनिष्ठ संबन्ध के कारण, ऊपर एक वर्ग में ही वर्णन किया गया है।

सतम्-वर्ग और केन्टुम्-वर्ग

परन्तु यदि हम इन सारी भाषाओं को बड़े बड़े केवल दो वर्गों में बाँटना चाहें तो सबसे अधिक स्पष्ट विशेषता, जिसके आधार पर ऐसा किया जा सकता है, उन शब्दों में पाई जाती है जिनमें, एक ही वर्ण के स्थान में, ग्रीक भाषा में 'क्' और संस्कृत में 'श्' देखा जाता है। उदाहरणार्थ; निम्न-लिखित शब्दों को देखना चाहिये :—

संस्कृत	ग्रीक
शतम्	he-katón
शुनः	kunós
श्वा (श्वन्)	kúōn
दश	déka
श्रुतः	klutós
अश्मा (अश्मन्)	ákmōn

द्दर्श	dédorka
वेशः (=घर)	oịkos
शिरः	kéras (=सींग)

इसी विशेषता के आधार पर समस्त भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार को दो भागों में बाँटा जा सकता है। इस उच्चारण-संबन्धी विशेषता के नियम को इस तरह वर्णन किया जा सकता है :—

भारत-यूरोपीय परिवार की मूल-भाषा के कुछ कण्ठ-स्थानीय वर्ण (='क्' आदि) इस भाषा-परिवार के एक भाग में तो एक ऊष्मा (='श्' आदि) के रूप में पाये जाते हैं, परन्तु दूसरे भाग में कण्ठ-स्थानीय स्पर्श के ही रूप में देखे जाते हैं।

इस नियम का बड़ा अच्छा उदाहरण भिन्न भिन्न भाषाओं में सौ के अर्थ में प्रयुक्त शब्द के द्वारा मिलता है, इसलिए उपर्युक्त दोनों भागों को क्रम से **सतम्-वर्ग** (=Satəm or Satem Section) और **केन्टुम्-वर्ग** (=Centum[1] Section) कहा जा सकता है। satəm और centum क्रम

---

[1] प्राचीन समय में साहित्यिक लैटिन भाषा में c का उच्चारण सदा 'क्' होता था।

से ज़िन्द और लैटिन भाषा के शब्द हैं। इन दोनों भाषाओं को क्रम से दोनों भागों का नमूना माना जा सकता है।

इस नियम के अनुसार—

(१) भारतीय, (२) ईरानी, (३) आर्मीनियन, (४) बाल्टिक-स्लैवोनिक, और (५) ऐल्बैनियन भाषाओं का संबन्ध सतम्-वर्ग से है ;

और (१) ग्रीक, (२) इटैलिक, (३) केल्टिक, (४) ट्यूटानिक, तथा (५) टोखारिश भाषाओं का समावेश केन्टुम्-वर्ग में होता है।

यह स्पष्ट है कि इनमें से द्वितीय वर्ग का संबन्ध अधिकतर पश्चिमीय या यूरोप की भाषाओं से है, और प्रथम वर्ग का अधिकतर पूर्वीय या एशिया की भाषाओं से। इस कारण से प्रथम वर्ग को कोई कोई पूर्वीय वर्ग और द्वितीय को पश्चिमीय वर्ग भी कहते हैं।

नीचे दिये हुए उदाहरणों से दोनों भागों का भेद स्पष्ट हो जावेगा :—

(क)

संस्कृत 'शतम्', प्राकृत 'सदं'; 'सअं', हिन्दी 'सौ'; ज़िन्द 'सतम्', फ़ारसी 'सद'; लिथुआनियन szimtas (sz=श्), प्राचीन बल्गेरियन sŭto, रूसी sto;

(ख)

ग्रीक he-katón, लैटिन centum, इटैलियन cénto, स्पैनिश ciénto, फ्रेञ्च cent; आइरिश ceud, गेलिक ceud, वेल्श cant, ब्रेटन kant; गाथिक hund[1], प्राचीन उच्च-जर्मन hunt, जर्मन Hnnd-ert, अंग्रेज़ी hund-red; टोखारिश kandh.

(क)

संस्कृत 'दश (-न्)', प्राकृत 'दस', हिन्दी 'दस'; ज़िन्द 'दस', फ़ारसी 'दह'; आर्मीनियन tasn; लिथुआनियन deszimt, रूसी desit;

(ख)

ग्रीक déka; लैटिन decem, इटैलियन diéci, स्पैनिश diéz, फ्रेंच dix; आइरिश deich, गेलिक deich, वेल्श deg, ब्रेटन dec; गाथिक taihun प्रा० उ०-जर्मन zehan, जर्मन zehn, अंग्रेज़ी ten.

(क)

सं० 'श्वा' (श्वन्); ज़ि० 'स्प', फ़ा० 'सग'; लिथु० szu, रू० suka = कुत्ती, sobāka = कुत्ता;

---

१ ट्यूटानिक भाषाओं में ऐसे उदाहरणों में 'ह्' भारत-यूरोपीय 'क्' का स्थानीय है।

(ख)

ग्री० kúōn; लै० canis, फ्रे० chien; आइ० cu, गे० cu, वे० ci, ब्र० ki; जर्म० Hun, अंग्रे० hound; टोखा० ku.

जैसा ऊपर कहा है, भारत-यूरोपीय भाषाओं के उपर्युक्त दो भागों के लिये क्रम से 'सतम्-वर्ग' तथा 'केन्टुम्-वर्ग' का नाम दिया गया है। इन नामों से इन दोनों भागों की एक और विलक्षणता का पता लगता है। भारत-यूरोपीय मूल-भाषा के स्वरात्मक 'न्' या 'म्' (n̥, m̥) के स्थान में साधारणतया केन्टुम्-वर्ग में एक अनुनासिक स्पर्श ('न्' आदि) तथा एक स्वर देखा जाता है; परन्तु सतम्-वर्ग की भाषाओं में अनुनासिक अंश का सामान्यतः लोप हो जाता है और केवल निरनुनासिक स्वर शेष रहता है; जैसे :—

संस्कृत 'दश', लैटिन decem, गाथिक taihun, भारत-यूरोपीय मूल-भाषा *dékm̥

सं० 'सप्त', लै० septem. भारत-यूरोपीय मूल-भाषा *septn̥

सं० 'शतम्', लै० centum, गाथि० hund, भा०-यू० मू०-भा० *kmtóm

सं० 'ततः', लै० tentus, भा०-यू० मू०-भा० *tntós

१६—ग्रिम महाशय का नियम

(क) जर्मैनिक भाषाओं का 'प्रथम वर्ण-परिवर्तन'

ग्रिम महाशय के नियम के विषय में कुछ थोड़ी-सी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। यहाँ इसका कुछ विशेष विचार किया जायगा। इस नियम का संबन्ध मुख्यतः नियम से देखे जाने वाले कुछ ऐसे वर्ण-परिवर्तनों से है जो एक ओर संस्कृत, ग्रीक आदि भाषाओं में और दूसरी ओर जर्मैनिक या ट्यूटानिक भाषाओं में पाये जाते हैं। जैसा ऊपर कहा है, पहिले-पहिल इस नियम का पूर्ण तथा वैज्ञानिक रीति से प्रतिपादन ग्रिम महाशय ने किया था। इसी लिये यह उनके नाम से प्रसिद्ध है।

यह हम देख चुके हैं कि संस्कृत 'प्' के स्थान में अंग्रेज़ी में f पाया जाता है। ट्यूटानिक भाषा-परिवार से संबन्ध रखने वाली भाषायें ही अंग्रेज़ी से इस बात में समानता रखती हैं। जैसे :—

संस्कृत 'पिता', लैटिन pater, प्राचीन इंग्लिश faeder, गाथिक fadar, जर्मन Vater, डच vader या vaar.

सं० 'प्र', लै० pro-, गाथिक fra-, ग्रीक pró

सं० 'पादः', लै० pes, प्रा० इंग्लिश fot, गाथि० fotus, ग्रीक poús

दूसरे स्पर्शों का संबन्ध इस प्रकार है :—संस्कृत 'त्' के स्थान में अंग्रेज़ी में th देखा जाता है (इसका उच्चारण three और brother में भिन्न भिन्न तरह से होता है)। उदाहरणार्थ :— सं० 'त्रि' या 'त्रयः', ग्रीक treis, लै० tres, प्राचीन इंग्लिश thrī, गाथिक *threis, रूसी tri.

इस शब्द में ग्रीक, लैटिन, केल्टिक, रूसी, और लिथुआनियन में 'त्' ही देखा जाता है। गाथिक, ऐङ्ग्लो-सैक्सन (=प्राचीन इंगलिश) और आइसलैण्डिक में th, और जर्मन तथा डच भाषाओं में d मिलता है।

संस्कृत 'क्' के स्थान में अंग्रेज़ी में h या hw (=wh) देखा जाता है। जैसे :—

सं० 'कः', ऐङ्ग्लो-सैक्सन (=प्रा० इंगलिश) hwā, आधुनिक इंगलिश who, लैटिन quis

---

वैदिक सं० 'कद्', ऐं० सै० hwœt, आ० इं० what, लैटिन quod

जैसा ऊपर दिखलाया है, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं में जहाँ k पाया जाता है वहाँ प्रायः संस्कृत में 'श्' हो जाता है। उन स्थलों में भो अंग्रेज़ो में h ही पाया जाता है। जैसे :—

संस्कृत	अंग्रेज़ी
श्वन्	hound
शत	hundred
शिरस्	horn (=सींग)

इस प्रकार संस्कृत या ग्रीक p, t, k इन अघोष स्पर्शों के स्थान में अंग्रेज़ो में क्रम से f, th, h देखे जाते हैं। परन्तु संस्कृत आदि भाषाओं के सघोष स्पर्शों के स्थान में हम अंग्रेज़ी में अघोष स्पर्शों को पाते हैं। जैसे :—

संस्कृत	अंग्रेज़ी
गो	cow
द्वि	two
अद्मि	(I) eat
युग	yoke
दशन्	ten

इसी प्रकार संस्कृत के सघोष महाप्राण स्पर्शों के स्थान में अंग्रेज़ी में सघोष अल्पप्राण स्पर्श देखे जाते हैं। जैसे :—

संस्कृत	अंग्रेज़ी
भ्रातृ	brother
भरामि	(I) bear
भ्रू	eye-brow
धा	do
धिति	deed
हंस (ह् < घ्)	goose

ऊपर जहाँ जहाँ अंग्रेज़ी का नाम लिया है वहाँ वहाँ निम्न-जर्मन भी कह सकते हैं। वस्तुतः उच्च-जर्मन को छोड़कर, जिसके विषय में नीचे लिखा जावेगा, अन्य गाथिक आदि ट्यूटानिक भाषाओं में उक्त नियम प्रायः पाये जाते हैं।

उपर्युक्त स्पर्श व्यञ्जनों के संबन्ध को मोटी रीति से संक्षेप में इस तरह निर्देश कर सकते हैं :—

संस्कृत आदि में	P. T. K.	B. D. G.	Bh. Dh. Gh.
अंग्रेज़ी आदि में	F. Th. H.	P. T. K.	B. D. G.

उपर्युक्त उदाहरणों आदि से ग्रिम महाशय के नियम का स्वरूप बहुत कुछ स्पष्ट हो गया होगा। दूसरे शब्दों में, इस नियम के द्वारा हमको मुख्यतः भारत-यूरोपीय मूल-भाषा के स्पर्शों के उन परिवर्तनों का पता लगता है जो जर्मन भाषा

में उस प्राचीन समय में हुए थे जब कि वह भिन्न भिन्न भाषाओं में नहीं बिखरी थी। ये परिवर्तन क्राइस्ट के जन्म से पहिले हो चुके थे, इस बात की पुष्टि प्राचीन रोमन विद्वानों द्वारा उद्धृत जर्मन शब्दों से होती है।

जो वर्ण-परिवर्तन ऊपर दिखलाये गये हैं इनका जर्मैनिक भाषाओं का प्रथम वर्ण-परिवर्तन इस नाम से भी निर्देश किया जाता है।

पर जर्मन भाषा में द्वितीय वर्ण-परिवर्तन भी हुआ था। इसका समय उत्तरीय जर्मन लोगों से ऐंग्लो-सैक्सन लोगों के पृथक् होने के बाद सातवीं शताब्दी (ईस्वी) के लगभग प्रतीत होता है। इस 'द्वितीय वर्ण-परिवर्तन' का वर्णन नीचे किया जाता है :—

(ख) जर्मन-भाषा-संबन्धी 'द्वितीय वर्ण-परिवर्तन'

जर्मैनिक भाषाओं के ऊपर दिखलाये हुए 'प्रथम वर्ण-परिवर्तन' की दृष्टि से संस्कृत, ग्रीक आदि भाषाओं का अंग्रेज़ी आदि के साथ जैसा संबन्ध है, बहुत कुछ वैसा ही संबन्ध अंग्रेज़ी तथा डच आदि जर्मैनिक भाषाओं का उच्च-जर्मन के साथ देखा जाता है। जैसे :—

अंग्रेज़ी	उच्च-जर्मन
(P के स्थान में Pf या F)	
pound (प्रा० अंग्रे० pund)	Pfund
deep	tief
sheep	Schaf

(T के स्थान में Ts या S)

tooth	Zahn (z = ts)
two	zwei
ten	zehn
foot	Fuss
let	lassen

(K के स्थान में Ch)

speak (प्रा० अं० sprecan)	sprechen
reckon	rechnen
yoke	Joch

(D के स्थान में T)

drink	trinken
daughter	Tochter
deed	Tat

(F और V के स्थान में B)

thief	Dieb
dove	Taube

(Th के स्थान में D)

brother	Bruder
three	drei
thorn	Dorn

इस प्रकार ग्रिम महाशय के नियम में उक्त दोनों (प्रथम तथा द्वितीय) प्रकार के वर्ण-परिवर्तनों का समावेश है। ग्रिम महाशय के नियम का जर्मनिक भाषाओं का वर्ण-परिवर्तन (अंग्रेज़ी में Sound-shifting; जर्मन में Laut-verschiebung) इस नाम से निर्देश किया जाता है।

प्रारम्भ में भाषा-विज्ञानियों ने और विशेषकर मैक्स म्यूलर महाशय ने भारत-यूरोपीय भाषाओं के उक्त तीन प्रकार के संबन्ध को बहुत अधिक महत्त्व दिया था। उनके विचार में इस प्रकार के संबन्ध का वास्तविक कारण भारत-यूरोपीय मूल-भाषा का ही तीन भागों में विभक्त हो जाना था। वे लोग इस त्रिविध विभाग को प्रायः निम्न प्रकार से दिखलाया करते थे :—

संस्कृत, ग्रीक आदि भाषायें —	अघोष	महाप्राण	सघोष
अंग्रेज़ी, डच आदि —	महाप्राण	सघोष	अघोष
उच्च-जर्मन —	सघोष	अघोष	महाप्राण

परन्तु अधिक परीक्षा से यह स्पष्ट प्रतीत हो गया कि इस त्रिविध संबन्ध के समाधान के लिये भारत-यूरोपीय मूल-भाषा को ही तीन भागों में विभक्त हुआ नहीं माना जा सकता। प्रथम तो ट्यूटानिक भाषाओं को छोड़कर अन्य सारी भारत-यूरोपीय भाषायें संस्कृत, ग्रीक आदि से समा-

नता रखती हैं। ट्यूटानिक भाषा-वर्ग की विशेषता के लिये भारत-यूरोपीय मूल-भाषा को ही तीन विभागों में विभक्त हुआ मानना समुचित नहीं। ट्यूटानिक वर्ग में भी भाषाओं की बहुत बड़ी संख्या का संबन्ध उपर्युक्त तीन प्रकारों में से द्वितीय प्रकार से है। इसके अतिरिक्त इस बात में निश्चित प्रमाण हैं कि प्राचीन उच्च-जर्मन में पाये जाने वाले वर्ण-परिवर्तन अंग्रेज़ी, डच आदि निम्न-जर्मन से संबन्ध रखने वाली भाषाओं के शब्दों में पाये जाने वाले वर्ण-परिवर्तनों से पीछे के हैं; और वे भी कभी पूर्ण रीति से नहीं हो सके। उच्च-जर्मन में 'द्वितीय वर्ण-परिवर्तन' के अनुसार सदा ही परिवर्तन पाये जाते हों, ऐसा नहीं है। इसलिये उपर्युक्त त्रिविध वर्ण-परिवर्तनों को भारत-यूरोपीय मूल-भाषा के तीन भागों का द्योतक न मानकर यह मानना चाहिये कि ट्यूटानिक भाषाओं में ही 'द्वितीय वर्णपरिवर्तन' पीछे से हुआ है।

१७—ग्रिम महाशय के नियम के अपवाद

छठे परिच्छेद में यह कहा गया है कि भाषाओं में वर्णों के विकार कुछ निश्चित नियमों का अनुसरण करते हैं (अधिकरण ७), तथा प्रत्येक वर्ण-विकार-संबन्धी नियम के विषय में यह भी जानना चाहिये कि उसका विस्तार कितना है? उसका कोई अपवाद भी है या नहीं? यदि है, तो उसका क्या स्वरूप तथा कारण है? (अधि० ६)। इसी कथन के अनु-

सार उपर्युक्त ग्रिम महाशय के नियम के विषय में भी कई प्रकार के अपवादों और तद्विषयक अवान्तर नियमों या उप-नियमों का पता लगाया गया है। उन्हीं का कुछ दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है।

(क) स्वयं ग्रिम महाशय ने अपने नियम के कुछ अपवादों का, उपनियमों के रूप में, वर्णन किया है। उदाहरणार्थ, भारत-यूरोपीय मूल-भाषा के sk (स्क्), st (स्त्) और sp (स्प्) इन संयोगों में k, t, p के स्थान में ग्रिम महाशय के नियम से प्राप्त वर्णपरिवर्तन नहीं होते; जैसे :—

लैटिन	गाथिक	उच्च-जर्मन
piscis (=पिस्किस)	fisks	Fisch
hostis	gasts	
est सं० 'अस्ति'	ist	ist
(con-)spicio सं० 'स्पश्'	...	spehōn

इसी प्रकार भा० यू० मूलभाषा के kt (क्त्) और pt (प्त्) में t के स्थान में ग्रिम-नियम से प्राप्त वर्ण-परिवर्तन नहीं होता; उदाहरणार्थ :—

लैटिन	संस्कृत	गाथिक	उच्च-जर्मन
okto	अष्टौ	ahtáu	acht
neptis	नप्ता		nift (प्रा० उ० ज०)
captus		hafts	

परन्तु अनेकानेक अपवादों को उक्त प्रकार से उपनियमों के रूप में ग्रिम महाशय नहीं दिखला सके। यह काम उनके उत्तरवर्ती विद्वानों ने किया। इसी का कुछ वर्णन नीचे किया जाता है :—

(ख) ग्रासमन महाशय का नियम

संस्कृत	गाथिक
बोधति	biudan
दभ्	daubs

इन उदाहरणों में, ग्रिम महाशय के नियम के अनुसार, संस्कृत शब्दों के आदि-वर्ण 'ब्', 'द्' के स्थान में गाथिक में क्रम से p, t होना चाहिये। ऐसी दशा में गाथिक शब्दों में b, d का पाया जाना स्पष्टतः उक्त नियम के विरुद्ध है। इस विरोध का परिहार हेर्मन ग्रासमन (Hermann Grassmann, 1809–1877) महाशय ने किया। उन्होंने पता लगाया कि संस्कृत तथा ग्रीक भाषाओं में यह नियम है कि एक शब्द में दो अव्यवहित सोष्म स्पर्श वाले अक्षरों में से प्रथम निरूष्म स्पर्श वाला हो जाता है; जैसे संस्कृत में 'दधामि', 'बभार' आदि में 'धा' तथा 'भृ' धातुओं के 'ध्' और 'भ्' के स्थान में अभ्यास[1] में 'द्' और 'ब्' हो जाते हैं। इसी नियम

---

[1] देखो "पूर्वोऽभ्यासः" (पाणिनीयाष्टाध्यायी ६।१।४)।

के अनुसार यह कल्पना की जा सकती है कि भारत-यूरोपीय मूल-भाषा की अवस्था में संस्कृत 'बुध्' तथा 'दभ्' धातुओं में प्रारम्भ के वर्ण सोष्म स्पर्श 'भ्', 'ध्' रहे होंगे। ऐसा मान लेने पर उन मौलिक 'भ्', 'ध्' के स्थान में गाथिक शब्दों में b, d का पाया जाना बिलकुल ग्रिम महाशय के नियम के अनुकूल ही हो जाता है। इस प्रकार ग्रासमन महाशय के नियम से ग्रिम महाशय के नियम के अनेक आपाततः अपवादों का समाधान हो जाता है।

(ग) वेर्नर महाशय का नियम

परन्तु ऐसे भी अपवाद हैं जिनका समाधान उपर्युक्त प्रकार से नहीं होता। उदाहरणार्थ, निम्नस्थ उदाहरणों में संस्कृत, लैटिन आदि शब्दों में जहाँ k, t, p देखे जाते हैं उनके स्थान में, ग्रिम महाशय के नियम के विरुद्ध, गाथिक आदि जर्मनिक भाषाओं में g, d, b देखे जाते हैं :—

संस्कृत	लैटिन	गाथिक	इंग्लिश
k—युवशस्[1]	juvencus	juggs	young
t—शतम्	centum	hunda-	hund-red
p—लिम्पामि	lippus	bi-leiba	
सप्तन्	septem	sibun	(seven)

[1] ऐसे स्थलों में 'श्' को केन्टुम्-वर्गीय भाषाओं के 'क्' का स्थानीय ही समझना चाहिये।

ऐसे उदाहरणों में उक्त विरोध का परिहार कार्ल वेर्नर (Carl Verner, 1846–96) नामक विद्वान् ने किया। उन्होंने पता लगाया कि भारत-यूरोपीय मूल-भाषा के शब्दों के k, t, p के स्थान में गाथिक आदि जर्मैनिक भाषाओं में, ग्रिम महाशय के नियम के अनुसार वर्ण-परिवर्तन (h, th, f) तभी होता है जब उस मूल-भाषा में उससे अव्यवहित पूर्व में कोई उदात्त स्वर रहता है। उदात्त स्वर के पश्चात् आने पर उनके स्थान में g, d, b हो जाते हैं। भा० यू० मूल-भाषा के स्वर संस्कृत में और बहुत अंश तक ग्रीक भाषा में सुरक्षित हैं, ऐसा विद्वानों का मत है। अतः ऊपर दिये हुए उदाहरणों में संस्कृत शब्दों के स्वरों के देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें क्रम से उदात्त स्वर श् (=क्), त्, प् के पश्चात् आया है। इसी लिये गाथिक आदि जर्मैनिक भाषाओं में उनके स्थान में क्रम से g, d, b देखे जाते हैं।

इसके विरुद्ध संस्कृत 'भ्राता' के स्थान में, उदात्त स्वर के पूर्व में आने से, इंग्लिश brother में, ग्रिम-नियम के अनुसार, th ही देखा जाता है।

(घ) यहाँ पर यह बतलाना अप्रासङ्गिक न होगा कि कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं जहाँ उक्त नियमों का विपर्यास दूसरे प्रकार के शब्दों के साथ सादृश्य (या मिथ्यासादृश्य) के कारण हो जाता है (दे० पृ० १४६)। उदाहरणार्थ, संस्कृत 'पिता',

ग्रीक patér में यद्यपि उदात्त स्वर t (त्) के पश्चात् है, तो भी इंग्लिश father में t के स्थान में th देखा जाता है, d नहीं। इस नियम-विपर्यास का कारण वास्तव में brother शब्द के साथ मिथ्यासादृश्य ही है। पर यह प्रवृत्ति १५०० ईस्वी के कुछ पूर्व से ही देखी जाती है। प्राचीन इंग्लिश में तो fader या fœder यही रूप मिलता है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

ईरानी भाषा-वर्ग

फ़ारसी भाषा जिसका संबन्ध ईरानी भाषा से है भारतवर्ष में चिरकाल से पढ़ने पढ़ाने में आती रही है। किसी समय इसका प्रचार भारतवर्ष में बहुत अधिक था, यहाँ तक कि बहुत दिनों तक मुसलमानी राज्य के समय में इसको राज-भाषा का पद प्राप्त था। आज-कल यह उस पद से गिर गई है, तो भी इसके पढ़ने-पढ़ाने का प्रचार बहुत है। ऐसा होने पर भी फ़ारसी भाषा एक आर्य-भाषा है और उसका कम से कम अपने प्राचीन रूप में संस्कृत से घनिष्ठ संबन्ध था यह कम मनुष्य जानते हैं। भारतवर्ष में रहने वाले पारसी लोगों की धार्मिक मूल-पुस्तक अवस्ता की भाषा भी ईरानी भाषा का ही एक प्राचीन रूप है। उसका वैदिक भाषा से कितना अधिक संबन्ध है यह नीचे दिखलाया जायगा। इत्यादि कारणों से ईरानी भाषा-वर्ग का कुछ वर्णन यहाँ करना उचित प्रतीत होता है।

१—ईरानी भाषावर्ग की भाषायें

ईरानी भाषाओं के स्वरूप के प्राचीन-कालीन इतिहास और विकास को ठीक ठीक जानने के लिये पर्याप्त सामग्री न

होने से पूर्ण-रूप से इन भाषाओं का शृंखला-बद्ध इतिहास नहीं बतलाया जा सकता। इसलिये प्राचीन और उसके पीछे के समय की ईरानी भाषाओं के मुख्य मुख्य भेदों का ही वर्णन किया जा सकता है। प्राचीन, मध्य-कालीन और अर्वाचीन भेदों को लेकर ईरानी भाषा-वर्ग में निम्न-लिखित भाषायें सम्मिलित हैं :—

प्राचीन :—ज़िन्द[1] (= अवस्ता की भाषा), प्राचीन फ़ारसी

मध्य-कालीन :— मध्य-कालीन फ़ारसी या पहलवी

अर्वाचीन :— उत्कृष्ट साहित्यिक फ़ारसी

ओस्सेटिक | कुर्दी | ग़ालचा तथा पामीर की बोलियाँ | बिलूची | पश्तो | प्रादेशिक फ़ारसी बोलियाँ | प्रधान फ़ारसी

काल-भेद से फ़ारसी भाषा की उपर्युक्त तीन अवस्थाओं का समय तथा फ़ारिस देश के इतिहास के तीन महत्त्वयुक्त युगों का समय परस्पर मिलता है। प्राचीन फ़ारसी का और ऐकीमीनिड (Achaemenid, डेरियस आदि) राजाओं के

१ यहाँ 'अवस्ता की भाषा' के अर्थ में 'ज़िन्द' शब्द के प्रयोग के विषय में पृ० १६७ की पाद-टिप्पणी देखो।

साम्राज्य का समय (ईसा के पूर्व ५५० से ३३० तक) एक ही है। इसी प्रकार सैसैनियन (Sassanian) राजवंश का समय (२२६ ईस्वी से ६५१ ईस्वी तक) और पहलवी या मध्य-कालीन फ़ारसी का समय भी परस्पर मिलता है। उत्कृष्ट साहित्यिक फ़ारसी का समय फ़ारिस देश में मुसल्मानी सभ्यता की स्थापना होने के बाद जातीय पुनरुत्थान के समय (लगभग ६०० ई० से १००० ई० तक) से मिलता है।

ऊपर के लेख से यह स्पष्ट हो गया होगा कि फ़ारसी भाषा और ईरानी भाषा दोनों का अर्थ एक ही नहीं है। भाषा-विज्ञानियों के व्यवहार के अनुसार ईरानी भाषा-वर्ग के केवल पश्चिमी भाग का ही नाम फ़ारसी है। वास्तव में ईरान देश के एक पश्चिमी प्रान्त का ही नाम फ़ारिस है, तो भी आज-कल प्रायः फ़ारिस शब्द का प्रयोग सारे ईरान के लिये किया जाता है। उपर्युक्त दृष्टि से ईरानी भाषा-वर्ग के फ़ारसी भाषा-वर्ग और तदितर-भाषा-वर्ग इस प्रकार दो उपभेद भी अक्सर किये जाते हैं।

२—ईरानी भाषाओं की सामान्य विशेषतायें

समस्त ईरानी भाषाओं की कुछ ऐसी विशेषतायें, जो उनको विशेषकर संस्कृत से पृथक् करती हैं, ये हैं :—

(१) भारत-यूरोपीय मूल-भाषा के s (स्) के स्थान में,

जो संस्कृत में जैसा का तैसा पाया जाता है, ईरानी भाषाओं में h (ह्) हो जाता है; जैसे :—

संस्कृत	ज़िन्द	प्राचीन फ़ारसी	अर्वाचीन फ़ारसी
सिन्धु	hindu	hindu	hind (हिन्द)
सर्व	haurva	haruva	har (हर)

(२) भारत-यूरोपीय मूल-भाषा के वर्गों के चतुर्थ gh (घ्), dh (ध्), bh (भ्) के स्थान में क्रम से वर्गों के तृतीय g (ग्), d (द्), b (ब्) देखे जाते हैं; जैसे :—

संस्कृत	ज़िन्द	प्राचीन फ़ारसी	अर्वाचीन फ़ारसी
घर्म	garəma	garma	garm (गर्म)
धित(वैदिक =हित)	dāta	dāta	dād (दाद)
भूमि	būmi	būmi	būm (बूम)

(३) सघोष z (ज़्) आदि ऊष्मा वर्णों का पाया जाना; जैसे :—

संस्कृत	ज़िन्द	प्राचीन फ़ारसी	अर्वाचीन फ़ारसी
असुरोमेधास्	Ahurō mazdaə[1]	Aura-mazdā	Ormuzd (उर्मुज़्द)
बाहु	bāzu	....	bāzū (बाज़ू)
जानु	zānu	....	zānū (ज़ानू)

१ पारसियों के मुख्य देवता का नाम।

३—ज़िन्द[1] या अवस्ता की भाषा

ऊपर ईरानी भाषा-वर्ग में सम्मिलित भाषाओं को दिखलाते हुए प्राचीन समय में ईरानी भाषा के दो भेद दिखलाये हैं :—एक ज़िन्द और दूसरी प्राचीन फ़ारसी। इनमें से ज़िन्द का संबन्ध पूर्वीय ईरान से और प्राचीन फ़ारसी का पश्चिमीय ईरान से था। पारसी लोगों की मूल-धर्म-पुस्तक अवस्ता (जिस को भूल से ज़िन्दावस्ता भी कहा जाता है) की भाषा के लिये ज़िन्द नाम आज-कल विद्वानों में प्रचलित हो गया है। अवस्ता के अतिरिक्त मध्य-कालीन टीकाओं में भी इस भाषा के कुछ वाक्य उद्धृत किये गये मिलते हैं। यह सब सामग्री थोड़ी होने पर भी ज़िन्द भाषा की रचना के समझने के लिये पर्याप्त है।

ज़िन्द भाषा को कोई कोई प्राचीन बैक्ट्रियन भी कहते हैं। इस नाम से यह प्रतीत होता है कि ज़िन्द भाषा बैक्ट्रिया में ही परिमित थी—या कम से कम वहाँ बोली जाती थी। परन्तु यह एक कल्पनामात्र है। इस कारण से उपर्युक्त नाम इसको देना ठीक नहीं। इस प्रकार ज़िन्द भाषा के बोले जाने के प्रदेश के विषय में ठीक ठीक निश्चय न हो सकने पर भी इसमें सन्देह नहीं कि ज़िन्द भाषा ईरान के पूर्वीय भाग में ही बोली जाती थी।

---

१ यहाँ पृ० १६७ की पाद-टिप्पणी देखो।

भाषा-विज्ञानी के लिये ज़िन्द भाषा का महत्त्व, ईरानी भाषाओं में ही नहीं, किन्तु समस्त भारत-यूरोपीय भाषाओं में बहुत अधिक है। स्वरूप की प्राचीनता की दृष्टि से यह वैदिक भाषा से समानता रखती है। अनेक बातों में इस भाषा में वैदिक भाषा से भी प्राचीनता की झलक अधिक पाई जाती है। संस्कृत से इसका पद इसी बात में नीचा है कि इसका साहित्य संस्कृत-साहित्य के समान विस्तृत नहीं, और इस पर व्याकरण की दृष्टि से ठीक ठीक विचार नहीं किया गया।

ज़िन्द भाषा के समय को निर्धारित करने के लिये अवस्ता के समय का निर्धारण करना आवश्यक है। अवस्ता अपनी वर्तमान दशा में एक ही ग्रन्थ-कर्ता या समय की कृति नहीं है। अवस्ता में भाषा की दो दशायें स्पष्टतया प्रतीत होती हैं। समस्त पुस्तक का कुछ ही भाग, जिसमें गाथायें या गीत हैं, एक प्राचीनतर भाषा में है। अवस्ता के अन्य भागों की अपेक्षा इन गाथाओं की अधिक प्राचीनता इससे स्पष्ट है कि इनका उल्लेख और भागों में पाया जाता है। इनको पारसियों के परम आचार्य ज़ोरोआस्टर या ज़रथुष्ट्र की वास्तविक कृति समझना चाहिये। ज़रथुष्ट्र के विषय में विद्वानों का अनुमान है कि वे ईसा से पूर्व १४ वीं शताब्दी में हुए थे। भिन्न भिन्न विद्वान् इस समय को ईसा से पूर्व तीसरी सहस्राब्दी में ले जाते हैं या प्रथम सहस्राब्दी में ले आते हैं।

दूसरे भागों की अपेक्षा गाथाओं की भाषा और शैली बहुत कुछ रूखी है; उनमें शब्दों के रूपों की बहुलता भी अधिक है; और शब्दावली में भी भेद है। गाथाओं की भाषा की एक विशेषता यह है कि इसमें दीर्घ स्वरों का प्राधान्य है। जहाँ अवस्ता के और भागों में शब्दों का अन्तिम स्वर प्रायः ह्रस्व आता है वहाँ गाथाओं की भाषा में उसके स्थान में दीर्घ स्वर पाया जाता है; जैसे :—

संस्कृत	गाथाओं की भाषा	पीछे की ज़िन्द
अभि (= पास)	aibī	aiwi
ईहा	īzhā	īzha

गाथाओं की भाषा की अति प्राचीनता इससे स्पष्ट सिद्ध होती है कि यह अवस्ता के दूसरे भागों की अपेक्षा कहीं अधिक वैदिक भाषा से मिलती-जुलती है। इन दोनों में समानता इतनी अधिक है कि इनको एक ही भाषा के दो प्रादेशिक भेद कहा जा सकता है। यहाँ तक, कि कुछ वर्ण-परिवर्तन-संबन्धी नियमों के द्वारा गाथाओं के छन्द के छन्द वैदिक संस्कृत के रूप में आसानी से परिवर्तित किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ,

təm	amavantəm	yazatəm
sūrəm	dāmōbu	səvištəm
mithrəm	yazāi	zaothrābyō[1]

१ देखो :—A. V. Williams Jackson महाशय की *Avesta*

इस अंश को कुछ वर्ण-परिवर्तन-संबन्धी नियमों के अनुसार

तम् अमवन्तं यंजतम्
शूरं धामसु शविष्ठम्
मित्रं यजै होत्राभ्यः

इस प्रकार वैदिक भाषा का रूप दिया जा सकता है।

अवस्ता के दूसरे भागों की भाषा गाथाओं की भाषा की अपेक्षा नवीन है। ज़िन्द भाषा का बोला जाना कब बन्द हो गया था, इस बात के निर्णय के लिये हमारे पास पूरे पूरे प्रमाण नहीं हैं। तो भी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि अवस्ता का कोई भाग भी ईसा के पूर्व पाँचवीं या चौथी शताब्दी से पीछे का नहीं हो सकता। सम्राट् अलेग्ज़ैंडर के समय से पूर्व ही अवस्ता लेख-बद्ध हो चुकी थी और पर्सीपोलिस नगर में राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित थी, यह बात इतिहास से सिद्ध है।

ज़िन्द भाषा के स्वरों में एक विशेषता यह है कि इसमें ह्रस्व ĕ (ऍ) और ŏ (ऑ) पाये जाते हैं। इनका संस्कृत तथा प्राचीन फ़ारसी में अभाव है। उदाहरणार्थ, संस्कृत 'यदि' और प्रा० फ़ा० yadiy के स्थान में ज़िन्द में yezi पाया जाता है।

---

grammar, भूमिका पृ० ३१। उन्हीं के अनुसार इसका अर्थ है :—"मैं आहुतियों के द्वारा उस बलवान् शक्तिशाली और सब प्राणियों के लिये अत्यन्त लाभकारी मित्र् देवता की पूजा करूँगा।"

स्वरों के विषय में यह बात भी देखी जाती है कि ज़िन्द भाषा में अनेक स्वर प्रायः इकट्ठे प्रयुक्त होते हैं और शब्दों में अगले अक्षर के स्वर के प्रभाव से उससे पहिले अक्षर में या शब्द के प्रारम्भ में एक लघु स्वर या स्वर-भक्ति का आगम हो जाता है; जैसे :—

संस्कृत	ज़िन्द
भरति	$bara_{i}ti$
रिणक्ति	$_{i}rinakhti$
रोपयन्ति	$_{u}r\bar{u}payeinti$

ज़िन्द भाषा में तीन स्वरों के भी संध्यक्षर देखे जाते हैं; जैसे :—

संस्कृत	ज़िन्द
अश्वेभ्यः	aspaēibyō
कृणोति	kərənaoiti

ज़िन्द भाषा के शब्दों में दो व्यञ्जनों के बीच में अकारणक स्वर भी आ जाते हैं; जैसे :—

संस्कृत	ज़िन्द
सव्य (=बाँयाँ)	hāvōya
घर्म	garəma
गर्भ	garəwa

संस्कृत के साथ तुलना की दृष्टि से व्यञ्जनों के विषय में मुख्य मुख्य बातें ये हैं :—(१) चवर्ग में 'च्' और 'ज्' केवल दो ही वर्ण ज़िन्द भाषा में पाये जाते हैं; (२) संस्कृत टवर्ग का ज़िन्द में बिल्कुल अभाव है; (३) ज़िन्द में वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ सोष्म स्पर्शों का भी अभाव है, और उनके स्थान में और वर्ण देखे जाते हैं; (४) अनुनासिक व्यञ्जन कुछ अंश तक ही संस्कृत से मिलते हैं; (५) परन्तु ज़िन्द भाषा में 'स्', 'श्' आदि ऊष्माओं के संस्कृत की अपेक्षा अधिक भेद पाये जाते हैं; विशेषकर इन वर्णों के z (ज़्) या zh ये सघोष रूप संस्कृत में न पाये जाकर ज़िन्द में ही पाये जाते हैं।

ज़िन्द भाषा में 'ल्' का बिल्कुल अभाव है।

सुबन्त-प्रकरण में ज़िन्द वैदिक भाषा से बहुत अधिक समानता रखती है। वैदिक संस्कृत की तरह ही उसमें तीन लिङ्ग, तीन वचन, और संबोधन को मिलाकर आठ कारक (या विभक्तियाँ) होते हैं।

धातुओं के रूपों में भी ज़िन्द संस्कृत से सामान्यतः मिलती है। धातुयें प्रायः एकाक्षरात्मक होती हैं और उनमें परिवर्तन संस्कृत के सदृश ही होते हैं। काल, क्रिया-प्रकार और वाच्य के भेद से होने वाले रूपों में भी दोनों में बहुत कुछ समानता है।

निम्नलिखित उदाहरणों से संस्कृत और ज़िन्द के संबन्ध की घनिष्ठता स्पष्ट हो जावेगी :—

संस्कृत	ज़िन्द
ओजस् (= बल)	aojah
अनु (= पीछे)	anu
अन्य	anya
अन्तर् (= अन्दर)	antarə
अप (= अलग)	apa
अम (= बल)	ama
अस्थि, अस्थन् (= हड्डी)	ast
अश्व	aspa
असुर (ऋग्वेद में = देव)	ahura (= पति)
पुत्र	puthra
शूर	sūra
सोम	haoma
सर्व	haurva
सत्य	haithya
हवन	zavana
हृद्	zard
जन्तु	zantu
होतर्	zaotar
हस्त	zasta
जात	zāta
सप्त	hapta

सचा (=साथ)	haca
स्वर्	hvar
वृक (=भेंड़िया)	vəhrka
वृत्र (=एक राक्षस)	vərəthra
शिरस्	sarah
विश्व	vīspa
वसिष्ठ	vahišta
यज्ञ	yasna
यज् (=यजन करना)	yaz
अहम्	azəm
वयम्	vaēm
अस्मत्	ahmat
अस्माकम्, नः	ahmākəm, nō
ददामि, दधामि	dadāmi
अस्ति	asti
असि	ahi
अस्मि	ahmi

४—प्राचीन फ़ारसी

प्राचीन फ़ारसी ईरान देश के पश्चिमी भाग (फ़ारिस-प्रदेश) की प्राचीन भाषा थी। इसी को मध्य-कालीन तथा अर्वाचीन फ़ारसी की मातृ-भाषा कहना चाहिये। प्राचीन

फ़ारसी कीलकाक्षरों में खुदे हुए अनेक प्राचीन लेखों में पाई जाती है। इन लेखों को ऐकोमीनिड राज-वंश के डेरियस (ईसा के पूर्व ५२१—४८५) आदि राजाओं ने खुदवाया था। इनमें से बेहिस्तुन की पहाड़ी में खुदे हुए प्राचीन लेख मुख्य हैं। पीछे के खुदे हुए लेखों में इस भाषा का स्वरूप बहुत कुछ विकृत हो चुका था। तो भी, साधारणतया इसको प्राचीनता में ज़िन्द की सम-कक्ष ही कहना चाहिये। इसमें अनेक बातें ज़िन्द के साथ समान पाई जाती हैं।

ज़िन्द भाषा में जितना प्राचीन साहित्य मिलता है वह प्राचीन फ़ारसी के उपलब्ध लेखों की अपेक्षा बहुत ही अधिक है। इस कारण से ऐसा प्रायः होता है कि फ़ारसी के शब्दों के प्राचीन रूपों की खोज करते हुए ज़िन्द भाषा का शब्द उद्धृत कर दिया जाता है, क्योंकि प्राचीन फ़ारसी में उस शब्द का वस्तुतः क्या स्वरूप था यह जानने के लिये हमारे पास किसी प्राचीन लेख का साक्ष्य नहीं है। ऐसी दशा में विद्यार्थी को यह भ्रम न होना चाहिये कि फ़ारसी ज़िन्द भाषा से निकली है।

प्राचीन फ़ारसी की वर्ण-माला ज़िन्द की अपेक्षा अधिक सादी है। उदाहरणार्थ, ह्रस्व ĕ (ऍ) और ŏ (ऑ) का प्रा० फ़ारसी में अभाव है; उनके स्थान में संस्कृत के सदृश a (अ) ही देखा जाता है। उदाहरणार्थ,

ज़िन्द	प्राचीन फ़ारसी	संस्कृत
yezi	yadiy	यदि

व्यञ्जनों के विषय में यह बात उल्लेखनीय है कि प्राचीन-तर z (अर्थात् सघोष s), जो ज़िन्द में जैसा का तैसा पाया जाता है, प्राचीन फ़ारसी में d के रूप में परिवर्तित देखा जाता है। उदाहरणार्थ,

सं०	ज़ि०	प्रा० फ़ा०	अर्वा० फ़ारसी
हस्त	zasta	dasta	dast (दस्त)
अहम्	azəm	adam	....

प्राचीन फ़ारसी के पदों के अन्त में व्यञ्जन प्राय: नहीं पाये जाते। इस विषय में प्राचीन फ़ारसी स्व-सम्बन्धी अन्य भाषाओं से बहुत बढ़ी-चढ़ी है; जैसे :—

सं०	ज़ि०	प्रा० फ़ा०
अभरत्	abarat	abara

अन्य प्राचीन ईरानी भाषायें

ईरानी भाषा-वर्ग से सम्बन्ध रखने वाली अन्य प्राचीन भाषाओं का केवल नाममात्र शेष है। प्राचीन लेखों में साग्डियाना, ज़ैबुलिस्तान और हिरात आदि की प्राचीन बोलियों का उल्लेख मिलता है। किसी समय साग्डियन भाषा मध्य-एशिया में दूर तक प्रचलित थी। इन भाषाओं

के विषय में इनके नाम के अतिरिक्त और कुछ विशेष ज्ञात नहीं है। सिथियन, लिसियन और लिडियन भाषाओं के विषय में यह निश्चय नहीं कि उनका सम्बन्ध ईरानी भाषा-वर्ग से ही था या नहीं।

५—मध्य-कालीन फ़ारसी या पहलवी।

ऐकीमिनियन साम्राज्य के नष्ट होने के बाद लगभग पाँच शताब्दियों तक फ़ारसी भाषा का कोई लेख नहीं पाया जाता। इसका कारण जातीय अधःपतन ही था। इसके बाद सैसैनियन राज-वंश के समय से तथा उसके कुछ पूर्व से ही फ़ारसी भाषा के लेख पहलवी के साहित्य तथा कुछ खुदे हुए लेखों में पाये जाते हैं।

सैसैनियन राज-वंश के खुदे हुए लेखों के अतिरिक्त, पहलवी भाषा का साहित्य मुख्यतया पारसियों के धार्मिक साहित्य से सम्बन्ध रखता है। अवस्ता के कई भागों का पहलवी भाषा में अनुवाद अब तक सुरक्षित है।

पहलवी एक प्रकार की सेमिटिक लिपि में लिखी जाती थी। इसमें अनेक फ़ारसी शब्दों को प्रकट करने के लिये तद्वाची सेमिटिक शब्दों की वर्णानुपूर्वी (या हिज्जों) से ही काम ले लिया जाता था। उदाहरणार्थ, 'राजाधिराज' इस अर्थ में सेमिटिक 'मलिकानमलिक' शब्द को लिखकर उसका उच्चारण फ़ारसी में तद्वाची 'शाहनशाह' या 'शाहानशाह' ही

किया जाता था; जैसे अंग्रेज़ी में e. g. लिखकर उसको for instance ऐसा पढ़ते हैं।

ऐकीमीनिड राजाओं के समय की प्राचीन फ़ारसी की अपेक्षा मध्य-कालीन फ़ारसी में अनेक परिवर्तन देखे जाते हैं। प्राचीन फ़ारसी की तरह व्याकरण की दृष्टि से शब्दों के रूपों का बाहुल्य मध्यकालीन फ़ारसी में नहीं दिखलाई देता। भिन्न भिन्न कारकों के लिये विभक्तियों का बहुत कुछ ह्रास देखा जाता है। उनके अर्थ को द्योतन करने के लिये हिन्दी 'को', 'का' जैसे सहायक शब्दों से काम लिया जाता है। इसी प्रकार लिङ्गों के भेद को द्योतन करने के लिये शब्दों के रूपों में कोई भेद नहीं किया जाता। उदाहरणार्थ, avo सर्व-नाम संस्कृत 'सः', 'सा', 'तद्' तीनों के लिये एक-सा ही प्रयुक्त होता है।

सामान्यत: मध्य-कालीन फ़ारसी नीचे वर्णन की गई साहित्यिक फ़ारसी के ही ढंग की है।

६—अर्वाचीन फ़ारसी

फ़ारसी भाषा के विकास का अन्तिम स्वरूप अर्वाचीन फ़ारसी में पाया जाता है। इसका सबसे पुराना साहित्यिक रूप महाकवि फ़िरदौसी (६४०–१०२० ईस्वी) की भाषा में पाया जाता है। इस महाकवि के शाहनामा नाम के काव्य की भाषा में अरबी भाषा का इतना प्रभाव नहीं दीखता

जितना अन्य अर्वाचीन फ़ारसी साहित्य में देखा जाता है। धीरे धीरे अर्वाचीन फ़ारसी पर, विशेषकर साहित्यिक भाषा पर, अरबी भाषा का प्रभाव बढ़ता गया। अनेकानेक अरबी शब्द इसमें सम्मिलित हो गये। इसकी वाक्य-रचना तक पर अरबी का प्रभाव दीख पड़ता है। भारतवर्ष में जो फ़ारसी पढ़ने पढ़ाने में आती है वह यही अर्वाचीन साहित्यिक फ़ारसी है।[१]

शाहनामा के लिखे जाने के समय से अर्वाचीन फ़ारसी की रचना अबतक बहुत कुछ ज्यों की त्यों रही है। तो भी आज-कल की प्रधान फ़ारसी के उच्चारण तथा शब्द-भण्डार में बहुत कुछ भेद हो गया है। अनेक नई नई वस्तुओं और विचारों के लिये नये नये शब्दों का प्रचलित होना स्वाभाविक ही है। कुछ थोड़ासा भेद व्याकरण की दृष्टि से भी हो गया है।

अर्वाचीन फ़ारसी में व्याकरण की दृष्टि से शब्दों के रूपों का भेद मध्य-कालीन फ़ारसी की अपेक्षा भी कम है।

---

१ पृष्ठ ३०-३१ पर 'मध्यकालीन साहित्यिक फ़ारसी' से अभिप्राय वस्तुतः इसी अर्वाचीन उत्कृष्ट साहित्यिक फ़ारसी से है, और 'आधुनिक साहित्यिक फ़ारसी' से आशय फ़ारिस की आजकल की प्रधान फ़ारसी से है।

मध्य-कालीन और विशेषकर प्राचीन फ़ारसी की अपेक्षा अर्वाचीन फ़ारसी में होने वाले उच्चारण-संबन्धी परिवर्तनों में सबसे मुख्य परिवर्तन k, t, p, और c (=च) के स्थान में g, d, b, और z का होना है; जैसे :—

प्राचीन फ़ा० या ज़िंद	पहलवी	अर्वाचीन फ़ा०
mahrka (=मृत्यु)	mark	marg (मर्ग)
hvatō (=स्व)	khōt	khod (खुद)
āp (=जल)	āp	āb (आब)
raucah (=दिन)	rōj	rōz (रोज़)

प्राचीन y के स्थान में प्राय: j देखा जाता है; जैसे :-

ज़िन्द	अर्वा० फ़ा०	
yāma (=शीशा)	jām	(जाम=शीशे का प्याला)
yātu	jādū	(जादू)

शब्दों के आरम्भ में दो संयुक्त व्यञ्जन नहीं रहने पाते--या तो उनके मध्य में या आरम्भ में एक स्वर आ जाता है; जैसे :—ज़िन्द और प्रा० फ़ा० के stā (=ठहरना) धातु के स्थान में अर्वाचीन फ़ारसी में sitādan (सितादन) या istādan (इस्तादन) हो जाता है। इसी प्रकार ज़िन्द और प्रा० फ़ा० के brātar (=भाई) के स्थान में birādar (बिरादर) हो जाता है।

७—आधुनिक प्रादेशिक फ़ारसी बोलियाँ तथा अन्य ईरानी भाषायें

आधुनिक प्रधान फ़ारसी भाषा के साथ साथ अनेक प्रादेशिक बोलियाँ भी हैं जिनको अशिक्षित लोग बोलते हैं। ये प्रादेशिक बोलियाँ शीराज़ और फ़ारिस्तान से कम या अधिक दूरी के अनुसार प्रधान फ़ारसी से कम या अधिक भेद रखती हैं; यहाँ तक कि कैस्पियन समुद्र तक जाने पर ये बोलियाँ कठिनता से ही प्रधान फ़ारसी को बोलने वाले की समझ में आ सकती हैं।

प्रधान फ़ारसी भाषा तथा फ़ारसी प्रादेशिक बोलियों के अतिरिक्त कुछ अन्य अर्वाचीन भाषायें भी हैं जिनका संबन्ध ईरानी भाषा-वर्ग से ही है। उनमें मुख्य मुख्य का वर्णन नीचे दिया जाता है :—

(१) ओस्सेटिक। काकेशस के एक छोटे प्रदेश में यह बोली जाती है। यद्यपि इसके उच्चारण में जार्जियन भाषा से कुछ समानता दिखलाई देती है तो भी इसके ईरानी भाषा-वर्ग में से एक भाषा होने में कोई संदेह नहीं। इसपर काकेशस की अनार्य भाषाओं का प्रभाव बहुत कुछ पड़ा है।

(२) कुर्दी या कुर्दिश। इसका संबन्ध अर्वाचीन फ़ारसी से बहुत कुछ है। उसके साथ इसमें कई समान बातें मिलती हैं। उससे बड़ा भारी भेद इसमें इस बात में है कि इस भाषा

में फ़ारसी भाषा की अपेक्षा शब्दों का स्वरूप बहुत कुछ संक्षिप्त हो जाता है; जैसे :—

कुर्दी	अर्वाचीन फ़ारसी
berā (=भाई)	birādar (बिरादर)
spī (=सफ़ेद)	sipēd (सपेद)

(३) ग़ालचा तथा पामीर की बोलियाँ। ये सुदूर उत्तरीय पहाड़ी प्रदेशों में बोली जाने वाली ईरानी बोलियाँ हैं और पामीर की पहाड़ियों तक फैली हुई हैं।

(४) बिलूची। यह बिलोचिस्तान की भाषा है, और अर्वाचीन फ़ारसी से घनिष्ठ संबन्ध रखती है। उससे यह विशेषकर इस बात में भिन्न है कि इसमें प्राचीन f आदि के स्थान में 'ब्' आदि स्पर्श वर्ण हो जाते हैं; जैसे :—

ज़िन्द	अर्वाचीन फ़ारसी	बिलूची
hvafna (= स्वप्न)	khvāb (ख़्वाब)	vāb
hapta (= सप्त)	haft (हफ़्त)	hapt

(५) पश्तो। इसको अफ़ग़ानी भी कहा जाता है। इसपर धीरे धीरे पड़ोस की भारतीय भाषाओं का शब्दों के रूपों, वाक्य-रचना, और शब्द-कोष की दृष्टि से बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है। तो भी, इसको भारत और ईरान की एक मध्य-वर्ती भाषा न कहकर एक ईरानी भाषा ही कहना चाहिये।

इसका निश्चय नहीं कि ज़िन्द भाषा से निकली हुई कोई

भाषा आज-कल है या नहीं। पश्तो के विषय में ऐसा कोई कोई समझते हैं कि वह परम्परा-रूप से ज़िन्द भाषा से निकली हुई एक भाषा है।

८—भारत और ईरान की मध्यवर्ती भाषायें

भारतीय और ईरानी भाषाओं के बीच में कुछ ऐसी भाषायें हैं जो हिन्दूकुश के प्रदेश से लेकर काश्मीर तक फैली हुई हैं। सामान्यत: इनका वर्गीकरण भारत और ईरानी भाषा-वर्गों से पृथक् एक भारत-ईरान-मध्यवर्ती भाषा-वर्ग में किया जाता है। ये दरद और काफ़िर भाषावर्ग के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें मुख्य बोलियाँ ये हैं :—बशगली, जिसको काफ़िरिस्तान के रहने वाले काफ़िर लोग बोलते हैं, खोवार या चित्राली, शीना और काश्मीरी का कुछ अंश। ग्रियर्सन महाशय इन बोलियों को पैशाची भाषा-वर्ग का नाम देते हैं।

ये भाषायें परस्पर बहुत कुछ भिन्न हैं। इनमें अनार्य भाषाओं का अंश भी बहुत कुछ विद्यमान है। जो कुछ आर्य-भाषा का अंश है उसमें भारतीय और ईरानी दोनों भाषा-वर्गों के लक्षण पाये जाते हैं। इसी कारण से ग्रियर्सन महाशय ने उनका वर्गीकरण एक तीसरे वर्ग में किया है। यह भी संभव है कि ये भाषायें भारत और ईरानी भाषाओं की अवान्तर सीमा में होने से केवल दोनों के मेल से ही बन गई हैं, और वस्तुत: एक तीसरे वर्ग की नहीं हैं।

॥ इति ॥

परिशिष्ट

पारिभाषिक तथा अन्य उपयोगी हिन्दी शब्दों के अंग्रेज़ी पर्याय

अंश	Element
अक्षर (या वर्ण)	Letter
अक्षर	Syllable
अघोष (या श्वासयुक्त, श्वासानुप्रदान, 'कठोर')	Surd, Unvoiced, Hard
अणुपुञ्ज	Cells
अधिकरण	Section (of a book)
अनुकरणात्मक (या अनुकरण-मूलक)	Onomatopoetic
अनुच्चरित	Silent
अनुनासिक	Nasalized
अनुपद	Chorus
अनेकाक्षरात्मक	Polysyllabic
अन्तःस्था	Semivowel
अन्वय	Agreement
अपवाद	Exception

अप्रयुक्त (या लुप्त)	Obsolete
अभिनिधान	Elision
अयोगात्मक	Isolating
अल्पप्राण (या निरूष्म वर्ण)	Unaspirate
अवान्तर श्रुति	Transitional sound
अव्यक्त (अवर्णात्मक या ध्वन्यात्मक) शब्द	Inarticulate sound
असाक्षात्	Indirect
आड़ा	Horizontal
आदर्शरूप	Typical
आदिकालीन या आदिम	Primitive
आनुषङ्गिक	Accidental
उच्च-(या दक्षिणीय) जर्मन	High German
उच्चारणसंबन्धी विकार (या परिवर्तन)	Phonetic change
उच्चारणसंबन्धी (या वर्णविषयक) विचार	Phonology
उच्चारणसंबन्धी ह्रास	Phonetic decay
उच्चारणोपयोगी शरीरावयव (या बोलने के स्थान, स्थान)	Vocal organs
उद्देश्य	Object
उद्धृत शब्द	Loan or Borrowed word

उपचयात्मक (या संचयात्मक)	Agglomerating
उपपरिवार	Subfamily
उपसर्ग	Preposition
ऊष्मा	Spirant
एकता (या तादात्म्य)	Identity
एकाक्षर, एकाक्षरात्मक	Monosyllabic
एकान्ततः	Absolutely
ऐतिहासिक क्रम	Chronology
ओष्ठ्य	Labial
कड़ा तालु	Hard palate
कण्ठपिटक(टेंटुआ या स्वरयन्त्र)	Larynx
कण्ठमूलीय	Glottal
कण्ठ्य	Velar (or Guttural)
कम्पन	Vibration
कला	Art
काग (=गले का 'कौआ')	Uvula
काल	Tense
कीलकाक्षर	Cuneiform (or wedge-shaped) letters
केन्द्रस्थ(या आभ्यन्तरप्रदेशस्थ) भाषा = पश्चिमी हिन्दी	Language of the Mid-land
केवल-ग्रहण	Simple apprehension

कोमल तालु (या कण्ठ)	Soft palate
कोष्ठक	Table
क्रिया-प्रकार	Mood
खण्ड (या पैरा)	Paragraph
खण्डकाव्य	Lyrics
खुदा हुआ लेख	Inscription
गूढ विचार	Abstract idea
घर्षक वर्ण	Fricatives
चित्रलिपि (या चित्रमय अक्षर)	Hieroglyphics
चिन्तन (या सोचना)	Thought
चिन्तनाणुवाद्	Atomism of thought
जटिल या (संकीर्ण)	Complicated
तन्तु	Fibre
तर्कशास्त्र	Logic
तारा का चिह्न (*)	Asterisk
तालव्य	Palatal
तिङन्त-प्रकरण (या धातुओं के रूप)	Conjugation
तिब्बत-बर्मीय	Tibeto-Burman
तुलना	Comparison
तुलनात्मक	Comparative

त्रिवर्णात्मक	Triliteral
दन्तोष्ठ्य	Labio-dental
दन्त्य	Dental
'द्वितीय वर्ण-परिवर्तन'	Second sound-shifting
द्व्यक्षरात्मक	Dissyllabic
धर्मशास्त्री (या व्यवहारज्ञ)	Lawyer
धातु	Root
धातु-अवस्था	Root-stage
ध्वनि (अव्यक्त या अवर्णात्मक शब्द)	Inarticulate sound
नव-विधान	New Testament
नाद	Voice
नासिक्य	Nasal
निम्न-(या उत्तरीय) जर्मन	Low German
नियम	Law
निरीक्षण	Observation
निर्णय	Reasoning
निर्वचन (निकास या व्युत्पत्ति)	Derivation
निश्चयात्मक विज्ञान	Exact science
नैसर्गिक प्रवृत्ति	Instinct
पदार्थ (या प्रमेय)	Phenomenon, Fact
परिणामी अंश (= प्रत्यय)	Modifying element

परिष्कृत (या 'संस्कृत') भाषा, या शिष्ट-भाषा	Refined language or language of the cultured
पारिवारिक(या उत्पत्ति-मूलक) वर्गीकरण	Genetic classification
पुराण-विज्ञान	Science of Mythology
प्रकार	Kind
प्रक्रिया	Method
प्रतीक (या संकेत)	Symbol
प्रत्यय	Suffix, Termination
'प्रथम वर्ण-परिवर्तन'	First sound-shifting
प्रधान भाषा	Standard language
प्राचीन ढंग की (या प्राचीन-लक्षण-संपन्न) भाषा	Archaic language
प्राचीन परिष्कृत (या उत्कृष्ट) साहित्यिक भाषा	Classical language
प्राचीन-विधान	Old Testament
प्रादेशिक (या प्रान्तीय) भाषा (या बोली)	Dialect
प्रश्वास	Expiration
फेफड़े	Lungs

बर्त्स्य (अशुद्ध पाठ 'वत्स्र्य" दे० पृ० २४२)	Alveolar or Post-dental
बाह्य-प्रदेशस्थ भाषायें (= मराठी, बंगला आदि)	Outer languages
बहु-भाषा-ज्ञानी (या बहु भाषा-भाषी)	Polyglot
बहु-संश्लेषणात्मक (या बहु-संमिश्रणात्मक)	Polysynthetic
भारत-ईरानी (मूल-) भाषा	The Indo-Iranian language
भारत-ईरानी (या आर्य-) भाषायें	Indo-Iranian (or Aryan) languages
भारत-चीनी	Indo-Chinese
भारत-जर्मनीय	Indo-Germanic
भारत-यूरोपीय (मूल-) भाषा	The Indo-European (mother) language
भारतीय आर्य-भाषा-वर्ग	Indo-aryan languages
भाव (विचार, प्रत्यय या वृत्ति)	Idea
भाव (या मनोराग)	Emotion
भाषा	Language
भाषा-परिवार	Family of languages

भाषाविज्ञान	Science of Language, Philology
भाषा-विज्ञानी	Philologit
भूगर्भ-विद्या	Geology
भौतिक आधार	Physical basis
भौतिक-पदार्थ-विज्ञान	Physics
मत-विज्ञान	Science of Religion
मध्यवर्ती (या अवान्तरवर्ती) भाषायें (= गुजराती, पंजाबी आदि)	Intermediate languages
मन (या बुद्धि)	Mind
मनुष्य-जाति-विज्ञान	Ethnology
मनोराग-व्यञ्जक-शब्द-मूलकता-वाद (या-मूलक सिद्धान्त)	Interjectional theory
महाप्राण	Aspirate
मात्रा	Degree
मानस-शास्त्र (या मनोविज्ञान)	Psychology
मानसिक आधार	Psychological basis
मानसिक प्रतिमा	Mental image
मानसिक व्यापार (या क्रिया)	Mental process
मानसिक शब्दसंस्कार	Mental sound-record

मिथ्या-सादृश्य	False analogy
मूर्धन्य	Cerebral
मूल-तत्त्व	Ultimate element
मूल-भाषा	Original, Parent or Mother language
मौलिक अंश (प्रकृति या धातु)	Radical element
यादृच्छिक	Arbitrary
योगात्मक	Agglutinative
रचना (या बनावट)	Structure
राज्य-(या राज-) भाषा	Official language
लिखितवर्णानुपूर्वी (हिज्जे, वर्ण-विन्यास, या अक्षर-विन्यास)	Spelling
लेख-प्रणाली	System of writing
वनस्पति-विज्ञानी	Botanist
वर्ग	Group
वर्गीकरण	Classification
वर्ण	Alphabetic sound
वर्ण-विकार-संबन्धी नियम	Phonetic law
वर्ण-विज्ञान	Phonetics
वर्ण-विषयक (या उच्चारण-संबन्धी) विचार	Phonology
वर्णात्मक (या व्यक्त) शब्द	Articulate sound

वाक्य-विचार (वाक्य-रचना-विचार या वाक्य-विन्यास)	Syntax
वाक्यांश (या शब्द-समुदाय)	Phrase
वाच्य	Voice
वाणी	Speech
वाद (या सिद्धान्त)	Theory, Doctrine
वास्तु-विद्या	Architecture
विकास (या उन्नति)	Development, Evolution
विचार (या भाव)	Idea
'विचार' (या उद्देश्य-विधेयात्मक विचार)	Judgment
विचारों को साक्षात् रूप से प्रकट करने वाले लिखित संकेत (या विचार-चित्रणात्मक संकेत)	Ideographs
विज्ञान	Science
विद्या-संबन्धी पुनरुद्धार	'Renaissance'
विधेय	Predicate
विभक्ति	Inflexion
विभक्ति-युक्त	Inflexional
विभक्त्यर्थक अव्यय (=हिन्दी 'का', 'के' आदि के सदृश)	Post-position (or Preposition)

विवृत वर्ण	Open sound
विवृत्ति	Hiatus
विश्लेषण (विच्छेद, विवेचन या विभाग)	Analysis
विश्लेषणात्मक (या भेदात्मक)	Analytic
विस्मयादि-बोधक (या मनो-राग-व्यञ्जक) शब्द	Interjection
व्यञ्जन	Consonant
व्यतिरेक	Difference, Disagreement
व्यापक (या सामान्य) नियम	General law
व्यावहारिक(या उपयोग-परक)	Practical
व्युत्पत्ति (निर्वचन या निकास)	Derivation, Etymology
शब्द-संग्रह (-कोश,-भण्डार, या शब्दावलि)	Vocabulary
शब्द-रचना-(या शब्दाकृति-) मूलक वर्गीकरण	Morphological classification
शब्द-व्युत्पत्ति-(या प्रकृति-प्रत्यय-) विचार	Etymology
शब्दानुकरण-मूलकता-वाद (या अनुकरण-मूलक-सिद्धान्त)	Onomatopoetic theory

शरीर-विज्ञान	Physiology
शिष्ट (या शिक्षित वर्ग)	Cultured class
श्रावणी शिरा	Auditory nerve
श्वास	Breath
श्वास-नालिका	Wind-pipe
संयोजक क्रिया	Copula
संयोजक रेखा	Hyphen
संवृत वर्ण	Closed sound
संश्लेषणात्मक (या अभेदात्मक)	Synthetic
संसार-भाषा	World language
संस्कृति	Culture
संस्था	Institution
सघोष(घोष,नादभागी, नादानुप्रदान या 'कोमल')	Sonant, Voiced, Soft
संध्यक्षर	Diphthong
समकालीन	Contemporary
समाज-शास्त्र	Sociology
समानाक्षर	Monophthong
समानाकार (या समानश्रुति) पर भिन्नार्थक शब्द	Homophone
समानार्थक	Synonymous

संमिश्रणात्मक	Amalgamating
सर्वसाधारण की (या प्राकृत) भाषा, या बोलचाल की भाषा	Vernacular
सहकारी	Auxiliary
साक्षात्	Direct
सांकेतिक	Conventional (or Symbolical)
सांकेतिक (या हस्तादिचेष्टात्मक) भाषा	Gesture language
सादृश्य	Analogy
साधारण भाषा	'Koine' or Common language
सामान्य (या व्यापक) नियम	General law
सामान्यात्मक विचार(या भाव)	Concept or General idea
सार्थक अंश (=प्रकृति)	Significant element
साहित्य-संपन्न (या साहित्यिक) भाषा	Literary language
सिद्धान्त	Principle, Theory, View
सुबन्त-प्रकरण	Declension
सोष्म वर्ण	Aspirate
स्थानीय बोली (या भाषा)	Local dialect

स्थिति-स्थापक (या खिंचकर सिकुड़ जाने वाला)	Elastic
स्पर्श वर्ण	Stop (or Check)
स्फोटक वर्ण	Explosive
स्फोटनरूप शब्द (या सशब्द स्फोटन)	Explosion
स्वतन्त्र चरमावयव (या चरम व्यक्ति)	Unit
स्वर	Vowel
स्वर (या लहजा)	Accent, Tone, Intonation
स्वर-तन्त्रियाँ	Vocal chords
स्वरात्मक	Syllabic
साधक या रूप-साधक अंश (या प्रत्यय)	Formative element

हिंदी-संसार की अपूर्व पुस्तक

तुलनात्मक भाषा-शास्त्र

अथवा

भाषा-विज्ञान

पर

सुप्रसिद्ध और विशेषज्ञ विद्वानों की कुछ संमतियाँ

१. भाषा-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् स्व० प्रो० ए० सी० वुलनर, एम० ए० (ऑक्सन), प्रिंसिपल, ओरियेण्टल कालेज, लाहौर, तथा वाइसचांसलर, पंजाब यूनिवर्सिटी—

डा० मङ्गलदेव शास्त्री हिन्दी जानने वाले पाठकों के सम्मुख तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के विषय को प्रथम बार उपस्थित कर रहे हैं यह देख कर मुझे प्रसन्नता है। ....भाषा-शास्त्र से परिचित होना विशिष्ट विद्वानों के ही लिये नहीं किन्तु साधारण शिक्षितों के लिये भी उपयोगी है। डा० शास्त्री ने इस विषय को हिन्दी में प्रथम बार उपस्थित कर बड़ा उपकार किया है। पुस्तक में विषय-प्रतिपादन की प्रणाली एक विशेषज्ञ विद्वान् के योग्य

होने के साथ साथ सुबोध भी है। मैं समझता हूँ हिंदी भाषा में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के व्यापक सिद्धान्तों के प्रतिपादन करने का यह पहला ही प्रयत्न है।

२. डा० श्री भगवान्दास, एम० ए०, डी० लिट०, बनारस—

मैंने...पुस्तक को आद्योपान्त देखा। पुस्तक रुचिकर, सुपाठ्य, सुबोध, ज्ञानवर्धक, बहुत उत्तम है। भाषा-शास्त्र के प्रायः सभी विषयों का गरुड़ावलोकन इसमें किया है।... जिन लोगों ने केवल संस्कृत का 'व्याकरण' देखा है, अथवा 'शिक्षा' और 'निरुक्त' पर भी ध्यान दिया है, उनके लिये इस ग्रन्थ में बुद्धि-विकास, उदारतावृद्धि, और संकोचह्रास की सामग्री है।...इसमें पृथ्वीमण्डल की भूत और वर्तमान सैकड़ों मानवजातियों की सैकड़ों भाषाओं की उत्पत्ति और लय की चर्चा की है, और उनका कई मुख्य परिवारों में राशीकरण दिखाया है।...मैं आशा करता हूँ कि इस पुस्तक का हिन्दी पढ़नेवालों में भी तथा संस्कृत के विद्वानों में भी अच्छा प्रचार होगा। और कालेजों के पाठक्रम में इसका समावेश किया जावेगा।

३. महामहोपाध्याय डा० गङ्गानाथ झा, वाइस-चांसलर, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी—

......पुस्तक के लिखने की शैली श्लाघनीय है।......

आपकी पुस्तक हमारे छात्रों की शिक्षा में निश्चय करके उपयोगी होगी।

४. डा० हरिचन्द्र शास्त्री, डी० लिट० (पैरिस), आदि, सुपरिंटेंडेण्ट ऑफ़ संस्कृत स्टडीज़, बिहार और उड़ीसा—

आपकी अत्यन्त महत्त्वयुक्त पुस्तक 'भाषा-विज्ञान' को मैंने बड़ी रुचि से पढ़ा। एक ऐसी प्रशंसनीय पुस्तक की रचना पर, जिसकी आवश्यकता भारतवर्ष में सर्वत्र अधिक अनुभव की जा रही थी, मुझे आपको अवश्य बधाई देनी चाहिये। यह पुस्तक हिंदी और संस्कृत के उच्च योग्यता के विद्यार्थियों के लिये निःसन्देह अत्यधिक उपयोगी होगी। पुस्तक में भिन्न भिन्न सिद्धान्तों की आधारभूत सामग्री को इतनी अच्छी तरह से रक्खा गया है और उसके लिखने की शैली भी इतनी स्पष्ट और सुबोध है कि इसके ग्रन्थकर्त्ता को अवश्य ही यश की प्राप्ति होगी। पुस्तक दीर्घकालीन खोज के बाद बड़े परिश्रम से लिखी गई है। हिन्दी साहित्य के लिये यह एक अतीव मूल्यवान् उपहार है।

५. महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज, एम० ए०, प्रिंसिपल, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस, और सुपरिंटेंडेण्ट ऑफ़ संस्कृत स्टडीज़, संयुक्तप्रान्त—

..... हिन्दी साहित्य की एक बड़ी कमी को इसने पूरा किया है। तुलनात्मक भाषा-शास्त्र के अध्ययन में रुचि

रखने वाले यूनिवर्सिटी के तथा अन्य छात्रों के लिये भी इस विषय में प्रवेश कराने के लिये यह एक महत्त्व-युक्त पुस्तक सिद्ध होगी। यह एक प्रशंसनीय पुस्तक है और इस योग्य है कि इसका अत्यधिक प्रचार हो।

६. डा० लक्ष्मणस्वरूप, एम० ए०, डी० फ़िल० (ऑक्सन), यूनिवर्सिटी प्रोफ़ेसर ऑफ़ संस्कृत, लाहौर—

......हिन्दी में इस विषय (तुलनात्मक भाषा-शास्त्र) पर यह पहली ही पुस्तक है। एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता चिरकाल से अनुभव की जा रही थी। इस आवश्यकता को पूरा करके आपने हिन्दी साहित्य का बड़ा उपकार किया है।

७. डा० धीरेन्द्र वर्मा, एम० ए०, डी० लिट० (पैरिस), अध्यक्ष, हिन्दीविभाग, प्रयाग-विश्वविद्यालय—

......गत चार पाँच वर्षों से मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी की बी० ए० तथा एम० ए० की कक्षाओं में भाषा-विज्ञान का विषय पढ़ाता रहा हूँ। मेरा निज का अनुभव यह है कि भाषा-शास्त्र के समस्त मुख्य मुख्य अङ्गों का प्रतिपादन जितने स्पष्ट तथा सुबोध ढंग से डाक्टर मङ्गलदेव शास्त्री के भाषाविज्ञान में किया गया है वैसा हिन्दी में अभी किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं मिलता है। डाक्टर मङ्गलदेवशास्त्री का ग्रन्थ विद्यार्थी वर्ग तथा इस विषय से जानकारी प्राप्त करने के लिये उत्सुक हिन्दी-प्रेमियों के लिये अत्यन्त उपयुक्त है।......

८. प्रोफ़ेसर के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर, एम० ए०, अध्यक्ष, संस्कृत तथा हिन्दी विभाग, लखनऊ यूनिवर्सिटी।

....आपका ग्रन्थ भाषा-विकास के सिद्धान्तों और नियमों के विषय में बतौर सच्चे मार्गदर्शक के हिन्दी और संस्कृत के विद्यार्थियों और विशेषज्ञों के भी हाथ में दिया जा सकता है।

९. डा० ताराचन्द, एम० ए०, डी० फ़िल० (ऑक्सन), मन्त्री, हिन्दुस्तानी ऐकैडमी, प्रयाग।

....पुस्तक तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादन करनेवाली तथा उपयोगी है। मुझे विश्वास है कि यूनिवर्सिटियाँ इस पुस्तक का स्वागत करेंगी और विद्यार्थीगण इससे लाभ उठायेंगे।

१०. रायबहादुर पं० गङ्गाप्रसादजी, एम० ए०, रिटायर्ड चीफ़ जज और जुडिशल मेम्बर, टिहरी (गढ़वाल राज्य)।

...ग्रन्थ वैज्ञानिक ढंग से लिखा गया है...। इस शास्त्र पर भारतवासियों के लिये ऐसी उपयोगी पुस्तक अंगरेज़ी भाषा में भी नहीं देखी गई।...पुस्तक इस योग्य है कि इन (एम० ए० आदि) उच्चपरीक्षाओं की पाठविधि में रक्खी जावे।...साधारण लोग भी जिनको इस विषय में

रुचि हो पुस्तक को पढ़कर तुलनात्मक भाषाशास्त्र का ज्ञान-लाभ कर सकते हैं। आशा है कि हिन्दी के विद्वान् तथा यूनिवर्सिटी, गुरुकुल, हिन्दी-साहित्यसम्मेलन आदि के अधिकारीगण पुस्तक का उचित आदर करेंगे।

११. पं० पद्मसिंह शर्मा, सभापति, अष्टादश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन।

...श्रीयुत डा० मङ्गलदेव शास्त्री...ने 'भाषा-विज्ञान' पर पुस्तक लिखकर हिन्दी को गौरवान्वित किया है।

विशिष्ट पत्र-पत्रिकाओं की कुछ सम्मतियाँ :—

१. "सरस्वती" जनवरी १९२७—'भाषाविज्ञान' का प्रणयन...एक कृतविद्य लेखक के परिश्रम का फल है।... पुस्तक उच्च कोटि की है।...लेखक को रोचक ढंग से गंभीर विषय के समझाने में सफलता प्राप्त हुई है।... पुस्तकविश्वविद्यालयों तथा हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की उच्च परीक्षाओं में पाठ्य पुस्तक बना देने योग्य है।...

२. "प्रताप" १ मई १९२७—हिन्दीभाषा में इस ढंग से पुस्तक लिखने का प्रयास बहुत कम लोगों ने किया है। लेखक महाशय... की आलोचना और तुलना बड़े ही शास्त्रीय विवेचन से पूर्ण है।...पुस्तक बड़े अनुसन्धान के पश्चात् लिखी गई है।...हिन्दीसाहित्य के सर्वोच्च ग्रन्थों में इसको स्थान मिलना चाहिये।